

समर्पण एवं श्री रामनन्दिनी ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित प्रथम पुष्प

श्री कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन

लेखिका

डॉ. ममता जैन

उदयपुर

प्रकाशक

समर्पण

18, आदिनाथ कॉलोनी, केशवनगर, उदयपुर (राज.)

मो. 91 9414103492

- प्रथम संस्करण** : 1000 प्रतियाँ
(तीर्थधाम सिद्धायतन पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर, 5 फरवरी से 11 फरवरी 2008)
- द्वितीय संस्करण** : 1000 प्रतियाँ [52वाँ शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर सिद्धायतन, द्रोणगिरि (दिनांक 20 मई से 6 जून 2018) के अवसर पर]

- प्राप्ति स्थान** : शाश्वतधाम, उदयपुर (राज.),
मो. 91-9414103492
: श्री अमित जैन डीटीडीसी, दिल्ली
मो. 91-9811393356
: श्री दिनेश शास्त्री, जयपुर
मो. 91-9928517346

साहित्य प्रकाशन हेतु सहयोग राशि : 125/-

- मुद्रक** : देशना (दिनेश) कम्प्यूटर्स
मालवीया इण्डस्ट्रियल एरिया, जयपुर
मो. 9928517346

प्रकाशकीय

अभी तक 'समर्पण' द्वारा प्रकाशित साहित्य पाठकों के बीच भरपूर पसन्द किया गया। एतदर्थ लेखकों/पाठकों/अर्थ सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद।

'समर्पण' के प्रथम पुष्प के रूप में डॉ. ममता जैन, उदयपुर द्वारा लिखित शोध प्रबंध 'श्री कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन' का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। आशा है पाठक इस संस्करण का भी पूर्व की भांति आनन्द लेंगे।

'समर्पण' द्वारा प्रकाशित साहित्य के प्रकाशन सहयोग हेतु पाठकों द्वारा अधिकांश अर्थ सहयोग पहले ही प्राप्त हो जाता है, अतः अधिकतर साहित्य 'जो चाहो ले जाओ, जो चाहो दे जाओ' के आधार पर जाता है। अनेक साधर्मी अधिक संख्या में साहित्य लेते हैं तो सहयोग राशि भी प्रदान करते हैं, वह राशि जिन प्रकाशनों में सहयोग कम आता है, उनके प्रकाशन में व्यय हो जाती है।

तीन वर्ष की अल्पावधि में 24 पुष्प प्रकाशित होना एवं उनका समाप्त होना हमारे लिए एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा 51 हजार रुपये की राशि देकर संबल प्रदान किया, तदर्थ कोटिशः धन्यवाद। अन्य सहयोगियों के नाम भी यथास्थान प्रकाशित किये जा रहे हैं। समर्पण परिवार की ओर से सभी को धन्यवाद।

पुस्तक के आकर्षक मुद्रण हेतु श्री दिनेश जैन-देशना कम्प्यूटर्स जयपुर को भी साधुवाद देते हैं, जो कम समय में हमारी इच्छानुसार प्रकाशन में सहयोग प्रदान करते हैं।

आप पुस्तक पढ़कर जो भी आपके भाव हों, वह 9414103492 पर अवश्य ही सूचित करें। धन्यवाद।

निवेदक : 'समर्पण' चैरिटेबल ट्रस्ट, उदयपुर

मनोगत

साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं अपितु पथ-प्रदर्शक भी है। हिन्दी में गद्य-पद्य की अनेक विधाओं में साहित्य का सृजन होता रहा है, जो साहित्य मानव समाज के इतिहास को आलोकित करता हुआ उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में सदैव सहभागी रहा है। साहित्य मात्र भौतिक जीवन को ही संस्कारित नहीं करता अपितु वैचारिक व आध्यात्मिक जीवन को भी नई दिशा प्रदान करता है।

हिन्दी साहित्य में दार्शनिक मनीषियों ने अपने द्वारा लिखित साहित्य अथवा प्रवचन साहित्य द्वारा अध्यात्म-पिपासु पाठकों की पिपासा को शान्त करने के लिए पर्याप्त अमृत-जल उपलब्ध कराया है। उन्हीं मनीषियों में से एक हैं - आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी; जिनका प्रवचन-साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। जिन्होंने भक्ति, नीति, वैराग्य, अध्यात्म आदि विषयों को समाहित करते हुए 45 वर्षों तक नियमित प्रवचन किये हैं। सन् 1999 में कानजी स्वामी की साधना स्थली सोनगढ़ जाने का सौभाग्य मिला, तभी यह शोध प्रबन्ध लिखने की भावना हुई।

प्रस्तुत शोध प्रबंध के विषयभूत आध्यात्मसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रति सर्वप्रथम मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनके प्रवचन साहित्य को पढ़कर एवं जिनकी ओजस्वी, वैराग्यरस से भीगी वाणी (कैसेट के माध्यम से) सुनकर मैं उनसे ही नहीं, अपितु परम वीतराग देव शासन नायक भगवान महावीर व उनके सिद्धान्तों तथा उन सिद्धान्तों पर चलने वाले निर्ग्रन्थ मुनिराज के सम्यक् स्वरूप को समझ सकी। सम्पूर्ण जैन शासन के आधार देव-शास्त्र-गुरु हैं, मैं उनके पावन चरणों में सविनय नतमस्तक हूँ।

शोधकार्य में ब्र. सुमतप्रकाश खनियांधाना, पं. देवेन्द्रकुमारजी बिजौलियाँ ने प्रारम्भ से ही प्रत्यक्ष अपना मार्गदर्शन प्रदान किया एतदर्थ मैं उनकी आभारी हूँ, साथ ही इस शोधकार्य में अपना बहुमूल्य समय प्रदान कर जिन्होंने सहयोग प्रदान किया डॉ. उदयचन्दजी जैन, डॉ. श्रीयांश सिंघई, श्री जीवन्धर जेतावत, श्री पीयूष शास्त्री, श्री संजय शाह, श्री मनीष कहान ने भी

समय-समय पर उचित परामर्श दिया और मेरे नित्य प्रेरक पं. अशोककुमार लुहाड़िया की हृदय से आभारी हूँ।

पूज्य पिताजी श्री चन्द्रभान जैन व भाईसाहब श्री अशोककुमार जैन तथा श्री महीपाल ज्ञायक एवं समस्त परिवार बांसवाड़ा के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनके आशीर्वाद, स्नेह व उत्साहवर्धन से यह शोधकार्य करने की इच्छा पूर्ण हो सकी है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर हिन्दी के पूर्व विभागाध्यक्ष डॉ. पृथ्वीराज मालीवाल के कुशल निर्देशन में लिखा गया है। उनके ही अमूल्य मार्गदर्शन व सहयोग से यह कार्य सम्पादित हो सका तथा यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाश्य है - एतदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मैं अपनी सासू श्रीमती नन्दिनीबाई का आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने अस्वस्थ रहते हुए भी गृहकार्य में सहयोग करके मुझे इस शोध-प्रबन्ध लिखने में सहयोग प्रदान किया। मैं अपने पति पं. राजकुमार जैनदर्शनाचार्य की भी आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे इस शोध-प्रबंध को पूर्ण करने में किसी भी भी प्रकार का व्यवधान नहीं दिया एवं निराबाधा यह कार्य करने में सहयोग किया। मैं अपने बच्चों अगम जैन एवं विपाशा जैन के उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूँ, जिनका समय मैंने छीनकर इस कार्य में लगाया है।

शोध प्रबंध के अत्यन्त श्रम-साध्य टंकण कार्य को सम्पादित करने वाले गणतंत्र जैन 'ओजस्वी' का भी आभार व्यक्त करती हूँ।

अन्त में मैं अपने सभी विद्यार्थियों, शुभचिन्तकों, मार्गदर्शकों, प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

मेरे इस लघु प्रयास से अध्यात्म युगदृष्टा श्री कानजी स्वामी का हिन्दी प्रवचन साहित्य में अवदान आदि रेखांकित किया जा सका तो मैं अपना प्रयास सार्थक समझूँगी।

दिनांक : 26.1.2008

- (श्रीमती) डॉ. ममता जैन,
उदयपुर (राज.)

प्रस्तावना

श्री वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा उद्घाटित त्रैकालिक सत्य वस्तुस्वरूप का अविरल प्रवाह भावलिंगी सन्तों एवं तदमार्गानुसारी ज्ञानी-धर्मात्माओं की पावन परम्परा से आज तक जीवन्त है एवं हमें निरन्तर भव-ताप से बचने की पावन प्रेरणा प्रदान कर रहा है।

ज्ञानी धर्मात्माओं की इसी परम्परा की एक कड़ी है, हमारे जीवन शिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी। कानजी स्वामी एक ऐसे व्यक्तित्व का नाम है, जिन्होंने अपनी कलम से कुछ न लिखकर भी मात्र अपने उपदेशों से एक आध्यात्मिक क्रान्ति का शंखनाद किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री का व्यक्तित्व असाधारण है। उन्होंने सनातन सत्य से बहुत दूर जन्म लेकर भी स्वयं बुद्धत्व की तरह सत्य को न केवल प्राप्त किया, अपितु उसका ऐसा व्यापक प्रचार-प्रसार किया कि जिससे असत्य का कागजी हवामहल ध्वस्त हो गया।

गुरुदेवश्री के जीवन एवं उससे प्राप्त बोध का मार्मिक चित्रण बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' ने इसप्रकार किया है -

“सौराष्ट्र के उमराला ग्राम में जन्में उजमबा एवं मोती के ये लाल बाल्यकाल से ही विरक्त चित्त थे और एकमात्र ज्ञान एवं वैराग्य के प्रकरण ही उन्हें पसन्द थे। अपनी उदात्त लोकोत्तर आकांक्षाओं के समक्ष उन्हें कामिनी का माधुर्य परास्त नहीं कर सका, फलस्वरूप किसी भी मूल्य पर वे उसे जीवन में स्वीकार करने को सहमत नहीं हुए। अन्तर में भोगों से विरक्ति बढ़ती ही गई और अन्त में 24 वर्ष की भरी जवानी में वे स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। दीक्षा के नियमानुसार घर-बार, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति सब छूट ही गये और दीक्षा के आचार का भी दृढ़ता से पालन होने लगा, किन्तु शान्ति की हूक शान्त नहीं हुई, शोध की प्रेरणा प्रशान्त नहीं हुई और अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहा। अतः अधिक समय तक वह प्रतिबन्ध सहन न हो सका और एक दिन (वि.सं.1991) मस्त-मतंग की तरह उसे भी छोड़कर चल दिये एवं तत्त्व की मस्ती में घूमते श्री कानजी स्वामी का स्वर्णपुरी (सोनगढ़) सहज ही विश्राम-स्थल बन गया।

श्री कानजी स्वामी के जीवन का यह स्थल सर्वाधिक मार्मिक, स्तुत्य, लोक-मांगल्यविधायक एवं वरेण्य है, जहाँ उन्होंने जीवन के सबसे भयंकर शत्रु मताग्रह को खुली चुनौती दी और अन्त में विजयी हुए। जीवन में गृह-कुटुम्ब, कंचन-कामिनी, पद एवं प्रतिष्ठा सभी कुछ तो छूट जाते हैं; किन्तु महान् ऋषि, मुनि एवं मनीषियों का बौद्धिक धरातल इस मताग्रह के प्रचण्ड पाश से मुक्त नहीं हो पाता। फलस्वरूप दृष्टि निष्पक्ष नहीं हो पाती और असंख्य प्रयत्नों में भी सत्य आत्मसात् नहीं होता।

श्री कानजी स्वामी इस युग के एक शुद्ध आध्यात्मिक क्रान्तिदृष्टा पुरुष हैं। उन्होंने जिस क्रान्ति का सूत्रपात किया, ऐसी क्रान्ति पहले शताब्दियों में भी नहीं हुई। जैन-लोक-जीवन की श्वांसें, रूढ़ि, अन्धविश्वास, पाखण्ड एवं कोरे कर्मकाण्ड की कारा में घुट रही थीं। इसके आगे धर्म कोई वस्तु ही नहीं रह गया था। इन महापुरुष ने शुद्ध जिनागम का मन्थन कर इन जीवन-विरोधी तत्त्वों को अधर्म घोषित किया और इस निकृष्ट युग में शुद्ध आत्मधर्म की प्राण-प्रतिष्ठा की। उन्होंने जन-जीवन को एक सूत्र दिया, स्वावलम्बन अर्थात् निज शुद्ध चैतन्यसत्ता का अवलम्बन ही धर्म है। परावलम्बन में धर्म अथवा शान्ति घोषित करने वाली सभी पद्धतियाँ अधर्म हैं, फलस्वरूप विश्वसनीय नहीं हैं।

जिस समय भारत वसुधा पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का अवतरण हुआ, उस समय भी आध्यात्मिक चिन्तन का रिवाज तो था, किन्तु उस चिन्तन में अध्यात्म नहीं था। आध्यात्मिक चिन्तन का यह स्वरूप हो चला था कि आत्मा को कहा तो शुद्ध जाता था, किन्तु वास्तव में माना अशुद्ध जाता था अथवा यदि शुद्ध माना भी जाता था तो आगम भाषा के दासत्व के कारण शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध माना जाता था और व्यवहार से अशुद्ध। इसतरह श्रद्धा के लिए कोई धरती ही नहीं रह गई थी और दो नयों की चक्की में घुन की तरह पिसकर आत्मा की मट्टी पलीत हो रही थी। बड़े से बड़े विचारक, महान प्रतिभाएँ, त्याग और वैराग्य के आदर्श, नय की इस चक्रीयता में इसतरह मुग्ध थे कि न तो उसमें से निकलने का मन था और न सामने कोई रास्ता। सौराष्ट्र के इस सन्त ने जंगलों के निर्जनों में समयसार एवं मोक्षमार्ग प्रकाशक जैसे परमागमों का गम्भीर अवगाहन कर इस आध्यात्मिक समस्या का सरलतम समाधान प्रस्तुत किया।

इन महापुरुष का अन्तर जैसा उज्ज्वल है, बाह्य भी वैसा ही पवित्र है। उनकी अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्त्विक एकरूप एवं परिमित आहार, आगम सम्मत सत्य सम्भाषण, करुण एवं सुकोमल हृदय उनके विरले व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। उनकी दिनचर्या इतनी नियमित एवं संयमित है कि एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता। 'समयं गोयम म पमायए' की वीरवाणी उनके जीवन में अक्षरशः चरितार्थ हुई है। शुद्धात्मतत्त्व का अविराम चिन्तन एवं स्वाध्याय ही उनका जीवन है। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति वे सदैव सतर्क एवं सावधान हैं। उसका उल्लंघन उन्हें सह्य नहीं है। उनके जीवन का प्रत्येक स्थल अनुकरणीय है। निश्चित ही वे इस जगत् के वैभव हैं और युग उन्हें पाकर गौरवान्वित हुआ है।''

- (चैतन्य विहार, पृष्ठ 12 से 14 एवं 30 से 40)

गुरुदेवश्री का व्यक्तित्व विराट समुद्र के समान अथाह है, उसका सर्वांगीण मूल्यांकन हम मन्दबुद्धियों द्वारा किया जाना संभव नहीं है।

गुरुदेवश्री ने अपने पैंतालीस वर्षीय अध्यात्म जीवन में शुद्धात्मस्वरूप का बोध कराने वाले जो मुक्ता-मोती बांटे हैं, उसने इस जगत को अज्ञानरूप दरिद्रता से परिमुक्त कर दिया है। उनके द्वारा प्रदत्त आध्यात्मिक विवेचन के संदर्भ में बाबूजी के निम्न आचार दृष्टव्य हैं -

'' श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का तो विशद विवेचन श्री कानजी स्वामी की वाणी में हुआ ही है, किन्तु साथ ही जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्त निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान एवं आर्हत्-दर्शन का प्राण अनेकान्त आदि का जो अत्यन्त प्रामाणिक, आगम-सम्मत एवं सतर्क प्रतिपादन हुआ है, वह चित्त को चकित कर देता है। सम्भवतः जैनदर्शन का आधारभूत कोई सिद्धान्त ऐसा नहीं है, जिसमें उनके ज्ञान एवं वाणी का व्यवसाय नहीं हुआ हो। अध्यात्म का ऐसा सांगोपांग एवं व्यापक विवेचन तो शताब्दियों में नहीं हुआ। उनकी प्रज्ञा ने अज्ञान की जड़ें हिला दी हैं। तीर्थंकरों एवं वीतराग सन्तों के हृदय मर्म खोलकर उन्होंने हमें तीर्थंकरों के युग तक पहुँचा दिया है। उनकी प्रज्ञा ने आगम के गम्भीर रहस्यों की थाह लेकर जो मर्म निकाले हैं, वह इस युग का एक आश्चर्य-सा लगता है। वाणी का यह कमाल कि पैंतालीस वर्ष के धारावाहिक प्रवचनों में कहीं भी पूर्वापर विरोध नहीं है।

उनके प्रवचनों में कल्पनातीत आध्यात्मिक साहित्य का सृजन हुआ है। शाश्वत शान्ति के विधि-विधानों से भरे उनके आध्यात्मिक साहित्य ने भारतीय साहित्य का शीश विश्व में ऊँचा किया है। वह साहित्य युग-युग तक शान्ति के पिपासुओं को सच्ची शान्ति का दिशा-निर्देशन करता रहेगा। उन्होंने जिस आध्यात्मिक क्रान्ति को जन्म दिया है, उसने युग के प्राण मौत के मुँह से निकाल दिये। आज जन-जन के श्वास-प्रश्वास में अमरत्व का संचार होने लगा है। आज के त्रस्त जन-जीवन को उनकी वाणी में सही राह एवं राहत मिली है। अतः निष्पक्ष दृष्टि से श्री कानजी स्वामी का युग भारतीय इतिहास एवं श्रमण संस्कृति का निश्चित ही एक स्वर्ण युग होगा। उन्होंने भारतीय इतिहास में एक बेजोड़ अध्याय जोड़ा है। वे उस क्रान्ति के उन्नायक महामानव हैं, जिनका जन्म रक्त में नहीं विरक्त में होता है। जिस क्रान्ति के उदय में आत्मा क्लान्ति का नहीं, वरन् मंगलमय शान्ति का संवेदन करता है। लक्ष-लक्ष मानवों ने उनकी इस शान्तिवाहिनी क्रान्ति का समर्थन किया है और उसके सत्य को परख कर उसमें दीक्षित हुए हैं। आज लोक का यह स्वर कि 'यदि यह मुक्तिदूत नहीं होता तो हमारी क्या दशा होती ?' लोक हृदय की सच्ची अभिव्यंजना है। निस्संदेह श्री कानजी स्वामी लोक-मांगल्य की प्रतिष्ठा करनेवाले एक लोकदृष्टा एवं लोकसृष्ट्य युगपुरुष हैं।''

— (चैतन्य विहार, पृ. 39-40)

उनके द्वारा प्रदत्त यह अमूल्य धरोहर आज हमें कैसेट्स एवं सी.डी. के माध्यम से तो उपलब्ध है ही, उनके प्रवचनों के सैंकड़ों ग्रन्थ प्रकाशित होकर हमारे अज्ञानतिमिर के प्रक्षालन का निमित्त बने हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन उनकी इसी धरोहर को समर्पित है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध की लेखिका डॉ. ममता जैन ने इस ग्रन्थ में अपनी सम्पूर्ण शक्ति एवं सामर्थ्य से गुरुदेवश्री की इस अमूल्य धरोहर का अनुशीलन प्रस्तुत कर एक ऐतिहासिक कार्य किया है। इससे शोधार्थियों को इस दिशा में और भी कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होगी। इसका कारण यह है कि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रत्येक प्रवचन ग्रन्थ पर ही नहीं, अपितु प्रत्येक प्रवचन पर एक शोध-प्रबंध समर्पित किया जा सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन में अध्यात्म, सिद्धान्त, वैराग्य, मार्गदर्शन, भक्ति, आत्मार्थता का ऐसा अद्भुत समन्वय होता है कि आत्महितैषी जीव के लिए उनका एक प्रवचन ही नहीं अपितु प्रवचन का एक वाक्य भी सम्यग्दर्शन का, भव के अन्त का निमित्त बन सकता है।

अतः निश्चित ही इस निधि का अनुशीलन अपेक्षित था, जिसमें डॉ. ममता जैन ने अत्यन्त श्रमपूर्वक साकार किया है।

सम्पूर्ण शोध प्रबंध आठ अध्यायों में समायोजित किया गया है, जिनका संक्षिप्त परिचय इसप्रकार है -

पहले अध्याय में पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी का व्यक्तित्व एवं अवदान शीर्षक के अंतर्गत उनकी जीवन गाथा, व्यक्तित्व की विशेषताएँ, बाल्यावस्था से लेकर श्वेताम्बर दीक्षा तत्पश्चात् समयसार की प्राप्ति एवं दिगम्बर मत में उनका आगमन इत्यादि विषयों के परिचय के साथ-साथ साहित्य एवं धार्मिक अवदान पर समुचित प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अध्याय में श्रमण संघ परम्परा और कानजी स्वामी इस शीर्षक से तीर्थंकर परम्परा आचार्य एवं ज्ञानी परम्परा पर प्रकाश डालते हुए यह तथ्य भलीभाँति सिद्ध किया गया है कि पूज्य गुरुदेवश्री इसी परम्परा के साधक-आराधक प्रचारक थे, किसी नये मत के संस्थापक नहीं।

इसी अध्याय में जैनधर्म के दिगम्बर-श्वेताम्बरादि सम्प्रदाय एवं उनके साहित्य पर भी प्रकाश डालते हुए उसमें कानजी स्वामी के योगदान को चित्रित किया गया है।

तीसरे अध्याय में श्री कानजी स्वामी द्वारा जिन मूल ग्रन्थों पर प्रवचन गंगा बहायी गयी है, उन ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस अधिकार से पाठकवर्ग कानजी स्वामी के विशाल स्वाध्याय से परिचित होता हुआ अपने इस भ्रम का प्रक्षालन कर लेता है कि कानजी स्वामी तो मात्र समयसार ही पढ़ते हैं।

चौथे अध्याय में कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का विविध दृष्टियों से वर्गीकरण प्रस्तुत कर उनके बहुआयामी व्यक्तित्व को उभारने का सफल प्रयास हुआ है।

पाँचवें अध्याय में कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का दार्शनिक

मूल्यांकन प्रस्तुत कर इस बात को उभारने में लेखिका सफल रही हैं कि कानजी स्वामी का प्रवचन साहित्य सर्वांगीण है। उसमें जैनधर्म एवं दर्शन के समस्त आत्महितकारी विषयों का समावेश हो जाता है। अतः श्री कानजी स्वामी मात्र एकान्त पक्षपाती हैं – इस मिथ्या मान्यता का कोई आधार नहीं है। सत्य तो यह है कि पूज्य गुरुदेवश्री निश्चय-व्यवहार के सुमेलयुक्त जीवन एवं प्रतिपादन की जीवन्त मूर्ति थे।

छठवें अध्याय में कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का आध्यात्मिक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। इसके अंतर्गत आत्मा का स्वरूप एवं आत्मोपलब्धि के साधनों का सजीव निरूपण पाठक के हृदय में आत्महित की प्रेरणा जागृत करता है।

सातवें अध्याय में कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य की भाषा शैली पर प्रकाश डालते हुए भाषा की दृष्टि से भी उसकी समृद्धता को सिद्ध किया गया है।

अन्तिम **आठवें अध्याय में** कानजी स्वामी की हिन्दी प्रवचन साहित्य को देन – इस शीर्षक से साहित्य की विविध विधाओं में इस साहित्य की देन को सिद्ध किया गया है और अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थ सूची इत्यादि देकर इस शोध प्रबंध को पूर्ण किया गया है।

सम्पूर्ण शोध-प्रबंध के सूक्ष्म अवलोकन से यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि इस कार्य में लेखिका ने अथक परिश्रम किया है। उनके इस प्रयास का मैं भी प्रत्यक्षदृष्टा रहा हूँ। अतः यह कहने में मुझे कोई अतिशयोक्ति नहीं लगती कि गुरुदेवश्री के सम्पूर्ण साहित्य का सम्यक् अनुशीलन करनेवाला यह प्रथम शोध-प्रबंध है।

मैं, लेखिका डॉ. ममता जैन के उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हुए इस महत्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने के लिए हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

सभी पाठक इस ग्रन्थ का अध्ययन कर, इसमें जिन जीवनशिल्पी गुरुदेवश्री के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन किया गया है, उस प्रवचन साहित्य में अवगाहन कर निज हित साधें – इसी भावना से विराम लेता हूँ।

तीर्थधाम मंगलायतन

14 दिसम्बर 2007

- देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ (राज.)

समर्पण चैरिटेबल ट्रस्ट

एक परिचय

देव-धर्म-गुरु के चरणों में, तन-मन-धन सब अर्पण।

आतमहित व तत्त्वज्ञान को, है सर्वस्व समर्पण॥

ट्रस्ट का नाम - समर्पण चैरिटेबल ट्रस्ट

स्थापना तिथि - 20 सितम्बर 2014

ट्रस्ट मण्डल -

संरक्षक - 1. श्री अजित जैन बड़ौदा, 2. श्री कन्हैयालाल दलावत, 3. श्री ताराचन्द जैन उदयपुर, 4. श्री प्रकाशचन्द छाबड़ा सूरत, 5. श्री ललितकुमार किकावत लूणदा।

अध्यक्ष - राजकुमार शास्त्री उदयपुर, **उपाध्यक्ष** - अजितकुमार शास्त्री अलवर, **कोषाध्यक्ष** - रमेशचन्द वालावत उदयपुर, **मंत्री** - डॉ. ममता जैन उदयपुर, **सहमंत्री** - पीयूष शास्त्री जयपुर, **ट्रस्टी** - पण्डित अशोकुमार लुहाड़िया तीर्थधाम मंगलायतन अलीगढ़, ऋषभकुमार शास्त्री छिन्दवाड़ा, डॉ. महेश जैन भोपाल, रतनचन्द शास्त्री कोटा।

ट्रस्ट की सामान्य रूपरेखा

उद्देश्य -

1. तत्त्वज्ञान, अहिंसा, शाकाहार, सदाचार का प्रचार करना।
2. सामाजिक विकृतियों के विरुद्ध जागरूकता पैदा करना।
3. अनुपलब्ध, आवश्यक व नये लेखकों का श्रेष्ठ साहित्य प्रकाशित करना।
4. सर्वोपयोगी पत्रिका प्रकाशित करना।
5. चिकित्सा व शिक्षा के क्षेत्र में प्राप्त सहयोग को वितरित करना।

कार्य पद्धति -

1. सबसे सहयोग-सबको सहयोग की भावना से साधर्मियों से प्राप्त सहयोग साहित्य/चिकित्सा/शिक्षा पर आवश्यकतानुसार वितरित करना। हमारा

प्रयास होगा कि फण्ड बनाने की अपेक्षा प्रतिवर्ष प्राप्त सहयोग को उसी वर्ष वितरित कर दिया जाये।

2. व्यक्ति या संस्था के नाम के लिए नहीं, पर काम के लिए काम।

3. सर्वोपयोगी (अपनी समझ के अनुसार) योजना को सबके समक्ष रखना, यदि सहयोग प्राप्त हुआ हो तो उस योजना/कार्य को करना, नहीं तो..... ?

3. अच्छी बातें-सच्ची बातें (अर्थात् शाश्वत सत्य) ज्यादातर लोगों तक पहुँचे, ऐसा प्रयास करना।

गतिविधि -

1. साहित्य प्रकाशन,
2. **संस्कार सुधा** मासिक पत्रिका का प्रकाशन,
3. **स्नातकों द्वारा स्नातकों के लिए शिक्षा चिकित्सा सहायता योजना**,
4. साधर्मि वात्सल्य योजना - साधर्मियों से स्वैच्छिक सहयोग लेकर योग्य साधर्मियों को शिक्षा/चिकित्सा सहयोग पहुँचाना।

निवेदन - यदि आप हमारे विचारों से सहमत हों, तो आप भी आर्थिक सहयोग प्रदान कर या अपनी सहमति देकर हमारा उत्साहवर्धन कर सकते हैं।

हमारा उद्देश्य कुछ अलग ढंग से समाज में जागरूकता लाना व सहयोग करना है। आपके सुझाव व सहयोग सदैव अपेक्षित हैं। आप जब, जो, जैसे कर सकते हैं, आत्महित व समाजहित में जरूर कीजिए। बस यही अनुरोध है।

निवेदक :

**समस्त ट्रस्ट मण्डल, समर्पण चेरीटेबल ट्रस्ट,
उदयपुर (राजस्थान)**

आप अपनी सहयोग राशि '**समर्पण चेरीटेबल ट्रस्ट**' के नाम से, पंजाब नेशनल बैंक, पंचशील मार्ग, उदयपुर के खाता क्रमांक 0458000100404840 में जमा करा सकते हैं।

IFSC Code - PUNB 0045800

अनुक्रमणिका

1. प्रथम अध्याय

21-65

कानजी स्वामी का व्यक्तित्व एवं अवदान

1.1. व्यक्तित्व परिचय

- 1.1.1. प्रस्तावना
- 1.1.2. परिवेश
- 1.1.3. जन्म
- 1.1.4. परिवार
- 1.1.5. नामकरण
- 1.1.6. संस्कारार्जन
- 1.1.7. विद्यारम्भ
- 1.1.8. व्यवसाय
- 1.1.9. जीवन में नाटकों का प्रभाव
- 1.1.10. वैराग्य उद्भव
- 1.1.11. गुरु हीराचन्द का प्रभाव
- 1.1.12. श्रमण दीक्षा (स्थानकवासी सम्प्रदाय)
- 1.1.13. श्रमण जीवन का प्रथम चरण
- 1.1.14. “समयसार” का प्रभाव
- 1.1.15. “मोक्षमार्ग प्रकाशक” का प्रभाव
- 1.1.16. मतपरिवर्तन
- 1.1.17. उपलब्धि
- 1.1.18. देहावसान

1.2 साहित्यिक अवदान

- 1.2.1. मूलग्रन्थों का प्रकाशन
- 1.2.2. प्रवचन साहित्य का प्रकाशन
- 1.2.3. पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन

1.3. धार्मिक अवदान

- 1.3.1. दिगम्बर धर्म का प्रचार-प्रसार
- 1.3.2. जिनमन्दिर निर्माण
- 1.3.3. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा
- 1.3.4. वेदी प्रतिष्ठा
- 1.3.5. शिक्षण-शिविर का आयोजन

(xiv)

- 1.3.6. तत्त्वप्रचार हेतु देश-विदेश में भ्रमण
- 1.3.7. जनमानस पर कानजीस्वामी का प्रभाव

1.4. निष्कर्ष

2. द्वितीय अध्याय

66-116

श्रमण संघ परम्परा और कानजी स्वामी

2.1. श्रमण संघ परम्परा

- 2.1.1. श्रमण का स्वरूप एवं इतिहास
- 2.1.2. तीर्थंकर परम्परा
- 2.1.3. आचार्य परम्परा
- 2.1.4. विद्वत् परम्परा एवं कानजी स्वामी

2.2. प्रमुख सम्प्रदाय

- 2.2.1. दिगम्बर सम्प्रदाय
- 2.2.2. श्वेताम्बर सम्प्रदाय
- 2.2.3. दिगंबर एवं श्वेतांबर सम्प्रदाय : कानजी स्वामी की दृष्टि में

2.3. श्रमण परम्परा का आध्यात्मिक साहित्य एवं विशेषताएँ

- 2.3.1. श्रमण साहित्य का स्वरूप एवं विभाजन
- 2.3.2. श्रमण साहित्य की विशेषताएँ
- 2.3.3. श्रमण परंपरा के साहित्य में कानजी स्वामी का योगदान (आध्यात्मिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में)

2.4. निष्कर्ष

3. तृतीय अध्याय

117-165

कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य के प्रमुख मूल आधार ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

3.1. प्रवचन साहित्य का उद्भव एवं विकास

3.2. कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य के प्रमुख मूल आधार ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

- 3.2.1. समयसार
- 3.2.2. प्रवचनसार
- 3.2.3. नियमसार
- 3.2.4. पंचास्तिकाय संग्रह
- 3.2.5. अष्टपाहुड़

(xv)

- 3.2.6. कार्तिकेयानुप्रेक्षा
- 3.2.7. बृहद्द्रव्यसंग्रह
- 3.2.8. पुरुषार्थसिद्धि उपाय
- 3.2.9. योगसार
- 3.2.10. परमात्मप्रकाश
- 3.2.11. समाधितन्त्र
- 3.2.12. पद्मनन्दि पंचविंशतिका
- 3.2.13. इष्टोपदेश
- 3.2.14. भक्तामर स्तोत्र
- 3.2.15. विषापहार स्तोत्र
- 3.2.16. समयसार कलश टीका
- 3.2.17. समयसार नाटक
- 3.2.18. मोक्षमार्ग प्रकाशक
- 3.2.19. छहदाला
- 3.2.20. अनुभवप्रकाश
- 3.2.21. अन्य ग्रन्थ

3.3 निष्कर्ष

4. चतुर्थ अध्याय

166-283

कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का वर्गीकरण

- 4.1. प्रवचन साहित्य का स्वरूप
- 4.2. कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का वर्गीकरण
 - 4.2.1. विषय की दृष्टि से वर्गीकरण
 - 4.2.1.1. अध्यात्म प्रधान प्रवचन साहित्य
 - 4.2.1.2. चरित्र प्रधान प्रवचन साहित्य
 - 4.2.1.3. भक्ति प्रधान प्रवचन साहित्य
 - 4.2.1.4. वैराग्य प्रधान प्रवचन साहित्य
 - 4.2.1.5. प्रासंगिक प्रवचन साहित्य
 - 4.2.1.6. वचनामृत प्रवचन साहित्य
 - 4.2.1.7. विविध प्रवचन साहित्य
 - 4.2.2. भाषा की दृष्टि से वर्गीकरण

(xvi)

- 4.2.2.1. गुजराती भाषा में रचित प्रवचन साहित्य
- 4.2.2.2. अनूदित प्रवचन साहित्य
 - हिन्दी भाषा में अनूदित प्रवचन साहित्य
 - मराठी भाषा में अनूदित प्रवचन साहित्य
 - अंग्रेजी भाषा में अनूदित प्रवचन साहित्य

4.2.3. शैली की दृष्टि से वर्गीकरण

- 4.2.3.1. विषय मीमांसक प्रवचन साहित्य
- 4.2.3.2. सूत्रात्मक प्रवचन साहित्य
- 4.2.3.3. भाष्यात्मक प्रवचन साहित्य
- 4.2.3.4. टीकात्मक प्रवचन साहित्य
- 4.2.3.5. उपदेशात्मक प्रवचन साहित्य
- 4.2.3.6. प्रश्नोत्तरात्मक प्रवचन साहित्य

4.3. निष्कर्ष

5. पंचम अध्याय

284-354

कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का दार्शनिक मूल्यांकन

- 5.1. भारतीय दार्शनिक साहित्य की परम्परा
- 5.2. भारतीय दर्शनों का वैशिष्ट्य
- 5.3. जैनदर्शन साहित्य की प्रवचन परम्परा
- 5.4. कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य के मूल दार्शनिक सिद्धान्त
 - 5.4.1. तत्त्व-मीमांसा
 - 1. सात तत्त्व
 - 2. छह द्रव्य
 - 3. आत्मा-परमात्मा
 - 5.4.2. ज्ञान-मीमांसा
 - 1. प्रमाण
 - 2. नय
 - 3. अनेकान्त
 - 4. स्याद्वाद
 - 5.4.3. कर्म-मीमांसा
 - 1. कर्मबन्ध प्रक्रिया
 - 2. अहिंसा
 - 5.4.4. अन्य दार्शनिक सिद्धान्त

(xvii)

1. वस्तु स्वातन्त्र्य
2. निमित्त-उपादान
3. क्रमबद्धपर्याय

5.5. भारतीय दर्शनों का समीक्षात्मक अध्ययन - कानजी स्वामी की दृष्टि में

5.6. निष्कर्ष

6. षष्ठम अध्याय

355-401

कानजीस्वामी के प्रवचन साहित्य का आध्यात्मिक मूल्यांकन

6.1. आत्मा का स्वरूप

6.2. आत्मोपलब्धि के साधन

6.2.1. स्वाध्याय

6.2.2. तत्त्वविचार

6.2.3. भेद-विज्ञान

6.2.4. ध्यान (स्वरूप एवं भेद)

6.2.5. आत्मानुभव

6.3. आत्मिक सुख (मोक्ष सुख) : स्वरूप एवं उपाय

6.3.1. आत्मिक सुख का स्वरूप

6.3.2. आत्मिक सुख के साधन

6.3.2.1. सम्यग्दर्शन स्वरूप एवं वैशिष्ट्य

6.3.2.2. सम्यग्ज्ञान स्वरूप एवं वैशिष्ट्य

6.3.2.3. सम्यक्चारित्र्य स्वरूप एवं वैशिष्ट्य

6.4. निष्कर्ष

7. सप्तम अध्याय

402-429

प्रवचन साहित्य की भाषा-शैली

7.1. भाषा

7.1.1. भाषागत विशेषताएँ

7.1.1.1. शब्द-चयन

1. तत्सम शब्द

2. तद्भव शब्द

3. देशज शब्द

4. विदेशी शब्द

(xviii)

5. गुजराती शब्द

7.1.1.2. मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग

7.2. शैली

7.2.1. शैली की विशेषताएँ

7.2.2. शैली के विभिन्न रूप

1. अध्यात्म-शैली

2. प्रश्नोत्तर शैली

3. दृष्टान्त शैली

4. सूत्रात्मक शैली

5. व्याख्यान शैली

6. दार्शनिक शैली

7. उपदेशात्मक शैली

7.3. कारक और विभक्तियाँ

7.3.1. कर्त्ताकारक

7.3.2. कर्मकारक

7.3.3. करणकारक

7.3.4. सम्प्रदानकारक

7.3.5. अपादानकारक

7.3.6. सम्बन्धकारक

7.3.7. अधिकरणकारक

7.3.8. सम्बोधनकारक

7.4. निष्कर्ष

8. अष्टम अध्याय

430-443

कानजी स्वामी की हिन्दी जैन प्रवचन साहित्य को देन

8.1. कानजी स्वामी की हिन्दी जैन प्रवचन साहित्य को देन

8.1.1. गद्य साहित्य के विकास में

8.1.2. भावपक्ष को विस्तारित करने में

8.1.3. विवेचन शैली के प्रयोग में

8.1.4. प्रश्नोत्तर शैली के संवर्द्धन में

8.1.5. भाषा के प्रचार-प्रसार में

8.2. निष्कर्ष

9. अभिमत

444-452

प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में अर्थ सहयोगी

1. श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई	51000.00
2. पण्डित सिद्धार्थकुमारजी दोशी, रतलाम	2100.00
3. श्रीमती पुष्पलता जैन जीजीबाई ध.प. श्री अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	2100.00
4. पण्डित विपिनकुमारजी शास्त्री, मुम्बई	2000.00
5. श्री विद्या-सागर जैन, उदयपुर	2000.00
6. श्री अमित जैन डीटीडीसी, दिल्ली	2000.00
7. श्री नेमिचंद चंपालाल भोरावत चेरीटेबल ट्रस्ट, उदयपुर	1100.00
8. श्री कमल बोहरा, कोटा	1100.00
9. श्रीमती चंद्रप्रभा जैन ध.प. श्री शैलेश जैन, ललितपुर	1100.00
10. सीमाजी पाण्डया, अजमेर	1100.00
11. श्रीमती लता सत्येंद्र जैन, अकलतरा, छत्तीसगढ़	1100.00
12. श्रीमती शुभा डॉ. बाहुबली जैन, इन्दौर	1100.00
13. श्री अमितजी जैन 'अरिहंत', मझवरा	500.00

कानजी स्वामी का व्यक्तित्व एवं अवदान

1.1. व्यक्तित्व परिचय

1.1.1. प्रस्तावना

विश्व के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पटल पर भारत ही एकमात्र सूर्य है, जिसकी आभा से भारत के साथ-साथ अन्य देश भी संस्कारित हुए हैं। भारत की इस असीम धरोहर के संवर्धन एवं संरक्षण का श्रेय उन मनीषियों को जाता है जिन्होंने विविध शैलियों में विविध संस्कृतियों को उद्घाटित किया है। विविध संस्कृतियों के अविरल प्रवाह में जैन वाङ्मय की श्रमण संस्कृति का अमूल्य योगदान है।

श्रमण-संस्कृति में जैनदर्शन के अनादि-अनन्त तीर्थंकर विद्यमान हैं। भगवान महावीर के शासन काल में अनेक ऋषियों, महर्षियों ने जैन परम्परा को पल्लवित-पुष्पित करने में अपना अविस्मरणीय योगदान दिया है। भगवान महावीर के निर्वाणोपरान्त भी उनका उपदेश अद्यावधि मौखिक एवं लिखित दोनों ही विधाओं में प्रचारित, प्रसारित हो रहा है। ई. की पहली शताब्दी से ही प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं में मनीषी आचार्यों ने जैन सिद्धान्तों का अवबोधन कराते हुए समाज को मार्गदर्शन के उद्देश्य से जैन वाङ्मय का सृजन किया है। मुक्ति विषयक पुरुषार्थ की प्रेरणा हेतु इस जैन वाङ्मय का अपना विशिष्ट महत्त्व है; तथापि जैन वाङ्मय की पहिचान केवल इस परिधि में ही सीमित नहीं की जा सकती क्योंकि न केवल मानव जीवन का अपितु सर्वविध प्राणियों के जीवन का परिचय यहाँ उपलब्ध होता है। प्राणियों का जीवन अचेतन पदार्थों के उपयोग के बिना संभव नहीं है अतः मूर्तमान भौतिक पदार्थों की वास्तविकता का अवबोधन भी यहाँ परिलक्षित होता है।

ज्ञान-विज्ञान की ऐसी कोई विधा नहीं है, जिसकी विज्ञप्ति जैन-वाङ्मय से न होती हो। संयम के संस्कारों से ओतप्रोत अन्तर्मुखी ज्ञान चेतना के धनी जैनाचार्यों ने मानव जीवन को हिंसादि पापाचारों से बचाने का एवं वीतरागता के मार्ग पर चलाने का अपने-अपने समय में सूत्रपात किया है। उनके इस अभियान में जो वाङ्मय सृजित हुआ वह विपुल तो है ही गूढ़ और गंभीर भी है।

इस साहित्य का उद्बोधन भौतिकवादी भोगोन्मुखी संस्कारों में रहकर कर पाना संभव नहीं होता। अतः भौतिक प्रपंचों का दास बना समाज अपने क्षणिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु सन्मार्ग एवं सत्-साहित्य की उपेक्षा करने लगता है।

परिणामस्वरूप आध्यात्मिक एवं तथ्यपरक साहित्यिक व सांस्कृतिक धरोहर का पतन दृष्टिगत होने लगता है। यह प्रकृति का नियम भी है कि उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान का क्रम चलता रहता है। पतन से उत्थान की ओर समाज को ले जाने वाला कोई मनीषी जन्म अवश्य लेता है। वह पुराकाल से ही प्रचलित सिद्धान्तों को ही नई भाषा, नये परिवेश में लोगों को बताकर उनके अनुसरण की प्रेरणा देता है। इतिहास के गर्भ में ऐसे अनेकानेक ऋषि, महर्षि, विद्वान, कलाविद् हुए हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध के मूल कानजी स्वामी भी बीसवीं शताब्दी के एक ऐसे ही व्यक्ति हैं जिन्होंने भगवान महावीर के तथ्य-परक सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार आध्यात्मिक चेतना के रूप में किया है। सम्यक् मूल्यांकन से विमुख, अशिक्षा के अभिशाप से ग्रसित एवं क्रियाकाण्ड आदि अनुष्ठानों में धर्म स्वीकार करने वाले समाज को कण-कण की स्वतन्त्रता का शंखनाद करने वाले सिद्धान्तों का उद्बोधन देना कोई सरल काम नहीं है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता नहीं है, कोई किसी का बिगाड़-सुधार नहीं कर सकता, मात्र निमित्त होता है; परन्तु वह पर का कर्ता नहीं बनता। पर-कर्तृत्व का विकल्प दुखदायक है, भ्रामक है, धर्मसाधन तो

स्वाधीन पुरुषार्थ अर्थात् जो हो रहा है, उसके ज्ञाता-दृष्टा रहकर ही किया जा सकता है। यह संदेश देने वाले व्यक्ति का जन्म कहाँ ? कब हुआ ? वह कैसे परिवेश में रहा ? किन संघर्षों से जूझता रहा ? किन संस्कारों से आगे बढ़ता रहा ? कैसे उनके व्यक्तित्व की पहिचान बनी ? और उनका अवदान क्या है ? इसका विश्लेषण आवश्यक ही नहीं वरन् महत्वपूर्ण भी है -

1.1.2. परिवेश

जन्म से ही जन्म-स्थली के वातावरण का प्रभाव कानजी स्वामी पर पड़ना प्रारम्भ हो गया। वहाँ के लोगों में सत्यता-धार्मिकता की जो भावनायें थीं और सर्वत्र सदाचार का जो वातावरण था, उसका सम्पूर्ण प्रभाव उन पर पड़ा था। जिसके फलस्वरूप उनके जीवन में धार्मिकता, सत्यता, ईमानदारी, वात्सल्यता आदि गुण वहीं से प्रवेश कर गए थे। उनका परिवार भी धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत होने के कारण उनका सन्मार्गदर्शक और उनकी भावनाओं के अनुरूप सहयोगी बना।

गाँव में निरन्तर स्थानकवासी साधुओं का आगमन होने से वहाँ के लोगों का उनसे समागम होता रहा और उनकी रुचि धार्मिकता के मार्ग की ओर बढ़ती गयी। वहाँ के सम्पूर्ण वातावरण का प्रभाव कानजी स्वामी के जीवन में भी परिलक्षित हुआ।

1.1.3. जन्म

कानजी स्वामी का जन्म सौराष्ट्र प्रान्त के काठियावाड़ के छोटे से गाँव 'उमराला' जिला भावनगर में हुआ था। जो तीर्थधाम सोनगढ़ से लगभग 11 मील की दूरी पर स्थित है। उनका जन्म "विक्रम संवत् 1946 वैशाख सुदी दोज रविवार (21 अप्रैल सन् 1889) के शुभ दिन प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में दशा श्रीमाली वणिक और स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय में हुआ था।"¹

1. परिचय पुस्तिका (कानजी स्वामी), पृ. 4

उनके जीवन परिचय से सम्बन्धित पुस्तकों के अध्ययन करने पर यह पाया कि कानजी स्वामी का जन्म वैशाख सुदी दोज (रविवार) के दिन हुआ था। परन्तु वास्तव में कानजी स्वामी का जन्म सोमवार को हुआ था। इसकी पुष्टि के लिए “बॉम्बे जन्मभूमि पंचांग”¹ से इस तिथि के लिये सम्पर्क किया गया तो इस पंचांग के अनुसार जन्म सोमवार को आता है। अतः कानजी स्वामी का जन्म वैशाख सुदी दोज सोमवार को मानना उचित है।

1.1.4. परिवार

कानजी स्वामी को विरासत में साधारण सा परिवार मिला। जहाँ सामान्य परिस्थितियों में उनका बाल्यकाल बीता। “इनके पिताजी का नाम मोतीचन्द एवं माता का नाम उजम बा (बा शब्द माता के अर्थ में प्रयुक्त) बाई था। आप दशाश्रीमाली वणिक एवं स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय के थे। दादा पुरुषोत्तम कुँवरजी थे। जिनका मूल ग्राम गढ़डा था।”²

कानजी स्वामी सहित कुल पाँच भाई-बहिन थे। सबसे बड़े भाई दीपचन्द, दूसरे खुशालचन्द, तीसरे स्वयं कानजी स्वामी थे एवं चौथे मगनभाई थे और बहिन का नाम ‘हरि’ था। कानजी स्वामी अपने परिवार के साथ 13 वर्ष तक रहे किन्तु अल्पवय में ही कालचक्र ने अपना करिश्मा दिखाया और हरी-भरी बगिया को देखते ही देखते उजाड़ना आरम्भ कर दिया।

“जब कानजी स्वामी 13 वर्ष के थे तब वि. सं. 1959 (सन् 1902) में 48 वर्षीय माता का चिर वियोग हो गया। तथा मात्र 17 वर्ष की उम्र मात्र में वि.सं. 1963 (सन् 1906) में पिताजी (53 वर्ष) का देहान्त हो गया।”³

1. जन्मभूमि 100 वर्षनुं पंचांग जन्मभूमि पंचांग कार्यालय, पृ. 12

2. अध्यात्मदृष्टा (युगपुरुष कानजीस्वामी), पृ. 2

3. अध्यात्म युगसृष्टागुरुदेव श्री कानजी स्वामी, पृ. 7

1.1.5. नामकरण

वैशाख सुदी दोज को जिस होनहार बालक का जन्म हुआ उस भाग्यवान बालक का नामकरण एक बुद्धिमान ज्योतिषी ने बालक को बड़ा ही तेजस्वी और होनहार जानते हुए 'कानजी' नाम से करते हुए कहा कि यह कोई सामान्य बालक नहीं वरन् यह बड़ा होकर कोई अलौकिक महापुरुष होगा जो जनमानस को दिशाबोध देगा। कालान्तर में हुआ भी यही। बालक कहान 'कानजी स्वामी' के नाम से विख्यात हुए। कानजी के साथ लगा 'स्वामी' शब्द उनके ज्ञान और वैराग्यमय जीवन के साथ अनेक जीवों को सन्मार्ग-प्रेरक होने से स्वतः ही जुड़ गया।

“बचपन में घर के लोग इन्हें बड़े प्यार से 'पुई' कहकर पुकारते थे।”¹¹ क्योंकि उनका कोमल शरीर पोनी (रुई) के समान बिल्कुल सफेद (अत्यन्त गौरवर्णी) दिखता था। “किशोरावस्था से ही संसार से उदासीन वैराग्यमय प्रवृत्ति और अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्तियों में लगे होने से लोग उन्हें स्नेह के कारण 'भगतजी' के नाम से भी संबोधित करते थे।”¹² “बहुत सुन्दर होने के कारण लोग उन्हें मढम कहते थे। (मढम शब्द गुजराती है।)”¹³ लोग इन्हें प्यार से 'कानु' भी कहते थे तथा इनसे प्रभावित हुए लोग इन्हें 'कहान' नाम से सम्बोधित करने लगे।

इसी के साथ युगपुरुष, सत्पुरुष, अध्यात्मपुरुष, युगस्रष्टा आदि विशेषणों के द्वारा उनकी महानता बताने वाले नाम के साथ-साथ गुरुदेव और सद्गुरुदेव शब्द भी उनके नाम के पूर्व जुड़ते चले गये।

जैन आम्नाय में नग्न दिगम्बर निष्परिग्रही तथा आत्म चिन्तन में ही निरन्तर मग्न रहने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु ही गुरु कहे जाते हैं; परन्तु कानजी स्वामी श्वेताम्बर साधु होने से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में

1. व्यक्ति एवं व्यक्तित्व, पृ. 45

2. वही

3. वही

गुरु कहलाये। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय में विधिवत् किन्हीं आचार्य से परिवर्तित न होने पर भी परिवर्तित सम्प्रदाय के लोगों ने ही उन्हें गुरुदेव कहना प्रारम्भ किया परन्तु इस सम्बोधन पर विभिन्न संगठनों में हुए विवादों ने अपना असर दिखाया क्योंकि यह सम्बोधन जिनागम में मुनियों के लिये प्रयुक्त किया जाता रहा है।

इस सम्बोधन पर उत्पन्न हुए विवादों का शमन करने हेतु “गुरुदेव सम्बोधन” पर स्वयं कानजी स्वामी ने एक साक्षात्कार¹ में 1 मई 1976 को जो स्पष्टीकरण दिया उसका कुछ अंश इस प्रकार है -

प्रश्न - आपको लोग गुरुदेव कहते हैं पर क्या आप साधु हैं? गुरु तो साधु को कहते हैं।

उत्तर - साधु तो नग्न दिगम्बर छठवें सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलते भावलिंगी वीतरागी संत ही होते हैं। हम तो सामान्य श्रावक हैं साधु नहीं। हम तो साधुओं के दासानुदास हैं। देव-शास्त्र-गुरु वाले गुरु तो पंचपरमेष्ठी में आचार्य, उपाध्याय, साधु ही हैं। हमसे लोग अध्यात्म सुनते हैं, सीखते हैं, सो गुरुदेव कहते हैं। हम तो विद्यागुरु हैं।

प्रश्न - तो आपको गुरुदेव विद्यागुरु के अर्थ में कहा जाता है, देव-शास्त्र-गुरु के अर्थ में नहीं।

उत्तर - हाँ, हाँ यही बात है। भाई! हम तो कई बार कहते हैं कि वस्त्रादि रखे और अपने को देव-शास्त्र-गुरु वाला गुरु मनवावे, वह तो अज्ञानी है। अधिक हम क्या कहें! सच्चे गुरु तो नग्न दिगम्बर वीतरागी साधु ही होते हैं।

1.1.6. संस्कारार्जन

संस्कारों का प्रादुर्भाव बाल्यावस्था से ही होता है। माता शिशु की जन्मघूँटी में ही ऐसे शुभ संस्कार घोल देती है जिससे वही शिशु भविष्य

1. युगपुरुष कानजी स्वामी, पृ. 42-43

में संस्कारिक जीवन का निर्माण करता है तथा वह मानवीय गुणों से ओत-प्रोत हो जाता है।

यद्यपि कानजी स्वामी का परिवार मध्यमवर्गीय परिवार अवश्य था किन्तु माता-पिता एवं समाज से इन्हें जो संस्कारयुक्त धार्मिक और आध्यात्मिक वातावरण प्राप्त हुआ उससे इनके बचपन से ही सरल, सहज नैतिक और श्रम साध्य कर्तव्यों के प्रति सजगता के गुण स्वाभाविक रूप में विकसित होने लगे।

“बचपन से ही कहान के मुख पर वैराग्य की सौम्यता, आँखों में बुद्धि और वीर्य की प्रतिभा झलकती थी।”¹¹ वे उदास वृत्ति से कुशलतापूर्वक, ईमानदारी और पूरी प्रामाणिकता के साथ कार्य करते थे। कानजी स्वामी व्यापार आदि करते थे किन्तु उन्हें यह सब सुहाता नहीं था, अतः दुकान पर बैठे-बैठे ही वे वैराग्यप्रेरक और तत्त्वबोधक धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। संवत् 1965 में ‘कहान’ ने धार्मिक पुस्तक ‘अध्यात्म कल्पद्रुम’ का अध्ययन किया।

“वे धार्मिक ज्ञानवर्धक समाचार, अध्यात्म कल्पद्रुमसञ्ज्ञायमाला, जैन समाचार, धार्मिक पत्र-पत्रिकाएँ इत्यादि जीवनोपयोगी पुस्तकों का ही अध्ययन, मनन, चिन्तन करते रहते थे।”¹²

“कभी तो दुकान पर ग्राहक आकर कोई वस्तु माँगता किन्तु वह अपनी धुन में इतने तन्मय रहते कि ग्राहक की बात ही नहीं सुनते। मानो कोई खोज में खो रहे हों और अन्तस्थल को टटोल रहे हों।”¹³

इसतरह कहान कुमार का मन घर में रहते हुए भी घर से बाहर था। घर परिवार तथा लौकिक सम्पदा का उन्हें जरा भी मोह नहीं था। निर्मोही और स्वतन्त्रतापूर्ण जीवन जीने की चाहत मन में सतत बनी ही रहती थी। उनके अन्दर का झुकाव सदा धर्म और सत्य की खोज के प्रति ही था।

1. आत्मधर्म (सातिशय प्रभावना योग), पृ. 2

2. आत्मधर्म जन्मजयन्ती विशेषांक, पृ. 19

3. आत्मधर्म, सं. शशिकान्त मनसुखलाल सेठ, पृ. 4

1.1.7. विद्यारम्भ

कानजी मेधावी, प्रतिभा सम्पन्न तथा सदा अध्ययन मनन चिंतन में ही अपना समय सार्थक करने वाले बुद्धिमान बालक थे। उनकी प्रारंभिक शिक्षा तो 'उमराला' गाँव में ही हुई। वे उमराला ग्राम में 7 वर्ष की आयु में प्राथमिक शाला धूलिशाला में दाखिल हुए।

धूलिशाला में सबसे पहले दिन गुरुजी ने 'सिद्धोवर्णसमाम्नायः'¹ का पाठ पढ़ाया जिसका अर्थ है वर्ण-उच्चारण की परम्परा स्वयंसिद्ध है। जिसे कानजी स्वामी ने एक बार में याद कर लिया जो कि उनके बुद्धि-कौशल का परिचायक है।

“तेरह वर्ष की आयु में कानजी स्वामी कक्षा छठवीं तक ही विद्यालय में पढ़े। परन्तु परीक्षा पाँचवी तक दी और उत्तीर्ण हुए और परिस्थितिवशात् छठी कक्षा की परीक्षा न दे सके।”²

उमराला में ही 'जैन उपाश्रय' या 'थानक' नाम से जैन पाठशाला में भी पढ़ने जाते थे। “विद्यालय और जैन शाला में वे तेजस्वी विद्यार्थी थे। वे वहाँ हमेशा परीक्षा में प्रथम रहते थे।”³

जब कानजी स्वामी तेरह वर्ष के थे तब वि.सं. 1959 (सन् 1903) उमराला गांव में प्लेग फैल गया। “प्लेग से बचाने के लिए कानजी को गारियाधर 'हरि' बहिन के यहाँ भेज दिया था।”⁴ उमराला को छोड़कर जब वह गारियाधर आए तब वहाँ उन्हें संस्कृत भाषा का अध्ययन स्थानीय अध्यापक द्वारा कराया गया और डेढ़ वर्ष तक संस्कृत का अध्ययन किया। एक बार कानजी ने शिक्षक से पूछा – “दश अष्टठाणा बराबर क्या – दस+आठ=अठारह या दसxआठ=अस्सी। शिक्षक ने

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 10

2. व्यक्ति एवं व्यक्तित्व, पृ. 47

3. अध्यात्मदृष्टा (युगपुरुष कानजी स्वामी), पृ. 05

4. रत्न चिन्तामणि महोत्सव, पृ. 01

कहा - मैं नहीं जानता, शास्त्रानुसार जो अर्थ हो वो समझना। तब कानजी के मन में विचार आया कि मात्र भाषा-ज्ञान से सच्चा ज्ञान नहीं होता। इसके लिए गुरुगम और शास्त्र का गहरा अभ्यास चाहिए। पढ़ने के लिए भाषा ज्ञान जरूरी है, पर समझने के लिए भाषा-ज्ञान जरूरी नहीं है। तभी से उन्हें शब्दज्ञान निरर्थक लगने लगा था।

1.1. 8. व्यवसाय

“कानजी स्वामी ने स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार इच्छा न होते हुए भी संवत् 1963 (सन् 1906) से संवत् 1968 (सन् 1911) तक व्यापार किया।”¹¹ तेरह वर्ष की आयु में कानजीस्वामी ने अपने बुआ के लड़के कुँवरजी भाई के साथ साझेदारी करके व्यापार किया तथा बाद में पालेज आ गये। पालेज में बड़े भाई खुशाल के साथ किराने की दुकान पर बैठने लगे। 16 वर्ष से 21 वर्ष तक पाँच वर्ष उन्होंने पालेज में व्यापार किया। व्यवसाय काल में उनमें सत्यता, सरलता, निर्भीकता तथा निर्दोषता दिखाई देती थी।

“एक बार की घटना है कि - वि.सं. 1963 (सन् 1906) में दीवाली के इनाम के तहत एक्साइज इंस्पेक्टर ने एक रुपया बख्शीश (इनाम) मांगी। कानजी ने एक रुपया न देकर 50 पैसे दिये। इस बात पर इंस्पेक्टर नाराज हो गया और कानजी के विरुद्ध अफीम का झूठा मुकदमा कर दिया, इसलिये कानजी को 17 वर्ष की अवस्था में बड़ौदा की कोर्ट में जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने समस्त सत्य को बड़े धैर्य और गंभीरता के साथ रखा।”¹²

सारी बात निर्भीकता से अदालत को बताई और “न्यायाधीश पर उनकी सरलता, सहजता और स्पष्टवादिता का ऐसा असर हुआ कि बिना किसी गवाह के ही उनकी बात को प्रमाण मानकर उनके पक्ष में निर्णय दे दिया।”¹³

16. अध्यात्मदृष्ट (युगपुरुष, कानजी स्वामी), पृ. 08

17. श्री कानजी स्वामी, पृ. 2

18. युगपुरुष कानजी स्वामी, पृ. 10

और वे मुकदमा जीत गये तथा सरकार से न्याय मिला कि मुकदमा झूठा है और मुकदमे के लिए जितना भी हरजाना हुआ है, वह तुम ले सकते हो।

जब वकील साहब ने कानजी स्वामी से कहा - तुम्हारी सच्चाई से हम मुकदमा जीत गये, धन्यवाद !।

तब कानजी स्वामी ने कहा- ' धन्यवाद क्यों ? ' न्यायालय में तो सच ही बोलना चाहिये। आप भी सत्य की पैरवी हमेशा करेंगे तो विजयी रहेंगे।

कानजी का मन व्यापारमय नहीं हुआ। उनकी आत्मा अन्दर से कुछ और ही खोज रही थी। कानजी स्वामी को सांसारिक देह-भोगों से विरक्ति और अध्यात्म रस के आस्वाद की लगन ही सदैव रहती थी। अतः व्यापार के बीच में भी वे सदैव स्वाध्याय और चिन्तन में ही मग्न रहा करते थे।

1.1.9. जीवन में नाटकों का प्रभाव

कानजी स्वामी के जीवन को नाटकों ने भी बहुत प्रभावित किया है।
 " कहान कुमार कभी-कभी नाटक देखने जाते थे। आश्चर्य की बात यह है कि नाटक शृंगार प्रधान होते थे। शृंगार प्रधान नाटक के बीच में से जो वैराग्य प्रेरक दृश्य होते थे, उनसे वे वैराग्य के भावों को ग्रहण करते थे, जिनकी उन पर गहरी छाप पड़ती थी और वह छाप कितने ही दिनों तक रहती थी। कभी-कभी तो नाटक देखकर आने के बाद पूरी रात वैराग्य की धुन रहती।"¹

उस समय नाटक संवाद की पुस्तक टिकिट के साथ-साथ मिलती थी। कानजी स्वामी नाटक देखने से पहले नाटक संवाद की पुस्तक खरीद लेते और उसे पढ़कर फिर नाटक देखने जाते, ताकि संवाद अच्छी तरह समझ में आ सके। और नाटक में क्या कहना चाहते हैं वह भाव ग्रहण हो सके। बाद में उन्होंने इसी पद्धति का अनुकरण किया। जब

1. अध्यात्मयुगसृष्टा गुरुदेवश्री कानजी स्वामी, पृ. 7

कानजी स्वामी प्रवचन करते, तब श्रोता भी शास्त्र हाथ में रखें ऐसा आग्रह करते थे; जिससे किस शब्द का क्या अर्थ है यह समझ में आ जावे।

वि.सं. 1963 (सन् 1907) में कानजी ने पालेज में उन्होंने 'राजा भर्तृहरि' नाटक देखा। उस नाटक में ऐसा आता है कि राजा को वैराग्य हो जाता है और साधु हो जाते हैं, फिर गाते हैं -

“देखा नहीं कुछ सार जगत में, देखा नहीं कुछ सार...।”

नाटक की यह पंक्ति कानजी के वैराग्य में कारण बनती है और उनको संसार असार लगने लगता है।

सन् 1907 में ही भावनगर में 'भक्त ध्रुव', भडुच में 'मीराबाई' नाटक देखा। 'मीराबाई' नाटक की पंक्ति ने कानजी स्वामी के मन को प्रभावित किया - “लगनी लगी म्हारा आत्मनी साथ - रागनां में जोड़ नहीं रे बाँधूँ।”

वि.सं. 1964 सन् 1908 में बड़ौदरा में 'सती अनुसुइया' नाटक देखा।”

जिसमें अनुसुइया अपने बेटे को झूला में झुलाती हुई कहती है -

“शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निरंजनोऽसि,
संसार - माया परिवर्जितोऽसि।
संसार स्वप्नं त्यज मोह निद्राम्,
मदालसा वाक्यं उवाच पुत्रम्॥”²

इसका अर्थ है 'बेटा तू शुद्ध है' ! बुद्ध है अर्थात् ज्ञानस्वरूपी है, अर्थात् राग रहित निर्विकल्प है ! उदासीन है ! तेरा आत्मा सारी दुनिया से भिन्न है। अतः शीघ्र ही आलस्य को छोड़कर मोह को त्यागो। इस प्रसंग को देखकर कानजी स्वामी विशेष प्रभावित हुए।

1. व्यक्ति एवं व्यक्तित्व, पृ. 51

2. आत्मप्रतीति विशेषांक, पृ. 2

नाटकों को देखकर उनका मन वैराग्य पोषक प्रकरणों में ही अधिक रमा करता था। जिसकी चर्चा वे बड़े ही भाव-विभोर होकर कभी-कभी अपने प्रवचनों में कहा करते थे।

“एक बार नाटक देखकर आने के बाद उसकी धुन में ‘शिवरमणी रमनार तुं, तुं ही देवनो देव’ इसका अर्थ है तू जगत में रमने वाला नहीं है अर्थात् तू तो शिव है अर्थात् मुक्तिरूपी रमणी में रमने वाला है और तू तो देवाधिदेव है, तीर्थंकर है, इसतरह सांसारिक प्रसंगों में भी वैराग्य भावना जागृत रहती थी। इन शब्दों से प्रारंभ होने वाला बारह कड़ी का एक काव्य रचना उन्होंने बनाई, जिसे डायरी में लिखा था।”¹ वह डायरी दुकान में रखी थी, जो तालाब फटने से बाढ़ में बह गई।

कानजी ने अपने मन में ऐसा विचार किया कि मुझे जगत के सब प्रपंचों से दूर रहकर आत्मानुभव प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। सांसारिक रस के प्रबल निमित्तों को भी महान आत्मायें वैराग्य का निमित्त बना लेती हैं।

1.1.10. वैराग्य का उद्भव

कानजी स्वामी के मन में वैराग्य तो छोटी उम्र से ही था। फिर नाटकों के वैराग्य-प्रेरक दृश्य के साथ-साथ उनके जीवन में अनेक प्रकार की घटनाएं घटित हुई, जिससे उनका मन संसार की असारता का अनुभव कर वैराग्य से भर गया।

एक दिन धूलिशाला से आने के बाद कानजी स्वामी ने अपनी माता से कहा “माँ, तुम समझती क्यों नहीं हो, मुझे जो चाहिये, वह इस पढ़ाई में नहीं है। माँ स्कूल में केवल व्यावहारिक ज्ञान ही मिलता है।”²

कानजी स्वामी अपने बड़े भाई से भी कहते थे कि देखो भाई! यह

1. श्री कानजी स्वामी, पृ. 2

2. रत्न चिन्तामणि महोत्सव, पृ. 1

संसार का मायाजाल मुझे किंचित् भी अच्छा नहीं लगता। मैं तो इसे छोड़ आत्मसाधना के उद्देश्य से जीवन व्यतीत करूँगा। ये बातें स्वयं कानजी स्वामी अपने प्रवचनों में बताते थे।

उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि कानजी स्वामी का जीवन पूर्ण वैराग्य रस से भरा हुआ था।

“वि.सं. 1957 (सन् 1990) 11 वर्ष की उम्र में एकबार जैनशाला की सीढ़ियों से उतरते समय सम्प्रदाय के एक साधु को वैराग्य की मस्त चाल से जाते हुये देखकर इस होनहार महापुरुष के हृदय पर गहरी छाप पड़ी तथा अन्तर्मन में ऐसा लगा कि ‘अहा! कैसी वैराग्य की धुन। झुके हुये नेत्रों के साथ कैसी मस्त चाल! नितान्त अकेले, कोई संगी-साथी नहीं, कैसी अवधूत दशा।’” इसप्रकार बचपन से वैरागी मस्त जीवन के प्रति उनका चित्त समर्पित हो चला था।

“युवावस्था में ही सगाई के संदेश आने पर उन्होंने अपने बड़े भाई से स्पष्ट कह दिया कि मुझे विवाह नहीं करना है। मेरी सगाई नहीं करना। मेरे आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा है मेरे और दीक्षा लेने के भाव हैं।”²

भाइयों एवं सगे संबंधियों के समझाने पर भी वैराग्य भीने चित्त पर कुछ असर नहीं पड़ा और कुमारावस्था अर्थात् 21 वर्ष की उम्र में आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा ले ली।

जब कानजी स्वामी 19 वर्ष के थे, तब उनके मन में विचार आया कि आम के साथ भोजन करेंगे। उन्होंने अचार का डिब्बा उठाया और जैसे ही डिब्बे का ढक्कन खोला तो देखा ‘अरे यह क्या? इसमें तो छोटे-छोटे जीव दिखाई दे रहे हैं। उसी क्षण जीवन पर्यन्त के लिये अचार न खाने का नियम ले लिया।

रात्रि में चतुर्विध आहार का त्याग तो छोटी उम्र से ही कर दिया था

1. अध्यात्म युगसृष्टा गुरुदेवश्री कानजी स्वामी, पृ. 6

2. परमपूज्य गुरुदेवश्री का सम्प्रदाय परिवर्तन, पृ. 1

क्योंकि उनके अंतरंग का झुकाव पारिवारिक दुनियादारी को छोड़कर अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति पर था – इसप्रकार कानजी स्वामी बाह्य आचरण के पालन में सन्नद्ध तो थे ही, साथ ही साथ दयागुण भी उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था।

सं. 1956 (सन् 1899) की बात है कि उमराला गाँव अकाल की चपेट में आ गया। न पशुओं के लिये चारा था और न ही पानी। भूख से व्याकुल पशुओं को देखकर कानजी स्वामी अत्यन्त करुणा से भर गये तथा इन प्राकृतिक आपदाओं को देखकर जीवन की क्षणभंगुरता का विचार करने लगे और नियमबद्धता, सत्यनिष्ठता, नैतिकता एवं प्रामाणिकता से भरी जवानी में वैराग्य ही पथ-प्रदर्शक बनने लगा और वैराग्य की तीव्र लगन लगने लगी।

कानजी स्वामी का जीवन मानो समतारस से ही भरा हुआ था, क्योंकि व्यापार में आने वाले उतार-चढ़ाव व अनेक प्रलोभनों के बावजूद उनका मन कुछ और ही प्राप्त करने में लगा रहता था, जिसके कारण वैराग्यमय प्रवृत्ति दृढ़ होती गई।

1.1.11. हीराचन्द का प्रभाव

सत्य की खोज और अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति की तड़फ में कानजी स्वामी ने दीक्षा लेने का निर्णय किया।

“उनके बड़े भाई खुशाल ने समझाया – कहान तुम कुछ भी करो हम नहीं रोकेंगे, पर दीक्षा मत लो। कानजी ने कहा – मैं निश्चय कर चुका हूँ।” अब तो काठियावाड़, गुजरात, मारवाड़ में गुरु की खोज करूँगा। उन्होंने योग्य गुरु के लिये बहुत खोज की। सौराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान में बहुत से साधुओं से मिले पर कहीं भी मन स्थिर नहीं हुआ। “अन्त में **बोटाद सम्प्रदाय** के स्थानकवासी साधु **श्री हीराचन्दजी**

महाराज के त्याग, वैराग्य, क्रिया, निःस्पृहता आदि सद्गुणों के प्रभाव से प्रभावित होकर उन्हीं की छत्र-छाया में दीक्षा लेने एवं साधना करने का निश्चय किया।¹¹

1.1.12. श्रमण दीक्षा (स्थानकवासी सम्प्रदाय)

“23 वर्ष 7 माह के उठते यौवन में ही कानजी ने वि.सं.1970 में मगसिर वदी 9 रविवार (7-12-1913) को स्थानकवासी जैन साधु श्री हीराचन्द महाराज से दीक्षा ले ली।”¹²

दीक्षा-महोत्सव उमराला ग्राम में बड़ी धूमधाम से मनाया गया। शोभायात्रा निकाली गई। शोभायात्रा में हाथी बल्लभीपुर से आया था, उस समय 1800 रुपये में हाथी किराये पर लिया था। “दीक्षा जुलूस में कानजी जैसे ही हाथी पर सवार होने को हुये कि दीक्षावस्त्र (धोती) का छोर उलझ कर फट गया।”¹³

अपशगुन की इस घटना से मानो कुदरत ने सूचित कर दिया कि तुम्हारा मार्ग वस्त्रसहित मुनिदशा का नहीं है। **सच्चा मार्ग तो दिगम्बर मुनिदशा है।** उसी मार्ग पर तुम्हें चलना है। सचमुच ऐसा ही हुआ। उस समय तो किसी की समझ में कुछ नहीं आया पर कानजी स्वामी ने विचार किया कि आगे सत्यधर्म की खोज करूँगा - ऐसा विचार चलते-चलते हर्षोल्लास से दीक्षाविधि सम्पन्न हुई।

इस बात को कानजी स्वामी अपने प्रवचनों में कहते थे कि ‘मुझे दीक्षा-जुलूस में ही शंका हो गई थी कि सच्चा साधुपना यह नहीं है, जो मैंने स्वीकार किया है। ‘**शायद वस्त्र सहित साधु होना ठीक नहीं है।**’

1. आत्मधर्म विशेषांक, पृ. 3

2. परिचय पुस्तिका (कानजी स्वामी), पृ. 5

3. व्यक्ति एवं व्यक्तित्व, पृष्ठ 52

1.1.13. श्रमण-जीवन का प्रथम चरण

दीक्षा विधि के पश्चात् कानजी स्वामी ने स्थानकवासी एवं श्वेताम्बर शास्त्रों का अध्ययन प्रारंभ किया। करीब चार वर्ष में उन्होंने अनेक शास्त्र पढ़े। “प्रसिद्ध स्थानकवासी ग्रन्थ ‘भगवती सूत्र’ का अध्ययन उन्होंने सत्रह बार किया,¹ जो कि एक लाख श्लोक प्रमाण है।

उसमें चार सज्ज्ञायमाला हैं। एक सज्ज्ञायमाला में 1 से 250 तक सज्ज्ञाय हैं। एक सज्ज्ञाय में 10 से 20 श्लोक होते थे, जिनका अध्ययन तो किया ही, साथ ही साथ 45 अन्य आगम ग्रन्थों का भी अध्ययन उन्होंने किया। उनके ज्ञान के साथ दृढ़ चारित्र की प्रसिद्धि सारे काठियावाड़ में फैल गई; क्योंकि वे सम्प्रदाय की रीति अनुसार चारित्र का दृढ़तापूर्वक पालन करते थे। कानजी स्वामी को काठियावाड़ का गौरव कहा जाने लगा। प्रारम्भ से ही वे तीव्र पुरुषार्थी थे। पुरुषार्थ ही उनका जीवन मंत्र था। पुरुषार्थहीन वचन उन्हें कदापि नहीं सुहाते थे। क्रमबद्ध और पुरुषार्थ एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, पर्यायवाची हैं। क्रमबद्ध को स्वीकार करना ही पुरुषार्थ है। प्रमादी जीव क्रमबद्ध को स्वीकार नहीं कर सकते; क्योंकि क्रमबद्ध को स्वीकार करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

यदि कोई उनसे कहता था कि – “चाहे जितने दृढ़ चारित्र का पालन करें, तथापि केवली भगवान ने यदि अनन्त भव देखे होंगे तो उनमें एक भी भव कम होने वाला नहीं है।” यह बात सुनते ही कानजी स्वामी तुरन्त बोल उठते कि – “जिसे पुरुषार्थ भाषित हुआ हो, उसके अनन्त भव केवली भगवान ने देखे ही नहीं हैं। पुरुषार्थी को भव स्थिति आदि कोई बाधक होता ही नहीं है, उसके तो पाँचों समवाय आ मिले हैं।”²

इस तरह कानजी स्वामी ने वि.सं.1991 (सन् 1934) तक स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहकर बोटाद, अमरेली, पोरबन्दर, राजकोट,

1. परमपूज्य गुरुदेव श्री का सम्प्रदाय परिवर्तन, पृ. 3

2. रत्न चिन्तामणि महोत्सव, पृ. 2

जामनगर आदि अनेक नगरों में चातुर्मास किया। सौराष्ट्र के हजारों लोग उनके प्रवचन सुनने आते थे और कानजी स्वामी के प्रति बहुमान प्रगट करते थे। श्वेताम्बर समाज एवं साधुवर्ग में उनकी प्रतिष्ठा खूब फैल गई। उनसे वार्तालाप कर बड़े-बड़े करोड़पति सेठ भी गौरव का अनुभव करते थे। कानजी स्वामी तत्त्व की बात अनेक न्याय-प्रमाणों से लोगों को समझाते थे। साधु-साध्वियों को तो उनकी अद्भुत प्रभावशाली और कल्याणकारी वाणी सुनने की हमेशा जिज्ञासा रहती थी।

साथ में रहने वाले साधुओं से चर्चा-वार्ता में एवं प्रत्येक कार्य करते समय उनका लक्ष्य सत्य की शोध के प्रति ही रहता था। आत्मशोधन के मार्ग में स्थानकवासी सम्प्रदाय के क्रियाकलाप भी उन्हें भार जैसे लगते थे ; क्योंकि कानजी स्वामी समय की उपयोगिता का इतना ध्यान रखते थे कि लोग उनकी दिनचर्या से घड़ी की सुइयाँ मिलाया करते थे।

स्थानकवासी सम्प्रदाय में कानजी स्वामी को लकड़ी के पात्र पर रंग करके सुखाना पड़ता था। कोई जीव चिपक न जाये, इसलिये वे हाथ हिलाते रहते थे; परन्तु 'अन्दर में उन्हें यह रुचता ही नहीं था। **आत्मसाधना के लिये मिला यह बहुमूल्य जीवन पात्र रगड़ने और कपड़े धोने में निकला जा रहा है।'**

यह बात उन्होंने अपने गुरु हीराचन्द महाराज से कही - 'महाराज ! इन वस्त्रपात्र के कार्यों में मुझे समय गँवाना अच्छा नहीं लगता है। स्वाध्याय छोड़कर इस कार्य को करने में बहुत समय नष्ट होता है। तब गुरुजी ने कहा - 'तुम्हें यह अच्छा नहीं लगता तो वस्त्र-पात्र रहित गुरु ढूँढ़ लो।'

यह सुनकर कानजी स्वामी के मन में अनेक विचार उत्पन्न होने लगे। उन्हें लगा कि जो मेरा प्राप्तव्य है, वह इसमें नहीं है। अभी तक उनको दिगम्बर गुरु का पता ही नहीं था और यहीं से उनकी खोज प्रारंभ हुई, जिसे वे इस जीवन में प्राप्त करना चाहते थे।

1.1.14. समयसार का प्रभाव

वि.सं. 1978 (सन् 1922) में महाभाग्य से कानजी स्वामी के जीवन में एक ऐसी घटना घटित हुई, जिससे उनका जीवन ही अलौकिक बन गया। दामनगर में एक स्थानकवासी श्रेष्ठी दामोदर सेठ थे। उनको शास्त्र रखने का बड़ा शौक था। वे सभी दर्शन के शास्त्र रखते थे। जिस समय कानजी स्वामी स्थानक साधु के वेश में दामोदर सेठ के घर गये, वहाँ सेठ ने विधि की किसी अन्य घड़ी में श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य आचार्यदेव प्रणीत 'समयसार' नामक महान दिगम्बर ग्रन्थ कानजी स्वामी के करकमलों में दिया।

जिसकी खोज में वे थे, उन्हें वह मिल गया। इस ग्रन्थ के मिलने पर उनका सारा जीवन समयसारमय हो गया और सहज ही अन्तरंग से स्वर उठा -

“आ तो अशरीरी थवानुं शास्त्र छे!!”

“अहो! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।”

अध्ययन के क्रम में जब कानजी स्वामी ने 'समयसार' ग्रंथ खोला तो सबसे पहले गाथा क्रमांक 6 का पृष्ठ सामने आया। उसमें लिखा था - 'शुद्धात्मा प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्था से रहित शुद्ध है।' यह पढ़ते ही कानजी स्वामी की खुशी का ठिकाना न रहा।

विधि के विधान में देर है अन्धेर नहीं। जिसको जिस लक्ष्य की प्राप्ति की सच्चे मन से चाहत होती है, तदनुसार सत् पुरुषार्थ करने पर वह लक्ष्य अवश्य ही मिलकर रहता है और कानजी स्वामी को अपने जीवन में वह सब कुछ मिल गया, जिसे वे पाना चाहते थे।

यद्यपि स्थानकवासी सम्प्रदाय में उनकी महान विद्वान, लोकप्रिय प्रवचनकार एवं कठोर साधु के रूप में प्रतिष्ठा थी, तथापि उन्होंने उस

प्रसिद्धि का लोभ नहीं किया और 'श्रीमद् रायचन्द्र एवं गणेशप्रसादजी वर्णी' की तरह वे निर्ग्रन्थ वीतराग धर्म के दृढ़ उपासक बन गये।¹

उनके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने वाला यह 'समयसार' शास्त्र जब उन्हें प्राप्त हुआ तो दिगम्बर शास्त्र होने के कारण संघ के अन्य लोगों को व्यवधान न हो; अतः समयसार शास्त्र को लेकर एकान्त जंगल में चले गये। वे उसके पढ़ने में ऐसे मग्न हो गये कि समय का ध्यान ही न रहा। वे एक महीने तक इस कार्य को चुपचाप करते रहे। एक के पीछे एक गाथा को पढ़ते हुए उन्होंने घूँट भर भरकर वह अमृत पिया।

अपने अन्तर्नयनों से उन्होंने 'समयसार' में अमृत के सरोवर छलकते देखे। भूली हुई परिणति निज घर की ओर ढली, उपयोग का प्रवाह ज्ञायक देव की ओर ढला। जितनी बार उसका स्वाध्याय किया उतनी ही बार उन्हें उसमें से निजामृत रसास्वादन मिलता रहा।

समयसार के प्रभाव से कानजी स्वामी ने निश्चय किया कि "मैंने जिस सम्प्रदाय में जन्म लिया है, उसमें मेरी सच्ची श्रद्धा हो ऐसा नहीं है, हमें नरभव के हित को प्राथमिकता देकर सम्प्रदाय को गौण रखना चाहिए।"² क्योंकि आत्मज्ञान के लिए अधिक ज्ञान नहीं, सच्ची श्रद्धा आवश्यक है।

समयसार के प्रति बहुमान प्रगट करते हुए कानजी स्वामी बार-बार कहते थे - 'समयसार सर्वोत्तम शास्त्र है। इसकी प्रत्येक गाथा मोक्षदायिनी है।'

इसी वर्ष संवत् 1978 (सन् 1922) में कानजी स्वामी को 'प्रवचनसार' नामक शास्त्र भी मिला। उसमें उन्होंने आत्मानुभव क्या वस्तु है? इत्यादि सर्व शंकाओं का समाधान प्राप्त कर लिया।

1.1.15. मोक्षमार्गप्रकाशक का प्रभाव

वि.सं. 1982 (सन् 1926) में राजकोट में आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी

1. आगम पथ- कहानगुरु विशेषांक, पृ. 112 2. सन्मति संदेश वर्ष 7 अंक 5, पृ. 8

का 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रन्थ हाथ लगा।¹¹ यह ग्रन्थ भी कानजी स्वामी को अपूर्व लगा। "यह ग्रन्थ अपूर्व है भी, यह उनको इतना भाया कि इसका सातवाँ अध्याय तो उन्होंने अपने साथियों (गुरु-भाइयों) से लिखवा लिया।"¹²

कानजी स्वामी अपने प्रवचनों में अन्य विद्वानों के साथ-साथ पं. टोडरमलजी के भी गीत गाया करते थे। टोडरमलजी ज्ञानी पुरुष थे। उनके द्वारा रचित मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अध्याय का कानजी स्वामी पर बहुत प्रभाव पड़ा तथा उनके जीवन में परम पवित्र परिवर्तन हुआ। मोक्षमार्गप्रकाशक के साथ ही अन्य ग्रन्थों का भी समागम प्राप्त हुआ, जिसका प्रभाव उन पर पड़ा।

संवत् 1984 (सन् 1928) में दामनगर में कानजी स्वामी को 'द्रव्य-संग्रह' मिला। संवत् 1983 (सन् 1927) वीरजी भाई ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी दामोदर सेठ के हाथ भेजी, जो समय पर न मिलकर वि.सं. 1984 में मिली।

1.1.16. मत परिवर्तन

'समयसार' एवं 'मोक्षमार्गप्रकाशक' आदि शास्त्र पढ़कर उन्हें लगने लगा कि वर्तमान में यह जो मुख वस्त्रिका (मुँह पट्टी) वाला स्थानकवासी सम्प्रदाय का मार्ग है, वह सच्चा नहीं है। उनके हृदय में सम्प्रदाय परिवर्तन की अभिलाषा बलवती होती गई। सबसे पहले उन्होंने खुशालभाई से कहा कि "यह दीक्षा सच्ची दीक्षा नहीं है।"

वि.सं. 1987 (सन् 1931) से उनके परिवर्तन सम्बन्धी विचार दृढ़ हो गये। योग्य स्थान की तलाश करने लगे, जहाँ जैन समाज का कोई घर न हो, वहाँ परिवर्तन करूँगा; ताकि किसी को भी कषाय उत्पन्न न हो।

"वि. सं. 1989 (सन् 1933) के पर्यूषण में परिवर्तन करने की विशेष भावना हुई। हृदय में अन्तर्द्वन्द्व मचने लगा। एक ओर स्थानकवासी

1. अध्यात्म दृष्ट (युगपुरुष कानजी स्वामी), पृ. 31

2. आत्मधर्म विशेषांक मार्च 1977, पृ. 2

सम्प्रदाय के सहस्रों भक्तों का आग्रह और दूसरी ओर 'समयसार का

कानजी स्वामी ने राजकोट में दो-तीन भाइयों से परिवर्तन सम्बन्धी बात भी की। कानजी स्वामी ने उन भाइयों के बारे में प्रवचनों में कई बार कहा कि वे भाई पढ़े लिखे, सत्य के जिज्ञासु और विचारक थे; परन्तु उनमें ऊहापोह प्रारंभ होने के कारण उस समय परिवर्तन सम्बन्धी बात छोड़ दी।

पश्चात् वि.सं. 1990 (सन् 1934) में बोटोद नगर में परिवर्तन करने संबंधी विचार आया, परन्तु बोटोद तो स्थानकवासियों का गढ़ था; अतः वहाँ भी कानजी स्वामी ने अपने भावों को दबा दिया।

बाद में वि सं. 1991 (सन् 1935) में उमराला ग्राम में परिवर्तन करने का विचार किया, परन्तु जिस ग्राम में दीक्षा ग्रहण की थी, उसी ग्राम में परिवर्तन करना योग्य नहीं लगने से वहाँ भी वह विचार छोड़ दिया। अन्त में अपने परम भक्त हरिभाई भायाणी से यह बात कही। तब हरिभाई भायाणी ने उनकी इस बात का समर्थन करते हुए कहा - "साहब! सत्य के लिए कोई भी बलिदान बड़ा नहीं होता। सत्य के लिए अगर मुझे प्राणों का बलिदान भी देना पड़े तो भी मुझे स्वीकार है। दुनियाँ बदल जाये, तो भले बदल जाये, पर मैं तो आपके साथ रहने का वचन देता हूँ।"

कानजी स्वामी जब वि.सं. 1991 (सन् 1935) की चैत्र कृष्णा तृतीया के दिन सोनगढ़ आये, तब वहाँ के प्रतिष्ठित नागरिक हीराचन्द भाई दामाणी थे, उन्होंने कानजी स्वामी के मुखारविन्द की कान्ति को देखकर कहा कि - हे महात्मा! पधारो, हमारे गृह में निवास करो। उनके स्नेहपूर्ण आमन्त्रण को स्वीकार कर कानजी स्वामी ने उनके गृह में प्रवेश किया। उस समय सोनगढ़ में वह मकान जंगल में था, जो आज भी 'स्टार ऑफ इण्डिया' के नाम से जाना जाता है।

कानजी स्वामी को सोनगढ़ का एकान्त और शान्त वातावरण योग्य लगने से उन्होंने सम्प्रदाय परिवर्तन करने के लिए वि.सं.1991 के चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का दिन निश्चित किया। इस परिवर्तन की बात कानजी स्वामी ने एकमात्र परम भक्त हरिभाई से कही थी।

मंगल दिवस को दोपहर 12 बजे हरिभाई 'स्टार ऑफ इण्डिया' पहुँच गये। उस समय कानजी स्वामी मध्य खण्ड में अर्द्ध चन्द्राकार आसन पर विराजमान थे और उनके समक्ष चौकी पर भगवान श्री पार्श्वनाथ का चित्र रखा था; जो वर्तमान में सोनगढ़ के स्वाध्याय मन्दिर में लगा हुआ है। यह चित्र जैनबद्री-मूडबद्री से दो किलोमीटर दूर से लाये थे।

ठीक 1 बजे हरिभाई ने चैत्य वन्दन की स्तुति पढ़ी। तत्पश्चात् कानजी स्वामी ने मुख वस्त्रिका उतारकर सामने चौकी पर रखते हुए कहा कि - “हरिलाल अब से मैं स्थानकवासी साधु नहीं हूँ, मैं तो जैन श्रावक हूँ।”¹

इस तरह कानजी स्वामी ने विधि पूर्वक पार्श्वनाथ भगवान के चित्र के समक्ष परिवर्तन किया और “24 वर्ष तथा 21 वर्ष चार महीने स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहकर 45 वर्ष की उम्र में अपने आपको दिगम्बर अब्रती श्रावक घोषित कर दिया।”²

परिवर्तन का दिन स्वर्णाक्षरों में अंकित हुआ। आज भी सोनगढ़ में यह दिन अति आनन्द एवं उत्साह पूर्वक मनाया जाता है। वे 'स्टार ऑफ इण्डिया' में अपने अनन्य भक्त हरिलाल भाई, हरिगोविन्द भाई एवं हीराचंद भाई के साथ तत्त्वचर्चा करते हुए तीन वर्ष तीन माह एवं तीन दिन तक रहे।

उनके मत परिवर्तन से स्थानकवासी सम्प्रदाय में बहुत खलबली हुई,

1. परमपूज्य गुरुदेवश्री का सम्प्रदाय परिवर्तन, पृ. 3

2. व्यक्ति एवं व्यक्तित्व, पृ. 1

विरोध हुआ; परन्तु वे काठियावाड़ के स्थानकवासी जैनों के हृदय में बस गए थे। उनके पीछे काठियावाड़ पागल बना हुआ था, इसलिए 'कानजी स्वामी ने जो किया होगा, वह सोच समझकर ही किया होगा' - ऐसा विचार कर धीरे-धीरे लोगों का प्रवाह सोनगढ़ की ओर बढ़ने लगा।

साम्प्रदायिकता के मोह में फँसे विरोधियों की कषाय जब शांत होने लगी तो वे पुण्य और पवित्रता के धनी कानजी स्वामी के दर्शनार्थ झुंड के झुंड आने लगे।

कुछ यह भी देखने आते थे कि अब कैसा चल रहा है - कानजी स्वामी के समक्ष आकर उनके आचरण व व्यवहार को देख एवं अश्रुतपूर्व प्रवचनों को सुनकर नतमस्तक हुए बिना नहीं रहते। कोई भी उनके अन्तर-बाह्य व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

उनकी वाणी में तो कुन्दकुन्द के अमृत का जादू था ही पर उनका बाह्य व्यक्तित्व भी कम आकर्षक नहीं था।

'जो वहाँ जाएगा, उनका हो जाएगा' - इस भय से आशंकित होकर सम्प्रदाय का आग्रह रखने वाले विरोधी लोगों द्वारा वहाँ न जाने की लोगों को प्रतिज्ञाएं दिलाई जाने लगीं, परन्तु **तूफान को कौन रोक सकता था।** सत्संगार्थी जनों का प्रवाह दिन प्रतिदिन वेगपूर्वक सोनगढ़ की ओर बहता ही गया।

इसी बात से प्रेरित होकर आध्यात्मिक कवि जुगल किशोर जी 'युगल' की कलम मानो इन पंक्तियों को लिखने के लिए विवश ही हो गई हो - **'लो रोको तूफान चला रे, पाखण्डों के महल ढहाता, लो रोको तूफान चला रे।'**

कानजी स्वामी कहते थे - 'जैनधर्म, यह कोई सम्प्रदाय नहीं है। यह तो वस्तु स्वभाव, आत्म धर्म है उसका अन्य किसी से मेल है ही नहीं। उसका अन्य धर्म के साथ समन्वय करना रेशम और टाट के समन्वय जैसा व्यर्थ है।'।

दिगम्बर जैन धर्म ही वास्तविक जैनधर्म है और आन्तरिक तथा बाह्य दिगम्बरत्व के बिना कोई जीव मुनिपना तथा मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता - ऐसी उनकी दृढ़ मान्यता थी - इस प्रकार सनातन सत्य वीतराग दिगम्बर जैनमार्ग अंगीकार कर वे सत्यपथ पर अग्रसर हुए।

1.1.17. उपलब्धि

स्थानकवासी सम्प्रदाय का त्याग करके कानजी स्वामी निरन्तर ज्ञानाभ्यास, चिन्तन, मंथन, स्वाध्याय करके अपने जीवन को दैदीप्यमान करने लगे। कानजी स्वामी ने स्वाध्याय को अपने तक ही सीमित नहीं रखा वरन् अपनी उपलब्धियों के माध्यम से हजारों लोगों को भी प्रभावित किया। जिनमें प्रमुख उपलब्धियाँ हैं -

1. आत्म साक्षात्कार
2. मत-हठाग्रह से मुक्ति
3. समाज में आध्यात्मिकता का संचार
4. समाज में धार्मिक चेतना का विस्तार

1. आत्म साक्षात्कार

जिस तत्त्व की प्राप्ति हेतु कानजी स्वामी ने मत परिवर्तन किया वह तत्त्व आत्मतत्त्व ही है। उसकी उपलब्धि ही उनका प्रधान प्रयोजन था और उन्होंने अपने जीवन में उस प्रयोजन की पूर्ति भी की। आत्मोपलब्धि ही मनुष्य भव की सार्थकता है, क्योंकि संसार दुःखों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय यही है। कानजी स्वामी ने अपने सम्पूर्ण जीवन में आत्म साधना ही की है। चाहे वह साधना अनुभवरूप हो अथवा चर्चा-वार्ता रूप। उन्होंने स्वयं इस तत्त्व का अनुसंधान किया एवं अपने प्रचण्ड पौरुष से जीवन में उसे आत्मसात् किया। उन्हें किसी गुरु का योग नहीं मिला फिर भी उन्होंने तत्त्व की प्राप्ति की। उनका तत्त्वज्ञान परिपूर्ण एवं परिमार्जित था।

2. मत-हठाग्रह से मुक्ति

जगत में सबसे कठिन कार्य यदि कोई है तो वह है प्राचीन परम्पराओं को तोड़ना। लीक पर चलना सरल है, लीक से हटकर चलना कठिन है, परन्तु भटकन भी सहगामी है। लेकिन जो व्यक्ति लीक से हटकर चले और भटके नहीं ऐसे सज्जन दुर्लभ ही हैं। कानजी स्वामी उन्हीं दुर्लभ सत्पुरुषों में से एक हैं। जिन्होंने श्वेताम्बर मत के व्यामोह को सत्य स्वीकार करने के लिये परित्याग कर दिया; न तत्सम्बन्धी समाज की परवाह की और न ही समाज-कण्टकों की। उन्होंने अपने जीवन के भयंकर शत्रु मताग्रह को खुली चुनौती दी और उसमें विजय भी प्राप्त की। कानजी स्वामी की यह व्यक्तिगत उपलब्धि सामूहिक उपलब्धि के रूप में फलित हुई है जिनसे समस्त जिज्ञासु जनों की हित पूर्ति हुई है।

3. समाज में आध्यात्मिकता का संचार

वचन अनुभव का अनुकरण करते हैं। जो व्यक्ति विषय-कषायों का अनुभव करे उसकी चर्चा में भी विषय-कषायों का ही प्रतिपादन होता है; परन्तु जो व्यक्ति आत्म-साधना में लीन हो, उसकी सम्पूर्ण चर्चा एवं चर्चा उस तत्त्व के प्रतिपादन में ही संलग्न होती है। कानजी स्वामी स्वानुभव रसिक पुरुष थे। उनकी चर्चा में भी आत्मानुभव की ही बातें आती थीं। भले ही वे प्रकरण विशेष से संयुक्त होकर आए पर आती अवश्य थीं। उनकी इसी क्रिया ने अज्ञान में संलस जीवों को ज्ञान का मार्ग दिखाया है। क्रियाकाण्ड रूप अन्धकार के आदी हो चुके जीवों को ज्ञान सम्पन्न क्रिया का प्रकाश प्रदान किया है।

तत्कालीन समाज अज्ञान और क्रिया के आडम्बरों के कारण ज्ञान तत्त्व को भूल-सा गया था। आराध्य पुरुष का स्मरण तथा महिमा उनको चामत्कारिक रूप में कल्पित करके की जाती थी। ऐसी विषम परिस्थितियों में एक ऐसे सूर्य का उदय हुआ जो सत्य का अन्वेषक था किन्तु मत विशिष्ट के बादलों से आच्छादित हुआ, परन्तु 'सत्य सदा बलवान होता

है।' उक्त उक्त्यनुसार वह सूर्य अपने प्रचण्ड वेग से बादलों को हटाकर स्वयं तो प्रकाशित हुआ ही साथ ही साथ जगज्जनों को भी प्रकाशित किया है। उनमें भी आध्यात्मिकता का संचार किया है। इस निकृष्ट युग में शुद्ध आत्मधर्म की प्राण-प्रतिष्ठा की। आध्यात्मिक समस्या का सरलतम, सहज, प्रबल समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने जनमानस को एक सूत्र दिया "स्वावलम्बन अर्थात् निज शुद्ध चैतन्य सत्ता का अवलम्बन ही धर्म है।"

4. धार्मिक चेतना का विस्तार

कर्तृत्व के युग में अकर्तृत्व की चर्चा, क्रियाकाण्डी युग में ज्ञानात्मक विवेचन एवं अज्ञान के वातावरण में ज्ञान का प्रकाश करना असंभव नहीं परन्तु कठिन अवश्य है; क्योंकि अनादिकालीन प्रवृत्तियों पर कोई यकायक प्रहार करे वो भी जड़ मूल से उखाड़ने को; यह बात अपचनीय हो जाती है। परन्तु कानजी स्वामी ने सत्य के प्रतिपादन के लिये जन-जन में धार्मिक चेतना का विस्तार किया, लोगों को उनके सूक्ष्म से सूक्ष्म अज्ञान का भान कराकर उसे दूर करवाया।

उनके सान्निध्य में तीर्थ-यात्राओं का बृहदायोजन किया गया, प्रशिक्षण-शिविरों का आयोजन, गाँव-गाँव में जागृति हेतु उनके दिशा-निर्देशानुसार धर्मचक्र रथ का प्रवर्तन करवाया गया। उनकी धार्मिक चेतना से हर वर्ग का व्यक्ति प्रभावित एवं फलीभूत हुआ।

बालकों हेतु शिक्षण-संस्थाओं का शुभारम्भ तथा प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन, वृद्धों हेतु शिविरों तथा यात्राओं का आयोजन तथा युवाओं के लिये प्रवचन, कक्षाओं का स्तरानुसार आयोजन करवाना इत्यादि समस्त क्रियाकलाप धार्मिक प्रचार-प्रसार के लिये संलग्न थे परन्तु मूल में सभी का उद्देश्य स्वान्तः सुखाय ही था।

कानजी स्वामी के प्रवचनों से प्रभावित होकर अनेकों श्वेताम्बरों ने तो दिगम्बर जैनधर्म स्वीकारा ही अनेक जैनेतर व्यक्तियों ने भी प्रवचन

सुनकर दिगम्बर जैनधर्म को स्वीकार किया। आबाल-वृद्ध भी रात्रिभोजन, जमीकन्द आदि का त्याग करके उनके अनुयायी हो गये। विभिन्न प्रान्तों के, विभिन्न जातियों के विभिन्न भाषा-भाषी लोग कानजी स्वामी से प्रभावित होकर प्रान्तीयता, जातीयता और भाषावाद के बन्धनों को तोड़कर एक हो गये। उन्होंने लोगों के हृदय और बुद्धि को तो आलोकित किया ही पर साथ में उन लोगों को भी प्रभावित किया जो किसी कारण असहमत थे, विरोधभाव रखते थे, वे भी कानजी स्वामी का सम्मान व अभिनन्दन करने लगे क्योंकि “हजारों गालियाँ देने वाले विरोधियों के प्रति भी कानजी स्वामी कहते थे कि - भाई! वह भी तो भगवान है। पर्याय में भूल है तो क्या हुआ! वह तो निकल जाने वाली है।”¹

कानजी स्वामी ने सम्प्रदाय परिवर्तन करने के बाद प्रतिकूलताओं में भी सदैव लौह-पुरुष का काम किया, अतः इन उपलब्धियों को देखते हुए संवत् 2020 वैशाख सुदी 2 को बम्बई में कानजी स्वामी की हीरक जयंती समारोह का आयोजन किया, जिसकी अध्यक्षता तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष यू.एन. डेबर ने की एवं तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया और कहा कि जो मार्ग “अहिंसा और शान्ति का, चरित्र और नैतिकता का आप दिखाते हैं उस पर..... यदि हम चलेंगे तो हमारा ही भला होगा, देश का भी भला है।”² साथ ही मध्यप्रदेश के मंत्री श्री मिश्रीलालजी गंगवाल ने कहा कि आप वास्तव में मानव समाज के लिये प्रकाशपुंज हैं।

गुजरात प्रान्त के दो सन्तों एक राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी और दूसरे कानजी स्वामी का मिलन सर्वप्रथम राजकोट में हुआ। जहाँ महात्मा गाँधी ने कानजी स्वामी के प्रवचन को सुना। उसके बाद अनेक बार महात्मा गाँधी ने उनके वचनामृत का लाभ लिया तथा अहिंसा व सदाचरण का सही पाठ सीखा।

1. अध्यात्ममूर्ति कानजी स्वामी : अवसान और कर्तव्य, पृ. 3

2. कहान कथा महान कथा, पृ. 29

1.1.18. देहावसान

91 वर्ष की अवस्था में वि.सं.2037 (28 नवम्बर सन् 1980) मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी, सन्ध्या 7 बजकर 3 मिनट पर मुम्बई में कानजी स्वामी ने आत्म निमग्न दशा में देह का परित्याग किया। अन्तिम संस्कार 30 नवंबर को पं. नाथूलाल शास्त्री ने शास्त्रोक्त विधि से सोनगढ़ में किया।¹

1.2. साहित्यिक अवदान

कानजी स्वामी ने न केवल सामाजिक क्षेत्र में अपना योगदान दिया अपितु अपने प्रवचनों के माध्यम से साहित्यिक कृतियों के निर्माण व उनके प्रकाशन की प्रेरणा दी, जिससे साहित्य जगत में आचार्य-प्रणीत ग्रन्थ उपलब्ध हो सके। उनका साहित्यिक अवदान निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट समझा जा सकता है -

1.2.1. मूलग्रंथों का प्रकाशन

कानजी स्वामी के प्रभाव से गाँव-गाँव में स्वाध्याय की परम्परा एवं शास्त्र प्रवचन की पद्धति विकसित हुई। जिसके फलस्वरूप साहित्य की मांग अधिक बढ़ने लगी और इसकी पूर्ति हेतु लाखों की संख्या में मूलग्रन्थों का प्रकाशन प्रारंभ हो गया।

सबसे पहले वि.सं. 1997 में 'समयसार' ग्रन्थ का गुजराती भाषा में प्रकाशन हुआ। इसके साथ ही कुन्दकुन्दाचार्य के पंच परमागम समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, पंचास्तिकाय एवं अन्य आचार्य-कृत ग्रन्थ परमात्मप्रकाश, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, द्रव्यसंग्रह, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्धि उपाय, पद्मनन्दि पंचविंशतिका, योगसार, योगसार प्राभृत, पंचाध्यायी, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, जीवकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, अनुभवप्रकाश, आत्मावलोकन, चिद्विलास, मोक्षमार्गप्रकाशक, छहढाला इत्यादि मूलग्रन्थों की अनेकों व्यावृत्तियाँ मुद्रित होकर लाखों की संख्या में प्रकाशित हुई।

1. कहान कथा महान कथा, पृ. 36

प्रकाशन कार्य का सम्पूर्ण श्रेय कुन्दकुन्द कहान जैन शास्त्रमाला, सोनगढ़ एवं उसकी सहयोगी अन्य संस्थाओं को जाता है। इसी दौरान भारत में कषायपाहुड, महाबन्ध, षट्खण्डागम जैसे महान ग्रन्थ भी कानजी स्वामी के प्रभावना काल में एवं उन्हीं के शिष्य पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुए।

1.2.2. प्रवचन साहित्य का प्रकाशन

कानजी स्वामी ने सोनगढ़ में स्थायी निवास बनाकर कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार आदि एवं अन्य आचार्यों के विविध ग्रन्थों पर अनेक बार सरल, सुबोध भाषा में प्रवचन किये हैं और उन प्रवचनों का साहित्यरूप में प्रकाशन का कार्य देश के कोने-कोने में लाखों की संख्या में अनवरत रूप से अभी भी चल रहा है।

कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में अध्यात्मप्रधान, चरित्रप्रधान, भक्तिप्रधान, वैराग्यप्रधान एवं प्रसंगप्रधान साहित्य का प्रकाशन किया गया, जिनमें कुछ विशेष ग्रन्थ प्रवचन रत्नाकर भाग 1 से 11, अलिंगग्रहण प्रवचन, आत्मसिद्धि प्रवचन, आत्मभावना, आत्मसंबोधन, कारण शुद्धपर्याय, उपादान-निमित्त चिट्ठी, रहस्यपूर्णचिट्ठी, दिव्यध्वनिसार भाग 1-2, तत्त्वज्ञान तरंगणी, द्रव्यसंग्रह प्रवचन, नय-प्रज्ञापन, ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, नाटक समयसार प्रवचन, नियमसार प्रवचन, प्रवचन पीयूष, परमार्थवचनिका प्रवचन, मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन भाग 1 से 4, वचनामृत प्रवचन भाग 1 से 4, मूल में भूल, वस्तुविज्ञानसार, पदार्थ विज्ञान, प्रवचनरत्नों भाग 1 से 5, अष्टपाहुड प्रवचन, मुक्ति का मार्ग, वीतराग-विज्ञान भाग 1 से 6 आदि अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़ व अंग्रेजी भाषा में हुआ।

कानजी स्वामी के सदुपदेशों से प्रभावित होकर प्रवचन साहित्य के प्रकाशन-कार्य को सुचारू रखने के लिए अनेक संस्थाओं ने प्रकाशन का कार्य किया, जिनमें कुछ प्रकाशन संस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं -

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट-	सोनगढ़
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट -	जयपुर
श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट -	भावनगर
श्री महावीर निर्वाणोत्सव प्रकाशन -	सोनगढ़
श्री मीठालाल महेन्द्र कुमार सेठी ग्रंथमाला -	जयपुर
श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला -	मारोठ
श्री ब्र. दुलीचन्द जैन ग्रंथमाला -	सोनगढ़
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल -	बम्बई
श्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट -	देवलाली
श्री कहान स्मृति प्रकाशन -	सोनगढ़
श्री आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान-	मुंबई
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट -	राजकोट
श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट -	मुंबई
श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम ट्रस्ट -	बम्बई
श्री अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन -	जयपुर
श्री वीतराग विज्ञान साहित्य प्रकाशन -	आगरा
श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट -	अजमेर
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल -	देहरादून
श्री कुन्दकुन्द कहान स्मृति प्रकाशन -	विदिशा
श्री अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन -	कोटा
श्रीमति तारादेवी पवैया ग्रंथमाला -	भोपाल
श्री मति सूरजबेन अमोलक भाई सेठ एवं शांतिलाल रतिलाल शाह परिवार -	मुंबई
श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट -	अलीगढ़

श्री गुरुदत्त कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन मंदिर ट्रस्ट - द्रोणागिरि
समर्पण चैरिटेबल ट्रस्ट, उदयपुर
श्री ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट - बांसवाड़ा

1.2.3. पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन

कानजी स्वामी ने भगवान महावीर के सिद्धांतों का अपने प्रवचनों के माध्यम से स्पष्टीकरण किया है। उनके द्वारा उद्धाटित जिनागम का मर्म जन-जन तक पहुंचे इस उद्देश्य से कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों की संकलक हिन्दी भाषा की मासिक पत्रिका 'आत्मधर्म' वि.सं. कार्तिक 2000 से प्रकाशित हुई। जो जून सन् 1976 तक सोनगढ़ से एवं जुलाई 1976 से अगस्त 1983 तक जयपुर से तथा उसके बाद पुनः सोनगढ़ से प्रकाशित हो रही है। यह पत्रिका गुजराती, कन्नड़, मराठी एवं तमिल भाषा में भी प्रकाशित होती है। 'आत्मधर्म' के अतिरिक्त अन्य पत्रिकायें भी प्रकाशित होती हैं।

- सद् गुरुप्रसाद प्रवचन (दैनिक गुजराती) सन् 1950 से 1956 तक, सोनगढ़

- स्वर्ण संदेश (गुजराती साप्ताहिक) सन् 1960 से 1962 तक, सोनगढ़

- सन्मति संदेश (हिन्दी मासिक) वीर नि.सं. 2522 से निरन्तर, नई दिल्ली

- वीतराग विज्ञान (हिन्दी) सन् 1983 से निरन्तर, जयपुर

- आत्मजागृति (हिन्दी, गुजराती), भावनगर

- स्वानुभूति प्रकाश (हिन्दी, गुजराती) सन् 1996 से निरन्तर, भावनगर

- गुरु-प्रसाद (गुजराती) 1987 से निरन्तर, देवलाली

- आगमपथ (कहान गुरु विशेषांक) 1976, मुम्बई

- जैनपथ-प्रदर्शक (हिन्दी पाक्षिक), अप्रैल 1977 से निरन्तर, जयपुर

- आत्मतत्त्व (हिन्दी) वी.नि. सं. 2530 से निरन्तर, भावनगर
- मंगलायतन (हिन्दी मासिक) सन् 2001 से निरन्तर, अलीगढ़
- वाणी महिमा (त्रैमासिक हिन्दी) वी.नि.सं.2529 से निरन्तर, नईदिल्ली
- ज्ञानधारा (मासिक हिन्दी) 1990 से निरन्तर, विदिशा
- ऋषि-मुनि (हिन्दी) प्रासंगिक, उज्जैन
- ध्रुवधाम (हिन्दी) 2004 से निरन्तर, बाँसवाड़ा
- संस्कार सुधा (हिन्दी) 2015 से निरन्तर

1.3 धार्मिक अवदान

कानजी स्वामी ने साहित्य-प्रकाशन में तो अपना अविस्मरणीय योगदान दिया ही इसके अलावा दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के लिये अनेक जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा, पंचकल्याणक, वेदी-प्रतिष्ठा, ब्रह्मचर्यत्व-दीक्षा एवं ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना के माध्यम से कानजी स्वामी का धार्मिक अवदान भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसे निम्न बिन्दुओं से समझा जा सकता है।

1.3.1. दिगम्बर धर्म का प्रचार-प्रसार

कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रंथ कानजी स्वामी के अध्ययन के विषय बने जिससे उनकी दृष्टि में परिवर्तन आया और वे दिगम्बर धर्म के प्रचारक और उपासक बन गये।

कानजी स्वामी बीसवीं सदी के एक आध्यात्मिक क्रांतिकारी महापुरुष हैं। दिगम्बर जैन समाज के विगत 400 वर्षों के इतिहास में कविवर पं. बनारसी दास और महापंडित टोडरमल को छोड़कर कानजी स्वामी के अतिरिक्त और किसी ने इतनी विशाल आध्यात्मिक क्रांति नहीं की।

इनके सम्बन्ध में पं. फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, वाराणसी ने कहा कि- “कोई कुछ भी क्यों न कहे, मैं तो कहता हूँ कि वर्तमान में

स्वामीजी का उदय दिगम्बर परम्परा के लिये अभ्युदयरूप है, जिनके जीवन में दिगम्बर परम्परा का माहात्म्य समाया हुआ है। वह श्री कानजी स्वामी और समग्र सौराष्ट्र को आदर की दृष्टि से देखे बिना नहीं रह सकता।¹¹

कानजी स्वामी के प्रभाव से दिगम्बर वीतराग धर्म के प्रचार का एक अद्भुत आन्दोलन फैल गया। दिगम्बर जैनधर्म की सनातन सत्यता की प्रसिद्धि का गौरवपूर्ण कार्य कानजी स्वामी ने श्वेताम्बर बहुल प्रदेश में रहकर अपने सदुपदेशों के द्वारा हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बरों की श्रद्धा का परिवर्तन चमत्कारिक ढंग से किया।

जगह-जगह निर्मित दिगम्बर मंदिर उनकी मंगल प्रतिष्ठायें, इनके आध्यात्मिक प्रवचनों के प्रभावना योग से सम्पन्न हुये। तदुपरान्त सत्-साहित्य की, मूल शास्त्रों तथा प्रवचनों की लाखों पुस्तकें और आत्मधर्म पत्र प्रकाशित हुये। तीर्थयात्रादि के निमित्त से कानजी स्वामी ने भारतवर्ष में अनेकों बार मंगल विहार किये; जिससे लाखों लोगों में धार्मिक रुचि उत्पन्न हुई। हजारों लोगों को नई दृष्टि मिली और वे दिगम्बर जैन बने।

दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के इस महायज्ञ में कानजी स्वामी के अनन्यतम शिष्यों में प्रमुख पं. रामजीभाई, पं. खीमचन्दभाई, पं. फूलचन्द शास्त्री, पं. लालचन्दभाई, पं. बाबूभाई मेहता, पं. नेमीचन्द पाटनी, बाबू जुगलकिशोर 'युगल', डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पं. रतनचन्द भारिल्ल आदि ने अपना योगदान दिया और दे रहे हैं - इस प्रकार दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य कानजी स्वामी के पुण्य प्रभावना योग से हुआ।

1.3.2. जिन मंदिर निर्माण

कानजी स्वामी के प्रभाव एवं अध्यात्म का प्रचार भारत में शीघ्रता से

1. खानियाँ तत्त्वचर्चा, पृ. 19

फैलने लगा। सौराष्ट्र में प्रायः दिगम्बर जिनमंदिर थे ही नहीं। जब कानजी स्वामी के सदुपदेश से प्रभावित होकर वहाँ हजारों लोग दिगम्बर जैन हो गये, तब दिगम्बर जिनमंदिरों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, जिसके कारण सौराष्ट्र में जगह-जगह दिगम्बर जिनमंदिरों की तैयारियाँ होने लगीं। इसके साथ ही बम्बई, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बेंगलौर आदि में तथा नैरोबी (दक्षिण अफ्रीका) और अमेरिका में जिन-जिन स्थानों पर जिनमंदिर नहीं थे, वहाँ भी आपके प्रभावना योग से जिनमंदिरों का निर्माण किया गया। फलतः यत्र-तत्र अभी तक लाखों की लागत से अनेक जिनमंदिरों का निर्माण हो चुका है।

1.3.3. पंच कल्याणक प्रतिष्ठा

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के निमित्तकारणों में पंचकल्याणक दर्शन भी है। कानजी स्वामी ने एक ओर जहाँ सम्यग्दर्शन के उपादानभूत भगवान आत्मा का स्वरूप प्रतिपादित किया वहीं उसके निमित्तभूत अनेक पंचकल्याणक भी उनके सदुपदेश से हुए, जिनकी सूची¹ इसप्रकार हैं—

क्र. स्थान	गुजराती तिथि	दिनांक	मूलनायक भगवान
1. सोनगढ़ जिनमंदिर	1997	28-02-41 शुक्र.	श्री सीमन्धर भगवान
2. सोनगढ़ समोशरण	1998	06-05-43 बुध.	श्री सीमन्धर भगवान
3. वीछिया जिनमंदिर	2005	07-03-49 सोम.	श्री चन्द्रप्रभ भगवान
4. लाठी जिनमंदिर	2005	01-06-49 सोम.	श्री सीमन्धर भगवान
5. राजकोट जिनमंदिर	2006	01-03-50 बुध.	श्री सीमन्धर भगवान
6. सोनगढ़ मानस्तम्भ	2009	25-03-53 बुध.	श्री सीमन्धर भगवान
7. पोरबन्दर जिनमंदिर	2010	07-03-54	श्री पार्श्वनाथ भगवान
8. मोरबी जिनमंदिर	2010	05-04-54	श्री महावीर भगवान
9. बांकानेर जिनमंदिर	2010	6-04-54	श्री वर्धमान भगवान

1. अध्यात्म प्रणेता (कानजी स्वामी), सं. हेमन्त गाँधी, पृ. 22

10. लीँवड़ी जिनमंदिर	2014	01-03-58	श्री पार्श्वनाथ भगवान
11. मुंबई जिनमंदिर	2015	16-12-58	श्री सीमन्धर भगवान
12. जामनगर जिनमंदिर	2017	25-11-60	श्री महावीर भगवान
13. जोरावर जिनमंदिर	2019	06-05-63	श्री आदिनाथ भगवान
14. बंबई (दादर) जिनमंदिर	2020	22-05-64	श्री महावीर/ आदिनाथ/ सीमन्धर भगवान
15. राजकोट समोशरण	2021	12-05-65	श्री सीमन्धर भगवान
16. राजकोट मानस्तम्भ	2021	12-05-65	श्री सीमन्धर भगवान
17. आंकडिया जिनमंदिर	2023	16-12-66	श्री सीमन्धर भगवान
18. हिम्मतनगर जिनमंदिर	2023	23-12-66	श्री महावीर भगवान
19. अहमदाबाद जिनमंदिर	2025	21-02-69	श्री पार्श्वनाथ भगवान
20. रणासण जिनमंदिर	2025	05-03-69	श्री आदिनाथ भगवान
21. बंबई (मलाड) जिनमंदिर	2025	23-04-69	श्री आदिनाथ भगवान
22. बम्बई (घाटकोपर)	2025	23-04-69	श्री नेमिनाथ भगवान
23. अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ	2026	09-03-70	श्री पार्श्वनाथ भगवान
24. भावनगर जिनमंदिर	2026	10-03-70	श्री सीमन्धर भगवान
25. बम्बई (घाटकोपर)	2028	03-03-72	श्री आदिनाथ भगवान सर्वोदय हॉस्पिटल
26. फतेपुर समोशरण	2028	15-05-72	श्री सीमन्धर भगवान
27. सोनगढ़ परमागम मंदिर	2030	06-03-74	श्री महावीर भगवान
28. भोपाल पिपलानी	2031	01-01-75	श्री महावीर भगवान
29. बैंगलोर मंदिर	2031	24-04-75	श्री महावीर/सीमन्धर
31. मद्रास	2034	11-03-78	श्री महावीर भगवान
32. कुरावड़	2034	08-05-78	श्री सीमन्धर भगवान
33. नैरोबी	2036	21-11-79	श्री महावीर भगवान
34. बड़ौदा	2036	28-02-80	श्री आदिनाथ भगवान

1.3.4. वेदी प्रतिष्ठा¹

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अतिरिक्त अनेक स्थानों पर वेदीप्रतिष्ठा कर दिगम्बर जिनबिम्ब स्थापित किये गए। जिस सौराष्ट्र में एक भी जिनबिम्ब नहीं था, उनके सङ्ग्रहों से अनेकों जिनमंदिरों का निर्माण हुआ, अन्यत्र भी अनेकों वेदी प्रतिष्ठायें हुईं, जिनकी सूची इस प्रकार है -

क्र. स्थान	गुजराती तिथि	दिनांक	मूलनायक भगवान
1. बढवाण सिटी	2010	26-04-54	श्री सीमन्धर भगवान
2. सुरेन्द्र नगर	2010	05-05-54	श्री शान्तिनाथ भगवान
3. राणपुर	2010	15-05-54	श्री महावीर भगवान
4. वोटाद	2010	26-05-54	श्री श्रेयांशनाथ भगवान
5. उमराला	2010	05-06-54	श्री सीमन्धर भगवान
6. सोनगढ़ 68 फीट	2013	15-11-56	श्री नेमिनाथ भगवान
7. पालेज	2013	13-12-56	श्री अनन्तनाथ भगवान
8. खैरागढ़	2015	09-04-59	श्री शान्तिनाथ भगवान
9. वड़िया	2016	06-12-59	श्री नेमिनाथ भगवान
10. जेतपुर	2016	11-12-59	श्री श्रेयांशनाथ भगवान
11. गोंडल	2016	15-12-59	श्री शान्तिनाथ भगवान
12. सावरकुंडल	2017	27-02-61	श्री शान्तिनाथ भगवान
13. भोपाल	2019	26-05-62	श्री महावीर भगवान
14. दहेगाम	2019	16-05-63	श्री महावीर भगवान
15. रखियाल	2020	01-03-64	श्री नेमिनाथ भगवान
16. वोटाद(ऊपर)	2020	21-03-64	श्री नेमिनाथ भगवान
17. उज्जैन	2021	24-12-64	श्री सीमन्धर भगवान
18. भोपाल	2021	28.12.64	श्री आदिनाथ भगवान

(टी.टी.नगर)

1. परिचय पुस्तिका (कानजी स्वामी), पृ. 49

19. जसदण	2023	02-02-67	श्री महावीर भगवान
20. जयपुर (टोडरमल स्म.)	2023	13-03-67	श्री सीमन्धर भगवान
21. उदयपुर	2023	01-05-67	श्री चन्द्रप्रभ भगवान
22. इन्दौर	2025	06-05-69	श्री चन्द्रप्रभ भगवान
23. मक्सी पार्श्वनाथ	2025	08-05-69	श्री पार्श्वनाथ भगवान
24. जलगाँव	2026	13-03-70	श्री आदिनाथ भगवान
25. काना तलाब	2026	29-04-70	श्री धर्मनाथ भगवान
26. अमरेली	2028	29-02-72	श्री शान्तिनाथ भगवान
27. रामपुरा	2028	17-05-72	श्री आदिनाथ भगवान
28. बामणवाड़ा	2028	18-05-72	श्री आदिनाथ भगवान
29. जांबूड़ी	2030	08-11-73	श्री आदिनाथ भगवान
30. गढड़ा	2030	08-05-74	श्री पार्श्वनाथ भगवान
31. जूनागढ़ (मानस्तम्भ)	2031	18-12-74	श्री नेमिनाथ भगवान
32. खुरई (मानस्तम्भ)	2031	04-09-75	श्री आदिनाथ भगवान
33. सनावद	2031	08-01-75	श्री सीमन्धर भगवान

1.3.5. शिक्षण शिविर का आयोजन

आत्मार्थी मुमुक्षुजनों की ज्ञानपिपासा की पूर्ति करने हेतु सोनगढ़ में वि. सं. 1997 से शिविर लगाना आरंभ हुआ। इन शिविरों में कानजी स्वामी के प्रवचनों के अलावा तत्त्वज्ञान के गंभीर विषयों का भी अभ्यास कराया जाता है।

वि.सं. 1998 से प्रारम्भ करके प्रत्येक वर्ष ग्रीष्मावकाश में "जैनदर्शन शिक्षण वर्ग" चलाया जाता है। यह धार्मिक वर्ग 3 सप्ताह तक चलता है।

जिसमें भिन्न-भिन्न गाँवों के सैकड़ों विद्यार्थी लाभ लेते हैं। प्रौढ़ वर्ग के लिए श्रावण मास में 20-20 दिन के शिविर प्रतिवर्ष प्रारंभ हुये। गाँव-गाँव में भी प्रतिवर्ष शिक्षण शिविर लगने लगे। कानजी स्वामी के अनन्य शिष्य डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल की प्रेरणा से धार्मिक शिक्षा को व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप देने के लिए धर्माध्यापकों को प्रशिक्षण देने की योजना तैयार की गई। प्रतिवर्ष ग्रीष्मकालीन एवं शीतकालीन अवकाशों के समय बीस दिवसीय शिविरों के माध्यम से धर्माध्यापकों को प्रशिक्षण दिया जाने लगा जो अभी भी अनवरत रूप से संचालित है।

इसी शृंखला में शिविरों के माध्यम से कई अच्छे प्रवक्ता और विद्वान तैयार होने लगे, जिनके द्वारा गाँव-गाँव में स्वाध्याय सभायें एवं रात्रिकालीन पाठशालायें, गोष्ठियाँ इत्यादि प्रारम्भ हो गई।

दशलक्षण पर्व एवं अष्टान्हिका पर्व के अवसर पर प्रतिवर्ष 500 से अधिक प्रवचनकार समाज के अत्यन्त आग्रहपूर्ण आमंत्रण आने पर सम्पूर्ण भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी तत्त्व के प्रचार-प्रसारार्थ भेजे जाते हैं, जो निःस्वार्थ भाव से अपनी सेवायें प्रदान करते हैं।

इस तत्त्वज्ञान के महाकुम्भ का विशाल स्तरीय शृंखलाबद्ध आयोजन प्रारम्भ करना कानजी स्वामी का ही प्रभाव है, अन्य किसी का नहीं।

1.3.6. तत्त्वप्रचार हेतु देश-विदेश में भ्रमण

दिगम्बर जैनधर्म के तत्त्व प्रचार-प्रसार एवं तीर्थवन्दना की उत्कृष्ट भावना लेकर कानजी स्वामी ने देश-विदेश में भ्रमण किया। भारत के लगभग सभी राज्यों राजस्थान, म.प्र., गुजरात, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, गोहाटी, आसाम, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, उ.प्र. इत्यादि में तत्त्वज्ञान की अलख जगाई एवं फरवरी सन् 1980 में साधर्मी बन्धुओं के अनुरोध पर तत्त्व के प्रचार-प्रसार हेतु नैरोबी (अफ्रीका) गये। वहाँ आपके मंगल उपदेशों से प्रभावित होकर जिनमंदिर का निर्माण हुआ।

अफ्रीका एवं बर्मा में आपके प्रवचन से बहुत लोग प्रभावित हुये, वहाँ पर आज भी मुमुक्षु मण्डल चलता है।

अफ्रीका आदि में आपके शिष्यगण सीडी कैसेट के द्वारा प्रवचन सुनने का लाभ लेते हैं। इस तरह कानजी स्वामी ने भारत में ही नहीं विदेशों में भी तत्त्व का प्रचार-प्रसार किया तथा वर्तमान में भी अनवरत रूप से आपके शिष्यों द्वारा किया जा रहा है।

1.3.7 जनमानस पर कानजी स्वामी का प्रभाव

कानजी स्वामी के अनूठे व्यक्तित्व ने समूचे जैन समाज को सभी स्तरों पर प्रभावित किया है। साधु, व्रती, विद्वान, श्रीमान्, कार्यकर्ता, नेतागण आदि समाज के सभी व्यक्तियों ने समय-समय पर कानजी स्वामी के प्रति मार्मिक उद्गार व्यक्त किये हैं। जिसमें तत्त्वप्रचार, दिगम्बर जैनधर्म की महती प्रभावना, धर्मायतनों का नव निर्माण, दिगम्बर जैन साहित्य का प्रकाशन, स्वाध्याय परम्परा आदि महान कार्यों एवं आध्यात्मिक क्रान्ति की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। यहाँ कतिपय मनीषियों के हार्दिक उद्गार इस प्रकार हैं -

“इस युग में श्री कानजी स्वामी ने आचार्य कुन्दकुन्द के आगम का अत्यधिक प्रचार व प्रसार किया है। गुजरात में जहाँ एक भी जैन नहीं था वहाँ आज उनके प्रभाव से लाखों दिगम्बर जैन हो गये हैं। कानजी स्वामी की प्रेरणा से अनेक गगनचुम्बी दिगम्बर जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ है तथा लाखों की संख्या में वीतरागी सत्साहित्य का प्रकाशन किया जा चुका है।”

- मुनिराज श्री सिद्धसागर जी

“काठियावाड़ देशस्थ सोनगढ़ ग्राम के सुप्रसिद्ध अध्यात्म योगी श्री कानजी स्वामी के उस महत् उपकार को कदापि नहीं भुला सकते जो कि उन्होंने अपनी अद्वितीय प्रतिभा द्वारा भौतिक युग की अन्धकारमय

जगत पर विलुप्त प्रायः हो जाने वाली धारा को पुनः नवजीवन प्रदान किया है।¹¹

- क्षु. श्री जिनेन्द्रवर्णी

“जब स्वामीजी से निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, कर्त्ता-कर्म निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के विषय में सुना व 14 माह की अवधि में जो अनुभव किया तो जीवन की दिशा ही बदल गई। निश्चयात्मक धर्म के साथ जिनेन्द्र-पूजन, भक्ति-दान, स्वाध्याय आदि की प्रवृत्ति भी उनमें ही देखी जाती है। और यह सब स्वामीजी निश्चय-व्यवहार की संधि पूर्वक उपदेश करने की शैली का प्रतीक है।¹²

- क्षु. श्री चिदानन्दजी महाराज

“इसमें कोई शक नहीं है कि कानजी स्वामी के उदय से अनेक अंशों में क्रान्ति हुई है। पुराना पोपडम खत्म हो रहा है और लोगों को नई दिशा मिल रही है। सौराष्ट्र में अनेकों नवीन मन्दिरों का निर्माण तथा उनकी प्रतिष्ठायें स्पष्ट बतलाती हैं कि वे व्यवहार का अपलाप नहीं करते। ये भगवान् कुन्दकुन्द के सच्चे अनुयायी हैं। सोनगढ़ से जो धार्मिक साहित्य निकल रहा है उससे स्वाध्याय का बहुत प्रचार हुआ है। निमित्त-उपादान तथा क्रमबद्धपर्याय आदि दार्शनिक चीजें हैं। विद्वानों को समझने की हैं। ऐसी चीजों को आन्दोलन का विषय बनाना समाज की शक्ति को क्षीण करना है। हमें प्रत्येक प्रसंग को निष्पक्ष दृष्टि से देखना चाहिये। उनका प्रयत्न प्रशंसनीय है।¹³

- पं. श्री चैनसुखदास, न्यायतीर्थ

“स्वामीजी ने इस निकृष्ट पंचमकाल में हम सब को परमोत्कृष्ट निजात्मतत्त्व बताया है। उन्होंने जिनागम के अन्तस्तल में डुबकियाँ लगाकर अनेकान्त-स्याद्वाद, निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, क्रमबद्धपर्याय, आदि अनेक रत्न निकालकर हमें दिये हैं। उनकी वाणी में द्रव्य-गुण-

1. सन्मति संदेश वर्ष 7 अंक 5, पृ. 27

2. सन्मति संदेश वर्ष 7 अंक 5, पृ. 27

3. युगपुरुष कानजी स्वामी, पृ. 54

पर्याय की स्वतन्त्रता का सिंहनाद हुआ है। उन्होंने तत्त्वप्रचार के सशक्त माध्यम के रूप में शिक्षण तथा प्रशिक्षण, शिविर-प्रणाली का आविष्कार किया। मोक्षमार्ग का सफल नेतृत्व करने वाले इस युगपुरुष को मैं अगणित वन्दना करता हूँ।¹¹ - पं. बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता, फतेपुर

“श्री कानजी स्वामी सोनगढ़ के आध्यात्मिक रसिक दिगम्बर जैन विद्वान हैं। सौराष्ट्र में जहाँ एक भी दिगम्बर जैन मन्दिर न था, बीसों मन्दिर बनवाये, पचासों प्रतिष्ठायें करवायीं, तीर्थ-वन्दना संघ निकाले और सर्वत्र विहार कर धर्म की प्रभावना में वृद्धि की है।¹²

- पं. जगमोहनलाल शास्त्री, कटनी

“श्री कानजी स्वामी ने दिगम्बर समाज में तत्त्वज्ञान की दिशा में निश्चय ही जागरण किया है।¹³ - डॉ. दरबारीलाल कोठिया, अध्यक्ष

अ.भा. दिग. जैन विद्वत् परिषद

“मैंने पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों को कई बार सुना है और उनके अनेकों प्रवचनों पर मनन भी किया है। मैंने पाया कि मूल जैनधर्म तो वहीं है, जिसका वाचन गुरुदेव अपने प्रवचनों में करते हैं।¹⁴

- सुकुमारचन्द जैन, महामंत्री,

अ.भा. दिग. भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव समिति (केन्द्रीय) (ऊपर)

“पू. श्री कानजी स्वामी ने दिगम्बर जैन समाज को नवजीवन प्रदान किया है और अपनी प्रेरणा से धर्म के समस्त संस्कारों को निहित करने में एक नई दिशा प्रदान की।¹⁵ - जयन्तीलाल लल्लूभाई पारीक, महामंत्री

अ. भा. दिग. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, मुम्बई

“आज लाखों लोग अत्यन्त श्रद्धा से उन शास्त्रों का अध्ययन करते

1. युगपुरुष कानजी स्वामी, पृ. 53

2. सन्मति संदेश वर्ष 7 अंक 5, पृ. 2

3. सन्मति संदेश वर्ष 7 अंक 5, पृ. 3

4. आगमपथ मई 1976, पृ. 20

5. युगपुरुष कानजी स्वामी, पृ. 67

हैं जो किसी समय में विद्वानों के योग्य ही समझे जाते थे। सौराष्ट्र में सैकड़ों दिगम्बर जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ और हमारे जैनधर्म में अंगीकृत हुये, यह सब स्वामीजी की प्रेरणा व उपदेशों का फल है।¹¹

- पं. पद्मश्री सुमतिबाई शाह

अध्यक्ष, महिला विद्यापीठ, सोलापुर (महा.)

“पूज्य गुरुदेव कानजी स्वामी ने जैनधर्मावलम्बियों में स्वाध्याय की रुचि जाग्रत की यह उनका इतना बड़ा उपकार है जिसे शताब्दियों तक नहीं भुलाया जा सकता।¹²

- बाबूलाल पाटोदी

भू.पू. सदस्य म.प्र. विधानसभा इन्दौर

“भगवान कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा रचित शास्त्रों का जन-जन में प्रचारित करने का प्रमुखतम श्रेय स्वामीजी को ही है।¹³

- जयचन्दजी लोहाड़े, हैदराबाद

“कानजी स्वामी ने उन लोगों में मात्र स्वाध्याय की रुचि उत्पन्न ही नहीं की बल्कि हजारों की संख्या में प्रचारकों का निर्माण किया।¹³

- कुसुमबहिन शाह, मुम्बई, सुप्रसिद्ध समाजनेत्री

“पूज्य श्री कानजी स्वामी ने वीतरागता प्राप्त करने का दिगम्बर जैन समाज को जो मार्ग दिया है वह सैकड़ों वर्षों से ओझल हो रहा था। क्रियाकाण्ड में भी वीतरागताप्राप्ति का ही मुख्यरूप से धर्म का मार्ग माना जाने लगा था। ऐसे समय में इस सन्त ने धर्म का सच्चा मार्ग दिखाकर एक अद्भुत क्रान्ति पैदा कर दी।¹⁴

- श्रीमति लेखवती जैन

उपा. हरियाणा विधानसभा, चण्डीगढ़

“स्वामीजी ने वीतराग धर्म का प्रचार-प्रसार करके जैनधर्म व समाज

1. युगपुरुष कानजी स्वामी, पृ. 67

2. आगमपथ मई 1976, पृ. 22

3. आगमपथ मई 1976, पृ. 22

4. आगमपथ मई 1976, पृ. 21

का बहुत बड़ा उपकार किया है। वास्तव में सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र धर्म की पुनर्स्थापना में उनका बहुमूल्य स्थान रहा है। जिसका जैन समाज सदैव ऋणी रहेगा।¹¹

- साहु शान्तिप्रसादजी

“गत त्रिदशी में स्वकुलक्रमागत परम्परा को छोड़कर वीतराग दिगम्बर धर्म में समागत श्री कानजी स्वामी की सम्यग्दर्शन प्रधान प्रवचन प्रणाली वर्तमान भोग प्रधान भौतिक युग में संतप्त प्राणियों के लिये आकर्षण का केन्द्र बनी है। यह प्रशंसनीय विषय है।¹²

- सर सेठ भागचंदजी सोनी, अजमेर

“पूज्य श्री कानजी स्वामी वर्तमान जगत के समर्थ आध्यात्मिक प्रवक्ता हैं। उनकी वाणी में ओज है। प्रवचनों में जैन तत्त्वों की निश्चयात्मक दृष्टि से विशेषतायें अन्तर्निहित होती हैं। यह उन्हीं की देन है कि महर्षि कुन्दकुन्द के आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय समाज में बहुतायत से होने लगा है एवं लोगों में आध्यात्मिक जागृति एवं रुचि उत्पन्न हुई है।¹³

- रायबहादुर हरखचन्द पाण्ड्या, रांची

“पूज्य कानजी स्वामी भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी को फिर से उजागर किया है। सुप्त जैन समाज में नई चेतना का आभास किया है। समाज उनका सदैव ऋणी रहेगा।”

“पू. कानजी स्वामी मोक्षमार्ग के साधक हैं, वीतरागधर्म के प्रवक्ता हैं ऐसे युग में जब हम अपने परम्परागत मूल्यों को भुला बैठे थे तब उन्होंने आध्यात्मिकता का गहन प्रकाश किया।¹⁴ - साहु रमेशचन्द जैन

जनरल मैनेजर, टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली

“सन्त श्री कानजी स्वामी का स्वाध्याय के क्षेत्र में बहुमूल्य प्रदेय है।

1. युगपुरुष कानजी स्वामी, पृ. 64

2. युगपुरुष कानजी स्वामी, पृ. 66

3. आगमपथ मई 1976, पृ. 34

4. आगमपथ मई 1976, पृ. 35

उन्होंने लाखों लोगों को जो जैनदर्शन का क, ख, ग, भी नहीं जानते थे, उन्हें पण्डित बनाया है।'¹¹ - डॉ. नेमीचन्द जैन, सम्पादक, तीर्थकर

“गुरुदेव ने वीतराग धर्म का शुद्ध स्वरूप बताकर समाज का बड़ा उपकार किया है। समाज उनका सदैव ऋणी रहेगा।”¹²

- अक्षयकुमार जैन, सम्पादक, नवभारत टाइम्स

“तप-त्याग और आराधना के तेज से प्रखर कानजी स्वामी का सम्पूर्ण जीवन ही धर्मानुराग को एक गौरवमय गाथा है।”¹³

- पारसदास जैन, सह सम्पादक नवभारत टाइम्स

उन्होंने अपने जीवन में करीब 33 पंचकल्याणक प्रतिष्ठा व 33 वेदी प्रतिष्ठायें करवायीं, और श्वेताम्बर बन्धुओं को दिगम्बर बनाया। समयसार व मोक्षमार्गप्रकाशक जैसे ग्रन्थों के पठन-पाठन की लहर समाज में दौड़ आयी तथा स्वाध्याय के प्रचार का बिगुल बजा दिया। विरोध होता रहा लेकिन विरोध को सहते हुये दिगम्बर धर्म के प्रचार-प्रसार में किसी भी प्रकार की कसर उठा नहीं रखी।

देश में सोनगढ़ एक प्रकार का प्रसिद्ध स्थान बन गया है। जहाँ से उन्होंने तन-मन से जिनवाणी की जीवनपर्यन्त साधना करने के साथ ही देश में यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रचार किया। शिक्षण शिविर के द्वारा एक नई दिशा देकर एक धर्मप्रचार की एक अद्भुत योजना समाज को दी। धर्म के प्रचार-प्रसार में किसी भी प्रकार की कसर उठा नहीं रखी।

उनकी उपस्थिति में सोनगढ़ एवं पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ये केन्द्र तो स्थापित हुए ही हैं तथा उनके देह-विलय के बाद आज भी उनके प्रवचन-साहित्य के प्रचार-प्रसार में अनेक संस्थाएँ स्थापित हुई हैं, जो तत्त्व का प्रचार-प्रसार कर रही हैं, जिनके नाम इसप्रकार

1. आगमपथ मई 1976, पृ. 31

2. वही, पृ. 18

3. वही, पृ. 30

हैं - पूज्य श्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट देवलाली, कुन्दकुन्द नगर सोनागिर, तीर्थधाम मंगलायतन, आत्मसाधना केन्द्र दिल्ली, मुमुक्षु आश्रम कोटा, रत्नत्रयतीर्थ ध्रुवधाम बांसवाड़ा, श्री गुरुदत्त कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सिद्धायतन द्रोणगिरि, चैतन्यधाम अहमदाबाद, कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान उज्जैन, चेतनबाग खनियांधाना आदि।

1.4. निष्कर्ष

कानजी स्वामी के जीवन परिचय का अवलोकन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कानजी स्वामी बचपन से ही प्रतिभावान, वैराग्य-प्रवृत्ति के थे। साथ ही वह मात्र कुल-परम्परा से आये हुये विचारों को बिना परीक्षा के स्वीकार करने वालों में से नहीं थे। प्रायः यह देखा गया है कि सम्प्रदाय बदलने वाले अन्त में पथ-भ्रष्ट होते रहे हैं लेकिन स्वामी जी सदा लौहपुरुष बनकर रहे - सत्यता समझ में आई तो उन्होंने 45 वर्षों से स्वीकार किये हुये धर्म एवं साधुपद के यश सम्मान की चिन्ता न करते हुये उसे छोड़ दिया।

दिगम्बर जैनधर्म को स्वीकार करने के बाद जैन अध्यात्म के प्रचारक के रूप में कानजी स्वामी का नाम सर्वोत्कृष्ट है। प्रतिदिन किये गये प्रवचनों के कैसेट्स, प्रवचन-साहित्य का प्रकाशन, ग्रन्थों का गुजराती, हिन्दी, मराठी आदि भाषाओं में अनुवाद; अनेकों पंचकल्याणक, वेदी-प्रतिष्ठा, तत्त्व-प्रचार-प्रसार के केन्द्रों का निर्माण तत्त्वप्रचार-प्रसार हेतु देश-विदेश में भ्रमण, लाखों भाई-बहिनों का मत-परिवर्तन इत्यादि कार्य उनके व्यक्तित्व की असाधारणता प्रकट करते हैं।



श्रमण संघ परम्परा और कानजी स्वामी

2.1. श्रमण संघ परम्परा : संक्षिप्त परिचय

मोक्ष पुरुषार्थ के परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति का बहुमुखी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसका कारण जहाँ तत्त्वज्ञान संवेत आध्यात्मिक साधना है वहीं श्रमण संस्कृति का भी अपूर्व योगदान है। पुरा भारतीय वाङ्मय की साक्षी में कहा जाता है कि भारत में दो संस्कृतियाँ पल्लवित रहीं हैं, जिनका स्पष्ट प्रभाव आज भी हमारे जीवन में परिलक्षित होता है।

भारतीय संस्कृति की दो धारायें हैं – एक वैदिक संस्कृति और दूसरी श्रमण संस्कृति। वैदिक संस्कृति का उद्भव ब्रह्मवाद की पृष्ठभूमि में हुआ एवं फलता-फूलता रहा तथा श्रमण संस्कृति का साफल्य वस्तुस्वातंत्र्य, स्वावलम्बन और विशुद्ध आत्मा की सुविकसित सर्वोच्च सात्विक अवस्था को पाने में हुआ है।

वैदिक धारा में ईश्वराधारित सृष्टि और क्रियाकाण्ड की प्रवृत्ति का बाहुल्य हैं तो श्रमणधारा में अध्यात्म विषयक पुरुषार्थ का। यहाँ क्रियाकाण्ड को कोई विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ है और न ही ईश्वर के जगत-कर्तृत्व को स्वीकार किया गया है।

2.1.1. श्रमण का स्वरूप एवं इतिहास

श्रमण में प्रायः “साधु” अर्थ अवगत किया जाता है किन्तु श्रमण का मतलब मात्र साधुता नहीं है अपितु यह शब्द मनुष्य की श्रममूलक, शान्तिमूलक और समानतामूलक वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। इससे फलित होता है कि श्रमण संस्कृति मनुष्यों की वह धारा है जिसमें स्वयं के श्रम से शान्ति प्राप्त करने का सबको समानता का अधिकार है। उपर्युक्त अभिप्राय को हृदयंगम करने हेतु हमें यह जानना होगा कि

प्राकृत, पाली, अपभ्रंश साहित्य में संस्कृत के 'समण', 'शमण', 'सवणु', 'समणु' इत्यादि का प्रयोग दृष्टि-गोचर होता है। 'श्रम' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर श्रमण शब्द व्युत्पन्न होता है। जिसके भाषान्तर 'समण', 'शमण', 'सवणु', 'समणु' आदि हैं। यहाँ श्रमण के तीन अर्थ फलित होते हैं। -

- (1) उद्योग अथवा परिश्रम करने का भाव जिसमें हो वह श्रमण है।
- (2) शान्ति का भाव जहाँ प्रमुख हो वह शमण है।
- (3) समानता का भाव जहाँ आवश्यक हो वह समण है।

'श्रम' शब्द का अर्थ 'उद्योग करना' अथवा 'परिश्रम करना' समझें तो श्रमण संस्कृति का अर्थ होता है कि वह संस्कृति जिसमें मनुष्यों के द्वारा अपने उद्योग अथवा परिश्रम से आत्मविकास की चरम परिणति को प्राप्त किया जाता है।

इससे यह फलित होता है कि श्रमण संस्कृति का अनुयायी अपने पुरुषार्थ एवं सत्कर्मों रूपी श्रम से स्वयं ईश्वर बन सकता है इसके लिये किसी सर्वशक्तिमान ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है।

पुनश्च श्रमण को शमन अर्थ में अंगीकार करें तो ज्ञात होता है कि श्रमण वह है जो अपनी चिद्वृत्तियों अथवा विकार भावों का शमन करता है। उसकी साधना का आधार आत्म-चिन्तन है और इस श्रमण संस्कृति में आत्मचिन्तन का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी को समान रूप से प्राप्त है।

आत्मचिन्तन ही हमें हमारी विकृतियों का बोध करा सकता है और आत्मलीनता उनसे हमें बचा सकती है। अतः मोक्ष विषयक पुरुषार्थ का आलम्बन जो कोई भी ले उसे श्रमण होना ही पड़ेगा, यह अपरिहार्यता श्रमण संस्कृति के विषय में मान ली जाये तो इसकी सार्वभौमिकता, सर्वजनोपयोगिता सहज सिद्ध होती है।

‘सम’ के भाव से सम्पृक्त संस्कृति यदि श्रमण संस्कृति मानी जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि श्रमण संस्कृति में वर्णादिजन्य भेदभाव अथवा अमीर-गरीब आदि की असमानता का कोई महत्व नहीं है। यहाँ सभी को अपनी श्रेष्ठता को जानने, समझने और संरक्षित करने का समान अधिकार है। इस संस्कृति में हर व्यक्ति अपने कर्मों से, विद्या से, धर्म से और शील से अपनी विशुद्ध परिणति को पाने में सक्षम है। सभी को अहिंसात्मक तपःसाधना करने का समान अधिकार उपलब्ध है।

उपलब्ध साहित्य के पर्यवलोकन से ज्ञात होता है कि श्रमण अनेक प्रकार के हैं, जैन अनुयायी तो श्रमण माने ही जाते हैं, इसके अतिरिक्त देशकालगत संस्कारों के भेद से बनते बिगड़ते रहे हैं।

इतिहास

श्रमण परम्परा भारत की प्राचीनतम धार्मिक परम्परा प्रतीत होती हैं। जिसके संस्थापक कालचक्र के इस अवसर्पिणी काल में तीर्थंकर ऋषभदेव माने गये हैं। इनके प्रति बहुमान का भाव ऋग्वेद में स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

उपनिषद साहित्य एवं वाल्मीकि रामायण में श्रमण शब्द का उल्लेख होने से अनुमान किया जाता है कि वैदिक ऋचाओं में भी श्रमण विषयक कोई न कोई सन्दर्भ अवश्य होना चाहिये।

ऋग्वेद में वातरशना मुनियों और श्रमणों की साधना का चित्रण मिलता है। जिनका सम्बन्ध विशेषतः जैन मुनि परम्परा से रहा है। वातरशना मुनियों में ऋषभदेव प्रधान थे -

“मुनयो वातरशना पिशंगा वशते मला।
वात स्यानु ध्राजिं यान्ति यद्वेवासो अविक्षत।।
उन्मादिता मौनयेन वातां आतस्थिमां वयम्।
शरीरादेकस्माकं यूयं मर्ता सो अभिपश्यथ।।”¹

1. वैदिक कोश, पृ. 479

अर्थात् अतीन्द्रियार्थी वातरशना मुनिमल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण वाले दिखाई देते हैं।

जब वे वायु की गति को प्राणोपाशना द्वारा धारण कर लेते हैं—रोक लेते हैं तब वे अपने तपश्चरण की महिमा से दीप्तमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।

सार्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर वे मौनेय की अनुभूति में कहते हैं – “मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम अशरीरी ध्यानवृत्ति को प्राप्त होते हैं और तुम साधारणजन हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो, हमारे अभ्यन्तर स्वरूप को नहीं।” यह वर्णन निश्चित ही किसी वैदिकेतर तपस्वी का है और वह तपस्वी ऋषभदेव होंगे।

श्रीमद् भागवत में भी इसका उल्लेख इसप्रकार दृष्टिगोचर होता है – ‘श्रमणजन प्रायः संतुष्ट, करुणा और’ मैत्रीभावना से युक्त शान्त, दान्त, तितिक्षु आत्मा में रमण करने वाले और समदृष्टि कहे गये हैं –

“सन्तुष्टः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः ।

आत्मारामः समदृश प्रायशः श्रमणाजनाः ॥”

भागवत के अनुसार श्रमण दिगम्बर मुनि का ही नामान्तर है। वातरशना श्रमणों को आत्मविद्या विशारद ऋषि, शान्त, संन्यासी और अमल कहकर ऊर्ध्वगमन द्वारा उनके ब्रह्मलोक में जाने की बात कही है—

“श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदः ।

वातरशनाय ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्वितः ॥”

“ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः सन्यासिनोऽमिताः ॥”

जो वातरशना ऊर्ध्वमंथी श्रमण मुनि हैं वे शान्त, निर्मल, सम्पूर्ण परिग्रह से संन्यस्त ब्रह्म पद को प्राप्त करते हैं। वातरशना मुनियों का सम्बन्ध दिगम्बर श्रमणों से ही है।

1. जैनधर्म और दर्शन, पृ. 30

2. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास -2, पृ. 11

श्रमण संस्कृति के बारे में पाश्चात्य विद्वान डॉ. हरमन जैकोबी के अनुसार स्पष्ट हो जाता है कि श्रमण संस्कृति बहुत प्राचीन होनी चाहिये। श्रमण परम्परा का उद्भव पार्श्वनाथ के समय से स्वीकारने के विरोध में उन्होंने लिखा है कि -

“यह प्रमाणित करने के लिये कोई आधार नहीं है कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर मानने में सर्वसम्मति से एकमत है। इस पुष्ट परम्परा की कुछ ऐतिहासिकता भी हो सकती है जो आद्य तीर्थंकर को मानने को बाध्य कर देती है।”

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, प्रो. जिम्मेर, प्रो. विरूपाक्ष वार्डियर आदि कुछ जैनेतर विद्वान भी इस मत के प्रतिपादक हैं कि ऋग्वेद में जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से सम्बद्ध निर्देश उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है।

2.1.2. तीर्थंकर परम्परा: कर्मभूमि का प्रारम्भ

जैनदर्शन की दृष्टि से यह संसार अनादिकाल से सतत गतिशील चला आ रहा है, इसका न तो कहीं आदि है और न ही कहीं अन्त। यह विश्व परिवर्तनशील, परिणामी और नित्य है। मूलद्रव्य की दृष्टि से नित्य है और पर्याय दृष्टि से परिवर्तनशील है।

जैन पौराणिक परम्परा हमारे भारतवर्ष के उस समय के इतिहास को प्रस्तुत करती है जबकि यहाँ नागरिक सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। सम्पूर्ण सृष्टि के इस विकास को आचार्यों ने दो भागों में विभाजित किया है - भोगभूमि और कर्मभूमि।

जैनश्रुति के अनुसार इस अल्पकाल में पहले भोगभूमि थी। यहाँ के निवासी अपनी जीवन यात्रा कल्पवृक्षों से चलाते थे। उनके खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, भूषण, मकान, सजावट, प्रकाश और आनन्द विलास की सब आवश्यकतायें इन वृक्षों से ही पूर्ण हो जाती थी। जनसंख्या कम थी,

युगल उत्पन्न होते थे और दोनों ही जीवन सहचर बनकर साथ रहते थे और मरते भी साथ ही थे।

जब धीरे-धीरे यह भोगभूमि की व्यवस्था क्षीण हुई, जनसंख्या बढ़ी और कल्पवृक्षों की शक्ति प्रजा की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकी, तब कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। भोगभूमि में सन्तान युगल के उत्पन्न होते ही माँ-बाप युगल मर जाते थे। अतः कुटुम्ब रचना व समाज रचना का प्रश्न ही नहीं था।

प्रत्येक युगल स्वाभाविक क्रम से बढ़ता था और स्वाभाविक रीति से ही भोग भोगकर अपनी जीवन लीला प्रकृति की गोद में ही संवृत कर देता था। किन्तु जब सन्तान अपने जीवन-काल में ही उत्पन्न होने लगी और उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा की समस्याएँ सामने आयीं, तब भोग जीवन से कर्मजीवन प्रारम्भ हुआ। इसी समय क्रमशः चौदह कुलकर या मनु उत्पन्न होते हैं।

वे इन्हें भोजन बनाना, खेती करना, जंगली पशुओं से अपनी और सन्तान की रक्षा करना उनका सवारी आदि में उपयोग करना, चन्द्र-सूर्य आदि से निर्भय रहना तथा समाज रचना के मूलभूत अनुशासन के नियम आदि सभी कुछ सिखाते थे। ये विशिष्ट बल, बुद्धि, और प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति मानव समाज में कुलों की स्थापना करने के कारण कुलकर कहलाते हैं।

अन्तिम कुलकर श्री नाभिराय ने जन्म के समय बच्चों की नाभि का नाल काटना सिखाया था, इसलिये इनका नाम नाभिराय पड़ा। इनकी युगल सहचरी का नाम मरुदेवी था।

आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव - नाभिराय के ऋषभदेव नाम के पुत्र हुए। वस्तुतः कर्मभूमि का प्रारम्भ इन्हीं के समय से होता है। गाँव, नगर आदि इन्हीं के काल में बसे थे। इन्हीं ने अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को

अक्षराभ्यास के लिये लिपि बनाई थी। जो ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस लिपि का विकसित रूप वर्तमान नागरी लिपि है। भरत इन्हीं के पुत्र थे। जिनके नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा। ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में समाज-व्यवस्था की स्थिरता के लिये प्रजा का कर्म के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभाजन कर त्रिवर्ण की स्थापना की।

जो व्यक्ति रक्षा करने में कटिबद्ध और वीर प्रकृति के थे उन्हें क्षत्रिय, व्यापार और कृषिप्रधान वृत्तिवालों को वैश्य और शिल्प तथा नृत्य आदि कलाओं से आजीविका चलाने वालों को शूद्रवर्ण में स्थान दिया। ऋषभदेव के मुनि हो जाने के बाद भरत चक्रवर्ती ने तीन वर्णों में से व्रत और चारित्र धारण करने वाले सुशील व्यक्तियों का ब्राह्मण वर्ण बनाया। इसतरह गुण और कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित की। ऋषभदेव ही प्रमुख रूप से कर्मभूमि व्यवस्था के अग्रसूत्रधार थे अतः इन्हें आदिब्रह्मा या आदिनाथ कहते हैं।¹

प्रजा की रक्षा और व्यवस्था में तत्पर इन प्रजापति ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में जिस प्रकार व्यवहारार्थ राज्य व्यवस्था और समाज-रचना का प्रवर्तन किया, उसीतरह तीर्थकाल में व्यक्ति की शुद्धि और समाज में शान्ति स्थापना के लिये ' धर्मतीर्थ ' का भी प्रवर्तन किया। यही धर्मतीर्थ के आदिप्रवर्तक थे।

इनकी ऐतिहासिकता को सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान डॉ. हर्मन जैकोबी और सर राधाकृष्णन् आदि स्वीकार करते हैं तथा भागवत में जो ऋषभदेव का वर्णन मिलता है वह जैन परम्परा से कुछ मिलता-जुलता है।

भागवत में जैनधर्म के संस्थापक के रूप में ऋषभदेव का उल्लेख होना इस बात का साक्ष्य है कि ऋषभदेव के जैनधर्म के संस्थापक होने की अनुश्रुति निर्मूल नहीं है।

1. जैनदर्शन, पृ. 02

ऋग्वेद एवं बौद्ध साहित्य में भी ऋषभदेव की प्राचीनता का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ऋषभदेव का वर्णन प्राचीन इतिहास के अलावा अन्य साहित्यों में भी मिलता है। इसतरह वेद, भागवत और उपनिषदों में श्रमणों के तपश्चरण की महत्ता का भी वर्णन उपलब्ध होता है जो कि अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि उसका सम्बन्ध ऋषभदेव की तपश्चर्या से है।¹

भगवान ऋषभदेव के बाद अजितनाथ आदि 23 तीर्थंकर और हुये हैं। इन चौबीस तीर्थंकरों में अंतिम तीन तीर्थंकरों नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर को इतिहासकारों ने ऐतिहासिक महापुरुष मान लिया है। जिनका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है -

● तीर्थंकर नेमिनाथ

22वें तीर्थंकर नेमिनाथ नारायण कृष्ण के चचेरे भाई थे। इनका जन्म द्वारिका में पिता समुद्रविजय के यहाँ हुआ था। तीर्थंकर नेमिनाथ ने अहिंसा के लिये वैवाहिक कार्य का परित्याग कर अपने को आत्मसाधना में लगाया। इन्हीं का अरिष्टनेमि के रूप में उल्लेख यजुर्वेद में भी आता है।²

● तीर्थंकर पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ 23वें तीर्थंकर थे। जो बनारस के राजा विश्वसेन और वामादेवी के पुत्र थे। उन्होंने तपश्चरण द्वारा आत्मसिद्धि प्राप्त की और बिहार तथा कलिंगादि देशों में उपदेश द्वारा श्रमण संस्कृति का प्रसार किया और जनता को सन्मार्ग पर लगाया।

श्रमण परम्परा की सुसंस्कृत पृष्ठभूमि के रूप में उन्हें परिवार का वातावरण मिला। लगभग 30 वर्ष तक उन्होंने अध्यात्म-चिन्तनपूर्वक अपना समय घर में ही बिताया। बाद में वैराग्य लेकर तपस्वी हो गये और लगभग 100 वर्ष की अवस्था में वे सम्मेदशिखर पर्वत से निर्वाण को प्राप्त हुये।

1. भागवत पुराण, पृ. 5-6

2. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास -2, पृ. 13

पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व श्रमण परम्परा में प्रभावशाली था। बौद्ध साहित्य में उल्लिखित श्रमण सिद्धान्तों से उनका निकट सम्बन्ध था। महात्मा बुद्ध का चाचा वप्पशाक्य पार्श्वनाथ परम्परा का अनुयायी था।¹

‘धर्मोत्तर प्रदीप’ (पृष्ठ संख्या 286) में भी पार्श्वनाथ और अरिष्टनेमि को उद्धृत किया है। अधिक संभव है कि महात्मा बुद्ध स्वयं बोधि-प्राप्तकाल में पार्श्वनाथ परम्परा में कुछ समय के लिये दीक्षित रहे हों।² यह उनकी साधना से स्पष्ट है।³ इनके चातुर्याम संवर का उल्लेख बार-बार आता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इस चातुर्याम धर्म के प्रवर्तक भगवान पार्श्वनाथ थे। यह श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों के उल्लेखों से भी स्पष्ट है।

पार्श्वनाथ की करुणाद्र्दता, अहिंसाप्रियता, चिंतनशीलता एवं वात्सल्य का प्रभाव तत्कालीन आचार्यों पर निश्चित रूप से देखा जा सकता है। पिप्पलाद, भारद्वाज, नचिकेता जैसे वैदिक ऋषियों और केशकम्बिलि, संजयवेलट्टिपुत्त तथा बुद्ध जैसे तीर्थकरों के जीवन और दर्शन पर पार्श्वनाथ की चिन्तन परम्परा का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है। भगवान महावीर को तो निश्चित ही उनका आचार-विचार और दर्शन विरासत में मिला।

● तीर्थकर महावीर

तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ के 250 वर्ष पश्चात् प्रगतिशील परम्परा के संस्थापक 24वें तीर्थकर महावीर हुये। तीर्थकरों की यह परम्परा एक प्रमुख परम्परा रही है।

महावीर का जन्म ई.पू. 599 चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन रात्रि के अंतिम प्रहर में हुआ। पिता सिद्धार्थ नाथवंश के थे एवं कुण्डलपुर के प्रधान थे। माता त्रिशला लिच्छिविवंशीय राजा चेटक की पुत्री थी। माता-

1. अंगुत्तर निकाय, चतुष्क निपात, पृ. 5

2. मज्झिमनिकाय-2, पृ. 77

पिता के राजवंशों का परिवेश महावीर के व्यक्तित्व के विकास के लिये पर्याप्त था।

“महावीर ने भरी जवानी में राज्य के वैभव का परित्याग कर आत्म-साधना का अनुष्ठान किया और पूर्णज्ञानी बन जगत को ‘स्वयं सुखपूर्वक जिओ और दूसरों को सुखपूर्वक जीने दो।’ के सिद्धान्त का केवल प्रसार ही नहीं किया अपितु अपने जीवन में उतारकर लोक में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की।”¹

उनकी कल्याणकारी मृदुवाणी ने अनेकान्त दृष्टि द्वारा जगत के विरोधों को दूर किया। उन्होंने अहिंसा और समता की भावना द्वारा अहिंसा और विश्व शान्ति का लोक में प्रसार किया। जिसे जनमानस ने अपने जीवन का आदर्श बनाया। उसके बाद उनकी संघ परम्परा के श्रमणों द्वारा उन्हीं लोकोपकारी सिद्धान्तों का प्रसार किया जाता रहा।

“यही अहिंसा की दिव्य-ज्योति, विचार के क्षेत्र में अनेकान्त के रूप में प्रकट होती है, तो वचन व्यवहार के क्षेत्र में स्याद्वाद के रूप में जगमगाती है और समाज शान्ति के लिये अपरिग्रह के रूप में स्थिर आधार बनाती हैं यानि आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह ये वे चार महान स्तंभ हैं जिन पर जैनधर्म का सर्वोदय भव्य प्रासाद खड़ा हुआ है। युग-युग में तीर्थंकरों ने इसी प्रासाद का जीर्णोद्धार किया है और इसे युगानुरूपता देकर इसके समीचीन स्वरूप को स्थिर किया है।”²

जगत का प्रत्येक ‘सत्’ प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समूल नष्ट नहीं होता है। वह उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य इसप्रकार त्रिलक्षणमय है। यह ‘त्रिलक्षण परिणामवाद’ जैनदर्शन के मण्डप की आधार भूमि है।

भगवान महावीर ने धर्म के क्षेत्र में मानवमात्र को समान अधिकार

1. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास-2, पृ. 09

2. जैनदर्शन, पृ. 07

दिये थे। जाति, कुल, शरीर, आकार के बन्धन धर्माधिकार में बाधक नहीं थे। धर्म आत्मा के सद्गुणों के विकास का नाम है। सद्गुणों के विकास अर्थात् सदाचरण धारण करने में किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं हो सकता। धर्म की शीतल छाया प्रत्येक के लिये समान भाव से सुलभ हो, यही महावीर की अहिंसा और समता का लक्ष्य था। इसी लक्ष्य-निष्ठा ने धर्म के नाम पर किये जाने वाले पशुयज्ञों को निरर्थक ही नहीं, अनर्थक भी सिद्ध कर दिया था।

अहिंसा-झरना एक बार हृदय से जब झरता है तो वह मनुष्यों तक ही नहीं, प्राणीमात्र के संरक्षक और पोषक तक जा पहुँचता है।

वर्तमान में जो श्रुत उपलब्ध है वह इन्हीं भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट है। इसी श्रुत के दो भेद हैं – द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत। इन्होंने जो कुछ अपनी दिव्यध्वनि से कहा उसको इनके शिष्य गणधरों ने सूत्ररूप में गूँथा। गणधर अपनी कुशल पद्धति से तीर्थकरों के सर्वात्मक प्रवचन को द्वादशांग में विभाजित कर देते हैं। यही द्रव्यश्रुत कहलाता है और उससे होने वाले ज्ञान को भावश्रुत कहते हैं।

जिस प्रकार पुरुष के शरीर में दो हाथ, दो पैर, दो जाँघ, दो उरु, एक उदर, एक छाती, एक मुख और एक मस्तिष्क ये बारह अंग होते हैं उसी प्रकार श्रुतज्ञानरूप पुरुष के भी बारह अंग होते हैं।

यह श्रुत अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप में विभाजित हैं।¹ अंगप्रविष्ट श्रुत ही द्वादशांग श्रुत है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य द्रव्यश्रुत के इन दो भेदों में से अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं –

1. आचारांग	2. सूत्रकृतांग
3. स्थानांग	4. समवायांग
5. व्याख्याप्रज्ञप्ति	6. ज्ञातृधर्मकथा

7. उपासकाध्ययनांग	8. अंतःकृतदशांग
9. अनुत्तरोपपादिक दशांग	10. प्रश्नव्याकरणांग
11. विपाकसूत्रांग	12. दृष्टिप्रवादांग

यह तीर्थकरों के साक्षात् शिष्य श्रुतकेवली गणधरों के द्वारा सूत्रबद्ध किया गया। वह अंगपूर्वश्रुत इसलिये प्रमाण है क्योंकि इसके मूलवक्ता केवलज्ञान विभूतिवाले परमऋषि सर्वज्ञदेव हैं।

आरातीय आचार्यों द्वारा अल्पमति शिष्यों के अनुग्रह के लिये जो दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि रूप में रचा गया अंगबाह्य श्रुत है वह भी प्रमाण है क्योंकि अर्थरूप में यह श्रुत तीर्थकर प्रणीत अंगप्रविष्ट से पृथक् नहीं है अर्थात् इस अंगबाह्यश्रुत की परम्परा चूँकि अंगप्रविष्ट श्रुत से बंधी हुई है अतः उसी की तरह प्रमाण है। जैसे क्षीर समुद्र का जल घड़े में भर लेने पर मूलरूप में वह समुद्र जल ही रहता है।¹

2.1.3. आचार्य परम्परा

दिगम्बर पट्टावलियों एवं प्रशस्तियों से अवगत होता है कि श्रुत को सुनकर कंठस्थ कर लेने की परम्परा तीर्थकर महावीर के निर्वाण लाभ के पश्चात् कई शताब्दियों तक चलती रही। द्रव्य-गुण-पर्याय, तत्त्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त एवं आचार सम्बन्धी मौलिक मान्यताओं को परम्परा से प्राप्त कर स्मरण बनाये रखने की प्रथा धारावाहिक रूप में चलती रही। तीर्थकर महावीर के निर्वाणगमन के पश्चात् दिगम्बर आचार्यों ने वाङ्मय का प्रणयन कर रत्नत्रय धर्म की ज्योति को सतत प्रज्वलित किया।

आत्मशोधन और आत्म-आराधन के साथ श्रुत के अखण्ड दीप को सदैव प्रज्वलित रखने हेतु परम्परा से प्राप्त ज्ञानराशि को उन्होंने मूर्तरूप देकर सरस्वती का अवतार प्रस्तुत किया।

वस्तुतः दिगम्बर आचार्यों ने महावीर की परम्परा को जीवित रखने

1. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 1/20

के लिये अगणित ग्रन्थों का प्रणयन कर अपनी साधना में गुणात्मक परिवर्तन कर परम्परा को जीवन्त रखा है।

आचार्य परम्परा का कार्य श्रुतज्ञान को सुरक्षित रखना है। तीर्थंकर की वाणी को सर्वसामान्य तक पहुँचाने का कार्य आचार्यों द्वारा ही होता है। परम्परा से मौखिक रूप में प्राप्त ज्ञान को लिपिबद्ध कर देना आचार्य परम्परा का विशिष्ट कार्य है। जैनाचार्यों द्वारा रचित वाङ्मय बहुत विशाल और व्यापक है। इसे आगम में श्रुतज्ञान कहा जाता है।¹

महावीर स्वामी के शिष्य गौतम गणधर ने एक मुहूर्त में बारह अंग और चौदह पूर्वों की रचना की इसलिये गौतम स्वामी को ग्रन्थकर्ता कहा जाता है और गौतमस्वामी से वाङ्मय गूँथने का कार्य प्रारम्भ हुआ है। इस प्रकार तीर्थंकर महावीर श्रुत के अर्थकर्ता होने से उन्हें मूल-ग्रन्थकर्ता तथा शेष आचार्यों को उत्तरग्रन्थकर्ता कहा जाता है।²

नन्दिसंघ-बलात्कारण-सरस्वती गच्छ की पट्टावलियों में बताया गया है कि गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ने बासठ वर्षों तक धर्म प्रचार का कार्य किया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार जिस दिन महावीर भगवान का परिनिर्वाण हुआ उसी दिन गौतम गणधर ने केवलज्ञान प्राप्त किया। गौतम के सिद्ध हो जाने पर सुधर्माचार्य केवली हुए। सुधर्मा स्वामी के सिद्ध हो जाने पर जम्बूस्वामी अंतिम अनुबद्ध केवली हुए - इन तीनों केवलियों का काल 62 वर्ष है।³ तत्पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए।

अंतिम केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों की गुर्वावलियाँ भिन्न हो जाती हैं किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय वे गंगा यमुना के समान पुनः मिल जाती हैं। तथा भद्रबाहु श्रुतकेवली के पश्चात् जैन परम्परा स्थायी रूप से दो विभिन्न

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा-2, पृ. 06

2. वही, पृ. 07

3. जयधवला भाग -1, पृ. 23-30

स्रोतों में प्रवाहित होने लगती है। अतएव भद्रबाहु श्रुतकेवली दोनों ही परम्पराओं में मान्य हैं।

तिलोयपण्णत्ती और धवलादि ग्रन्थों में जो श्रुत परम्परा दी है, वह लोहाचार्य तक हैं। उनमें अर्हद्वली धरसेन, माघनन्दि और पुष्पदन्त-भूतबली का उल्लेख नहीं है। इनके अनुसार इनका समय लोहाचार्य के बाद पड़ता है।

महावीर स्वामी के पश्चात् इस काल में इस क्षेत्र में तीर्थंकरों का साक्षात् अभाव हुआ लेकिन तीर्थंकरों की श्रमण परम्परा अविरल रूप से चलती रही¹ जिसके अन्तर्गत दिगम्बर जैन ग्रन्थों में आचार्यों की परम्परा निम्नानुसार कही गयी है -

श्री तीर्थंकर सर्वज्ञदेव महावीरस्वामी के मुक्त होने के पश्चात् **तीन केवलज्ञानी** हुए -

1. गौतम गणधर 2. सुधर्मास्वामी और 3. जम्बूस्वामी
तत्पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुये, जिनको द्वादशांग का ज्ञान था -

1. विष्णु 2. नन्दिमित्र
3. अपराजित 4. गोवर्धन 5. भद्रबाहु
तत्पश्चात् 11 दशपूर्वधारी हुए -

1. विशाख 2. प्रौष्ठिल 3. क्षत्रिय
4. जयसेन 5. नागसेन 6. सिद्धार्थ
7. घृतिषेण 8. विजय 9. बुद्धिल
10. गंगदेव 11. धर्मसेन

तत्पश्चात् पाँच ग्यारह अंगों के धारक हुए -

1. नक्षत्र, 2. जयपाल, 3. पांडु, 4. ध्रुवसेन, 5. कंस

1. अष्टपाहुड़ - सूत्रपाहुड़ गाथा, पृ. 02

तत्पश्चात् चार एक अंग के धारक हुए -

1. सुभद्र, 2. यशोभद्र, 3. भद्रबाहु, 4. लोहाचार्य

तत्पश्चात् एक अंग के पूर्ण ज्ञानी की व्युच्छिति हुई तथा अंग के एकदेश के ज्ञानी आचार्य हुए। उनके नाम -

अर्हद्वली, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबली, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, शिवकोटि, शिवायन, पूज्यपाद, वीरसेन, जिनसेन, नेमिचन्द्र इत्यादि।¹

तीन केवली²

1. गौतमस्वामी	-	12 वर्ष
2. सुधर्मास्वामी	-	12 वर्ष
3. जम्बुस्वामी	-	38 वर्ष

कुल योग - 62 वर्ष

पाँच श्रुतकेवली -

1. विष्णुकुमार	-	14 वर्ष
2. नन्दिमित्र	-	16 वर्ष
3. अपराजित	-	22 वर्ष
4. गोवर्धन	-	19 वर्ष
5. भद्रबाहु	-	29 वर्ष

कुल योग - 100 वर्ष

इसप्रकार भगवान महावीर के निर्वाण के बाद 162 वर्ष पर्यन्त केवली व श्रुतकेवली रहे।

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-1, पृ. 328

2. जयधवला भाग-1, पृ. 85

तत्पश्चात् 11 दसपूर्वधारी -

1. विशाखाचार्य	-	10 वर्ष
2. प्रौष्ठिलाचार्य	-	19 वर्ष
3. क्षत्रियाचार्य	-	17 वर्ष
4. जयसेनाचार्य	-	21 वर्ष
5. नागसेनाचार्य	-	18 वर्ष
6. सिद्धार्थाचार्य	-	17 वर्ष
7. घृतिषेणाचार्य	-	18 वर्ष
8. विजयाचार्य	-	13 वर्ष
9. बुद्धिलाचार्य	-	20 वर्ष
10. गंगदेवाचार्य	-	14 वर्ष
11. धर्मसेनाचार्य	-	16 वर्ष

कुल योग - 183 वर्ष

पाँच ग्यारह अंगों के धारक -

1. नक्षत्राचार्य	-	18 वर्ष
2. जयपालाचार्य	-	20 वर्ष
3. पांडवाचार्य	-	39 वर्ष
4. ध्रुवसेनाचार्य	-	14 वर्ष
5. कंसाचार्य	-	32 वर्ष

कुल योग - 123 वर्ष

चार एक अंग के धारक -

1. सुभद्राचार्य	-	6 वर्ष
2. यशोभद्राचार्य	-	18 वर्ष

3. भद्रबाहु द्वितीय	–	23 वर्ष
4. लोहाचार्य	–	50 वर्ष
कुल योग – 97 वर्ष		

एकदेश अंग के धारी –

1. अर्हद्वली	–	28 वर्ष
2. माघनन्दि	–	21 वर्ष
3. धरसेनाचार्य	–	19 वर्ष
4. पुष्पदन्ताचार्य	–	30 वर्ष
5. भूतबली आचार्य	–	20 वर्ष

कुल योग – 118 वर्ष

अंग परम्परा का कुल काल –

62 वर्ष+100 वर्ष+183 वर्ष+123 वर्ष+97 वर्ष+118 वर्ष

– कुल 683 वर्ष काल।

परम्परा

वर्तमान काल में चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों में अभी अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का शासन चल रहा है। 527 ई.पू. में उनके निर्वाण के पश्चात् गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य एवं जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए तथा विष्णुनन्दि, नन्दिमित्र, अपराजिताचार्य, गोवर्धनाचार्य एवं आचार्य भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु महान सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे। इतिहास साक्षी है कि सम्राट चन्द्रगुप्त ने श्रुतकेवली भद्रबाहु से दिगम्बर जैन मुनि दीक्षा ली थी एवं घोर तपस्या की थी। इसके उपरान्त विशाखाचार्य आदि ग्यारह आचार्य दस पूर्व ज्ञान के धारी हुए। तथा इनके बाद नक्षत्राचार्य आदि पाँच आचार्य हुए, जिन्हें ग्यारह अंग प्रमाण श्रुत का ज्ञान था। फिर

क्रमशः दस, नौ, और आठ अंगों के ज्ञाता आचार्य सुभद्राचार्य, यशोभद्राचार्य, आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) एवं लोहाचार्य हुए। इनके बाद मात्र एक अंग ज्ञान के धारी पाँच आचार्य हुए।

यहाँ तक केवली के द्वारा दिये गये धर्मोपदेश को बुद्धिबल एवं तपस्या के प्रभाव द्वारा ये आचार्य श्रुत परम्परा के रूप में सुरक्षित रखते आये, किन्तु इसके बाद काल प्रभाव एवं स्मृति-क्षीणता आदि कारणों से यह श्रुतपरम्परा प्रायः विच्छिन्न होने लगी। मात्र बारहवें अंग के भेद चौदह पूर्वों में से कुछ ज्ञान ही शेष बचा, तब तत्कालीन आचार्यों ने उस बचे हुए श्रुतज्ञान को ग्रन्थबद्ध करने का निर्णय लिया और इसप्रकार से श्रुत का साहित्यिक रूप प्रवर्तित हुआ।

इस युगान्तरकारी महान कार्य के प्रवर्तकों में चार नाम प्रमुख हैं -

1. गुणधराचार्य (कषायपाहुड़ के रचयिता)
- 2-3. आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबली (षट्खण्डागम के प्रणेता)
4. आचार्य कुन्दकुन्द (चौरासी पाहुड़ के निर्माता)

इस प्रकार केवलियों एवं श्रुतकेवलियों की परम्परा से प्राप्त मूलतत्त्वज्ञान का संरक्षण कर उसे ग्रन्थबद्ध करने वाले आचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द का भारी योगदान एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

आचार्य गुणधर एवं आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली ने मूल तत्त्वज्ञान का ही संरक्षण किया था। तथापि उनके ग्रन्थों में देशकाल के अनुरूप स्पष्ट ज्ञान-दर्शन का अभाव था क्योंकि उस समय जहाँ एक ओर जैन संघ में अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय हुए संघभेद से उत्पन्न श्वेताम्बर सम्प्रदाय की आडम्बरपूर्ण बातें जनमानस को दिग्भ्रमित कर रही थीं, वहीं पर भारतीय समाज में धर्म के मूल तत्त्वज्ञान एवं वैराग्य के स्थान पर श्रृंगारिक भक्ति, कर्मकाण्ड एवं अन्य आडम्बर जोर-शोर से चल पड़े थे।

ऐसे विषम वातावरण में मूल तत्त्वज्ञान को सुरक्षित रखते हुये उक्त समस्त आडम्बरों का दो दूक निराकरणपूर्वक समाज के लिए अध्यात्म दृष्टि एवं निर्दोष आचरण पद्धति का अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से निरूपण कर आचार्य कुन्दकुन्द ने मूल दिगम्बर जैन आम्नाय की रक्षा ही नहीं की अपितु उसकी अत्यन्त स्पष्ट व्याख्या भी प्रस्तुत की।

इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान एवं आचरण तीनों क्षेत्रों में सही अर्थों में कुन्दकुन्द अभूतपूर्व 'युगप्रवर्तक आचार्य' थे। उनके इस गरिमामय व्यक्तित्व का अखण्ड प्रभाव आज भी बना हुआ हैं। तथा जैन परम्परा आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से आज भी पहचानी एवं प्रमाणित की जाती हैं। और तो और अध्यात्म विषयक साहित्य की रचना करने का श्रेय भी आचार्य कुन्दकुन्द को ही जाता है।

द्वादशांग श्रुत के अन्तर्गत आत्मप्रवाद पूर्व में अध्यात्म विषयक विवेचन समाहित था। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यंत अक्षुण्ण गति से प्रवाहित जैन अध्यात्म, योग, सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान तथा आचारमूलक परम्परा को अंगपूर्व ज्ञानधारी आचार्यों ने भलीभाँति प्रचलित तथा प्रसारित किया। किन्तु उक्त परम्परा मौखिक रूप से ही प्रवाहमान रही।

तत्पश्चात् आचार्य धरसेन ने इस परम्परा में शिष्यों को सुशिक्षित किया और मुख्यतः अध्यात्म परम्परा का प्रारम्भ आचार्य भूतबली-पुष्पदन्त से षट्खण्डागम के रूप में हुआ। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार के आधार पर परवर्ती साहित्यिक आचार्यों ने आध्यात्मिक ग्रन्थों का सृजन करके आध्यात्मिक परम्परा को परिपुष्ट किया।

इसी परम्परा में हुए आचार्यों के अध्यात्म परम्परा से सम्बद्ध साहित्य का एवं इनकी परिपाटी में हुए आचार्यों का विवेचन इस प्रकार है -

आचार्य स्वामी कार्तिकेय - कार्तिकेयानुप्रेक्षा

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी -	तत्त्वार्थसूत्र
आचार्य समन्तभद्र -	स्वर्यंभू स्तोत्र, स्तुति-विद्या, देवागम स्तोत्र, रत्नकरण्ड- श्रावकाचार आदि
आचार्य सिद्धसेन दिवाकर -	सन्मति सूत्र
आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद -	समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि
आचार्य योगीन्दुदेव -	परमात्म प्रकाश, योगसार, अमृताशीति
आचार्य अकलंकदेव -	स्वरूप संबोधन, परमानन्द स्तोत्र आदि
आचार्य देवसेन -	दर्शनसार, तत्त्वसार
मुनि नागसेन -	तत्त्वानुशासन
आचार्य अमितगति -	योगसार प्राभृत, तत्त्व भावना
आचार्य अमृतचन्द्रदेव -	समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय की टीकायें आदि
आचार्य जयसेन -	समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय की टीकायें
मुनि रामसिंह -	दोहा पाहुड़
आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव -	द्रव्यसंग्रह
आचार्य पद्मनन्दि -	पद्मनन्दि पंचविंशतिका
ब्रह्मदेव सूरि -	परमात्मप्रकाश और वृहद्द्रव्य- संग्रह की टीका
पद्मप्रभमलधारीदेव -	नियमसार की टीका
आचार्य प्रभाचन्द्रदेव -	समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय की टीकायें

भट्टारक ज्ञानभूषण	–	तत्त्वज्ञान तरंगिणी
संत तारणतरण	–	ज्ञान समुच्चयसार, उपदेश शुद्धसार, ममल पाहुड़ आदि

2.1.4. विद्वत् परम्परा एवं कानजी स्वामी

यही आध्यात्मिक परम्परा आचार्यों से प्रवाहित होती हुई प्राचीन विद्वानों के संपर्क में आई और विद्वत्परम्परा के साहित्य में यह समृद्ध होकर चरम शिखर पर पहुँच गई। वास्तव में जैन गृहस्थ विद्वानों का भी इस उपलब्धि में महत्वपूर्ण योगदान है जिसका विवरण निम्न प्रकार से है—

पं. आशाधर	–	अध्यात्म रहस्य आदि
पं. राजमल पाण्डे	–	समयसार कलश टीका, पंचाध्यायी
पं. बनारसीदास	–	समयसार नाटक, परमार्थवचनिका, निमित्त – उपादान की चिट्ठी
पं. टोडरमल	–	मोक्षमार्ग प्रकाशक, रहस्यपूर्ण चिट्ठी
पं. जयचन्द छबड़ा	–	समयसार वचनिका, सर्वार्थसिद्धि वचनिका, द्रव्यसंग्रह वचनिका आदि
पं. बुधजन	–	छहढाला एवं भजन
पं. दौलतराम	–	छहढाला एवं भजन
पं. दीपचन्द कासलीवाल	–	अनुभव प्रकाश, आत्मावलोकन, भावदीपिका, चिद्विलास, ज्ञानदर्पण आदि
भैया भगवतीदास	–	ब्रह्मविलास, निमित्तोपादान संवाद, भजन
पं. वृन्दावनदास	–	प्रवचनसार परमागम, विधान-पूजन
पं. भूधरदास	–	छहढाला, बारहभावना,
पं. द्यानतराय	–	द्यानत विलास, पूजन, भजन

पं. टेकचन्द	-	सुदृष्टि तरंगिणी
पं. भागचन्द छजेड़	-	सत्ता स्वरूप
क्षु. धर्मदास	-	सम्यग्ज्ञान दीपिका, स्वात्मानुभव मनन, भाषा वाक्यावली
श्रीमद् राजचन्द्र	-	आत्म-प्रसिद्धि, अपूर्व अवसर
ब्र. शीतलप्रसाद	-	समयसार आदि ग्रन्थों पर हिन्दी टीकायें

उक्त आध्यात्मिक परम्परा का साहित्य वर्तमान में उपलब्ध है। इसी परम्परा के अन्तर्गत क्षु. गणेश प्रसाद जी वर्णी, सहजानन्द वर्णी एवं कानजी स्वामी ने इन्हीं ग्रन्थों पर सरल, सुबोध भाषा में अपनी व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं जो इनके प्रवचन साहित्य के रूप में उपलब्ध है।

इन सबमें कानजी स्वामी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनका विपुल आध्यात्मिक साहित्य है। जिसका मूल्यांकन पृथक् से चतुर्थ अध्याय में किया जा रहा है।

कानजी स्वामी से प्राप्त देशना से प्रभावित होकर अनेक मनीषियों ने उनकी शिष्य परम्परा में साहित्य की संरचना की एवं उनकी परम्परा को गति प्रदान की है। जिसमें विशेष उल्लेखनीय नाम निम्न हैं -

रामजी भाई माणिकचन्द दोशी, सोनगढ़ - मोक्षशास्त्र टीका, धर्म की क्रिया, सैद्धान्तिक चर्चा

लालचन्द भाई, राजकोट - शुद्ध अन्तःतत्त्व, चैतन्यविलास, चैतन्य ज्योति, द्रव्य स्वभाव पर्याय स्वभाव।

निहालचन्द सोगानी, कलकत्ता - द्रव्यदृष्टिप्रकाश भाग-2, पत्र व तत्त्वचर्चा का मृदुतन।

बाबू जुगलकिशोर 'युगल', कोटा - चैतन्य विहार, चैतन्य वाटिका, चैतन्य की चहल-पहल, उपासना, भरत-बाहुबली नाटक।

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर - समयसार अनुशीलन आदि 55 ग्रन्थों की रचना एवं सम्पादन।

नेमीचन्द पाटनी, आगरा - सुखी होने का उपाय एक से आठ भाग।

पं. कैलाशचन्द, बुलन्दशहर - जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला एक से सात भाग।

शशिकान्त एम. शेठ, भावनगर - अनुभव संजीवनी, तत्त्वानुशीलन, निर्भ्रान्त दर्शन की पगडण्डी आदि 20 ग्रन्थों की रचना।

पं. रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर - हरिवंशकथा, षट्कारक परिशीलन, इन भावों का फल क्या होगा, द्रव्य दृष्टि, सुखी जीवन आदि 16 ग्रन्थों की रचना एवं सम्पादन।

राजमल पवैया, भोपाल - 150 पूजन-विधान के रचनाकार, 1500 से अधिक भजन, लगभग 300 पूजन की रचना।

2.2. प्रमुख सम्प्रदाय

प्रत्येक धर्म में यथासम्भव संघ और सम्प्रदाय खड़े होते रहे हैं जैसे - बौद्ध धर्म में गौतम बुद्ध के पश्चात् विभिन्न सम्प्रदाय प्रचलित हुए। वैदिक धर्म के विभिन्न मतों में भेद हुआ। जैनधर्म में भी प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ जब धर्मतीर्थ के प्रवर्तक हुए तो उनके पौत्र मारीचि ने ही विभिन्न विरोधी मत-मतान्तर स्थापित करके अपना विरोध प्रारम्भ किया। भगवान महावीर के बाद अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के महाप्रयाण के पश्चात् विभिन्न मत आचार पक्ष को लेकर आगे आये।

इन सम्प्रदायों के निर्माण के पीछे सैद्धान्तिक मतभेद और आचार्यों का बहुश्रुतत्व तथा सामाजिक आवश्यकता जैसे कारण रहे हैं। अतः स्पष्ट है कि हर तीर्थंकर अथवा महापुरुष के देहावसान के बाद उनके सम्प्रदाय या अनुयायियों में मतभेद पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार भगवान महावीर के

निर्वाण के बाद उनका सम्प्रदाय दो भागों में बँट गया¹ -

- (1) दिगम्बर सम्प्रदाय (2) श्वेताम्बर सम्प्रदाय

उक्त दोनों सम्प्रदायों में अपनी-अपनी परम्परायें हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय पूर्णतः अचेलकत्व को स्वीकार करता है पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय सवस्त्र अवस्था को मान्यता प्रदान करता है। दोनों सम्प्रदायों के मतभेद का मूल कारण वस्त्र है।

2.2.1. दिगम्बर सम्प्रदाय

दिगम्बर सम्प्रदाय अनेक भागों में विभक्त हो गया। वीर निर्वाण से 683 वर्ष तक चली आई लोहाचार्य तक की परम्परा में कुल, गण, संघ, आदि की स्थापना नहीं हुई थी। उसके बाद अंगपूर्व के एकदेश के ज्ञाता चार आरातीय मुनि हुए। उनमें आचार्य शिवगुप्त अथवा अर्हद्वली से नवीन संघ और गणों की उत्पत्ति हुई।

महावीर के निर्वाण के बाद आचार-विचार में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। समाज का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, और सांस्कृतिक ढाँचा बदल चुका था। शिथिलाचार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इस कारण नये संघ और सम्प्रदाय खड़े हो गये।

दिगम्बर परम्परा संघ को निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ कहा जाता है। कालान्तर में जब शिथिलाचार बढ़ने लगा तो उसकी विशुद्धि के लिये नये-नये आन्दोलन प्रारंभ हो गये। भट्टारक युगीन संघ तो इस शिथिलाचार का बहुत अधिक शिकार हुआ। फलस्वरूप विभिन्न संघ सम्प्रदाय बन गये।

इन संघ-सम्प्रदायों में मतभेद का मुख्य आधार आचार-विचार प्रक्रिया थी। विचारों में भेद अधिक नहीं आ पाया। वनों में निवास करने वाले मुनि नगर की ओर जाने लगे, मंदिरों और चैत्यों में निवास करने लगे। लगभग 10वीं शताब्दी तक यह प्रवृत्ति अधिक दृढ़ हो गई। विशुद्ध आचारवान

1. जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ. 38

भिक्षुओं ने इसका विरोध किया और शिथिलाचारी साधुओं की भर्त्सना कर उन्हें जैनाभासी और मिथ्यात्वी जैसे संबोधनों से सम्बोधित किया।

इन सभी कारणों से दिगम्बर सम्प्रदाय में अनेक संघों की स्थापना हो गई। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।¹

1. मूलसंघ

शिथिलाचारी साधुओं के विरोध में विशुद्धतावादी साधुओं ने जिस आन्दोलन को चलाया उसे मूलसंघ कहा गया। मूलसंघ के संस्थापकों ने यह नाम देकर अपना सीधा सम्बन्ध महावीर से जोड़ने का प्रयास किया और शेष संघ को अमूल बता दिया। इस संघ का विशेष संबंध कुन्दकुन्द से रहा है। इन सभी संघों पर निर्ग्रन्थ और यापनीय संघों का प्रभाव अधिक रहा है। मूलसंघ जैसे ही काष्ठा-द्रविड़ आदि और भी संघ स्थापित हुए।

“आचार्य इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में मूलसंघ का परिचय देते हुए लिखा है कि पुण्डवर्द्धनपुर के निवासी आचार्य अर्हदवली पाँच वर्ष के अन्त में सौ योजन में रहने वाले मुनियों को एकत्र कर युग-प्रतिक्रमण किया करते थे। एक बार इसीप्रकार प्रतिक्रमण के समय उन्होंने मुनियों से पूछा - “क्या सभी मुनि आ गये ?” मुनियों से उत्तर मिला हाँ, हम सब संघ के साथ आ गये।” अर्हदवली ने उत्तर पाकर यह सोचा कि समय बदल रहा है, अब जैनधर्म का अस्तित्व गणपक्षपात के आधार पर ही रह सकेगा। तब उन्होंने संघ अथवा गण स्थापित किये।

गुफाओं से आने वाले मुनियों को “नन्दि” अथवा “वीर” संज्ञा दी। अशोक वाटिका से आने वालों को ‘देव’ और ‘अपराजित’ कहा। पंचस्तूप से आने वालों को ‘सेन’ अथवा ‘भद्र’ नाम दिया। शाल्मलि वृक्ष से आने वालों को “गुणधर” और “गुप्त” बताया। तथा खण्डकेसर से आने वालों को “सिंह” और “चन्द्र” कहकर पुकारा।²

1. जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ. 06

2. जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ. 47

परवर्ती अभिलेखों में मूलसंघ के प्रणेता कुन्दकुन्दाचार्य¹ माने गये हैं तथा पट्टावलियों में माघनन्दि को प्रथम स्थान दिया गया है।

इसी सन्दर्भ में इन्द्रनन्दि के कुछ मतभेदों का भी उल्लेख हुआ है जिससे यह पता चलता है कि इन्द्रनन्दि को भी संघभेद का स्पष्टज्ञान नहीं था। पर यह निश्चित था कि उस समय भी गण प्रचलित थे।²

मूलसंघ के संघ, गण, गच्छ, अन्वय, आदि इन भेद-प्रभेदों के बावजूद उन में शुद्धाचारी और तपस्वी श्रमणों की कमी न थी। और ऐसे ही श्रमणों ने शिथिलाचार को दूर करने एवं श्रमणसंघ की परम्परा को सुदृढ़ करने में महा योगदान दिया।³

मूलसंघ के आचार्यों ने इतर संघों को जैनाभास कहा है। ऐसे संघों में उन्होंने द्रविड़, काष्ठा, यापनीय, माथुर और भिल्लक संघों की गणना की है क्योंकि जैनाभास बताने का मूल कारण यह था कि इनमें शिथिलाचार की प्रवृत्ति अधिक आ चुकी थी और मंदिर आदि का निर्माण करते थे, पर यह ठीक नहीं था।

पं. आशाधर जैसे विद्वान इसी जैनाभास संघों में से थे। जिन्होंने शिथिलाचार की कठोर निन्दा की है। दर्शनपाहुड़ की टीका में श्वेताम्बर सम्प्रदाय को भी जैनाभासी संघों में परिगणित किया है।

निर्ग्रन्थ महाश्रमण ही मूलसंघ के नाम से लोक में विश्रुत हुआ। मूलसंघ परम्परा ही भगवान महावीर की निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा है। दूसरी परम्परा मूल परम्परा नहीं कही जा सकती। इस परम्परा की प्रतिष्ठा कुन्दकुन्दाचार्य जैसे श्रमणों से हुई है।

2. द्रविण संघ

द्रविड़ देश में रहने वाले जैन श्रमण समुदाय का नाम द्रविड़ संघ है।

1. जैनशिलालेख संग्रह-प्रथम खण्ड्य, पृ.क्र. 05

2. नीतिसार, भट्टारक इन्द्रनन्दि, पृ. 68

3. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 416

द्रविड़ संघ का संबंध तमिल प्रदेश से रहा है। ई. पूर्व चतुर्थ शताब्दी में वहाँ जैनधर्म पहुँच चुका था। सिंघलद्वीप में जो जैनधर्म पहुँचा वह तमिल होकर ही गया। आचार्य देवसेन ने इस संघ की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि – देवनन्दि के शिष्य वज्रनन्दि ने वि.सं. 526 में मथुरा में इस संघ की स्थापना की थी¹ – इस संघ की दृष्टि में वाणिज्य व्यवसाय से जीविकोपार्जन करना और शीतलजल से स्नानादि करना विहित माना गया है।

उसके अनुसार बीजों में जीव नहीं होते तथा मुनियों को खड़े-खड़े भोजन करने का कोई विधान नहीं। तमिल प्रदेश में शैव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। सप्तम शताब्दी में उनके जैनों के साथ अनेक संघर्ष भी हुए। इस संघ को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से इसके यक्ष-यक्षणियों की पूजा प्रतिष्ठा आदि को भी स्वीकार कर लिया गया। पद्मावती की मान्यता यहीं से आरम्भ हुई प्रतीत होती है। जटाधारी भी इसी संघ में थे। द्रविड़ संघ में अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। उनमें वादिराज आचार्य और मल्लिषेण विशेष उल्लेखनीय हैं।

3. काष्ठा संघ

काष्ठा संघ की उत्पत्ति मथुरा के समीपवर्ती काष्ठा ग्राम में हुई थी। इस संघ में मयूरपिच्छ के स्थान पर गोपिच्छ रखने की अनुमति दी गई।

इस संघ में जयसेन, महासेन, कुमारसेन, रामसेन, सोमकीर्ति, अमितगति आदि अनेक प्रसिद्ध आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं। अग्रवाल, खण्डेलवाल, आदि उपजातियाँ इसी संघ के अन्तर्गत निर्मित हुई हैं। इस संघ ने स्त्रियों को दीक्षा देने का, क्षुल्लकों को वीर्यचर्या का, मुनियों को कड़े बालों की पिच्छी रखने का और रात्रिभोजन त्याग नामक छोटे गुणव्रत का विधान किया है।² दर्शनपाहुड़ के अनुसार चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर, साधक के लिये समभावी होना चाहिये।

1. जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ. 47

2. दर्शनसार, पृ. 34-36

दर्शनसार में काष्ठा संघ की उत्पत्ति दक्षिण प्रान्त में आचार्य जिनसेन के सतीर्थ्य विनयसेन के शिष्य कुमारसेन के द्वारा जो नन्दितट पर रहते थे, वि.सं. 753 में हुई बतलाई गई है और कहा है कि उन्होंने कर्कशकेश अर्थात् गौ की पूँछ की पिच्छी ग्रहण कर सारे वागड़ देश में उन्मार्ग चलाया। फिर इसके दो सौ वर्ष बाद अर्थात् वि.सं.953 के लगभग मथुरा में माथुरों के गुरु रामसेन ने निःपिच्छिक रहने का उपदेश दिया और कहा कि न मयूरपिच्छ रखने की आवश्यकता है और न गौ पुच्छ की पिच्छि।¹

किन्तु पं. बुलाकीदास के वचन कोष में जो वि.सं. 1737 में बना है, लिखा है कि काष्ठा संघ की उत्पत्ति उमास्वामी के पट्टाधिकारी लोहाचार्य द्वारा अगरोहा नगर में हुई और काष्ठा की प्रतिमा के पूजन-विधान करने से उसका नाम काष्ठ संघ पड़ा।²

बाबू कामता प्रसादजी ने काष्ठा संघ की उत्पत्ति की कल्पना की है कि यह संघ मथुरा के निकट जमुना के तट पर स्थित काष्ठा ग्राम से निकला है।³

4. यापनीय संघ

दर्शनसार के अनुसार इस संघ की उत्पत्ति वि.सं. 205 में कल्याणनामा नगर में श्री कलश नामक श्वेताम्बर साधु ने की थी। इस संघ के साधु नग्न रहते थे। मयूर पिच्छ रखते थे। तथा पाणितल भोजी थे और नग्न मूर्ति की पूजा करते थे।⁴ पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार उनके विचार थे।

वे स्त्री मुक्ति, केवली कवलाहार और सवस्त्र मुक्ति मानते थे। उनमें कल्पसूत्र, आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्त दशवैकालिक आदि श्वेताम्बरीय

1. दक्षिण भारत में जैनधर्म, पं. कैलाशचन्द शास्त्री, पृ.क्र. 50

2. जैनसाहित्य और इतिहास, नाथूराम 'प्रेमी', पृ.क्र. 276

3. जैन श्रमण स्वरूप और समीक्षा, डॉ. योगेशचन्द जैन, पृ.क्र. 80

4. षट्दर्शन समुच्चय षट्प्राभृत टीका, महेन्द्रकुमार न्यायतीर्थ, पृ.क्र. 76

ग्रन्थों का भी अध्ययन होता था। यापनीय संघ को ' गोप्पसंघ ' भी कहते थे।

यापनीय संघ के आचार्य साहित्य के सृजन में भी अग्रणी थे। पाल्यकीर्ति का शकटायन व्याकरण, अपराजित की मूलाराधना पर विजयोदया टीका और शिवार्य की भगवती आराधना आदि प्रमुख हैं। उमास्वामि, सिद्धसेन दिवाकर, विमलसूरि, स्वयंभू आदि आचार्य को भी यापनीय संघ से सम्बद्ध माना गया है।¹

5. भट्टारक सम्प्रदाय

समय और परिस्थिति के अनुसार सम्प्रदायों में फेरबदल होता रहा है। यह संघ मूलतः निस्परिग्रही और वनवासी था। पर चौथी-पांचवीं शताब्दी में कुछ साधु चैत्यों में आवास करने लगे। यह प्रवृत्ति श्वेताम्बरों के साथ दिगम्बरों में भी फैल गई। आचार्य गुणभद्र (नवीं शताब्दी) के समय साधुओं की प्रवृत्ति नगरवास की ओर अधिक झुकने लगी थी, इसका उन्होंने तीव्र विरोध भी किया।² इसका प्रारंभ बसन्तकीर्ति द्वारा (13 वीं शताब्दी) मण्डप दुर्ग में किया गया।³ भट्टारक की प्रथा यहीं से प्रारम्भ हो गई। इस समय सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान भट्टारक कुमुदचन्द्र पालकी पर बैठते थे, छत्र लगाते थे, और नग्न रहते थे।⁴

लगभग बारहवीं शताब्दी तक भट्टारक सम्प्रदाय का आचार मूलाचार से भिन्न हो गया। आशाधर ने उनके आचार को म्लेच्छों के आचार के समान बताया है।⁵ भट्टारक सम्प्रदाय का आचार निम्न कोटि का हो गया और आलोचनाओं में दबा रहा।

1. जैन सम्प्रदाय के यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश, पृ. 01

2. आत्मानुशासन, पृ. 197

3. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ-द्वितीय खण्ड, पृ. 37

4. जैन निबन्ध रत्नावली, पृ. 405

5. अनगार धर्मावृत, पृ. 296

मध्यकालीन जैन संघ में यह शिथिलाचार सुरसा की भांति बढ़ता जा रहा था। विशुद्धतावादी आचार्यों ने इसकी घोर निन्दा की, फिर भी उसका प्रभाव नहीं पड़ा।

भट्टारकों का मुख्य कार्य मंदिरों की प्रतिष्ठा, मंदिरों का निर्माण और उनकी व्यवस्था, यान्त्रिक, मान्त्रिक और तान्त्रिक प्रतिपादन तथा यक्ष-यक्षणियों और देवी-देवताओं का भजन-पूजन हो गया।

साधारण समाज में कार्य बड़े ही लोकप्रिय हो गये। अतः उपासकों में भट्टारक सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धा जागृत हो गई। जैन ग्रन्थ भण्डार स्थापित किये गये। साहित्य-सृजन और संरक्षण की ओर अभिरुचि जागृत हुई तथा जिनधर्म प्रभावना का क्षेत्र बढ़ गया। जैन संघ और इस सम्प्रदाय की यह देन अविस्मरणीय है।

इन सम्प्रदायों के अलावा कालान्तर में कुछ पन्थों का भी विभाजन हुआ है, जिनका विभाजन निम्न प्रकार है -

● तेरहपंथ और बीसपंथ

दिगम्बर जैन परम्परा में दो आम्नाय हैं, मूलसंघ और काष्ठासंघ। मूलसंघ को तेरहपंथ और काष्ठासंघ को बीसपंथ के नाम से जाना जाता है। मूलसंघ जिनशासन की आदि परम्परा का बोधक होने से प्राचीन है। तथा शिथिलाचाररूप विशेषता होने से काष्ठासंघ अर्वाचीन है। शुद्ध आम्नाय को मूलसंघ कहा जाता है इसे तेरापंथ भी कहते हैं।

“पालीताना के मन्दिर के शिलालेखों में ये तीनों ही विशेषण मिलते हैं। इस प्रकार शुद्धाम्नाय, मूलसंघ, और तेरापंथ ये तीनों एक ही हैं।”¹

भट्टारक सम्प्रदाय का आचार-विचार जैनधर्म के कुशल ज्ञाताओं के बीच आलोचनाओं का विषय बना रहा। उसके विरोध में पंडितप्रवर अमरचन्द बड़जात्या एवं पंडित बनारसीदास ने सत्रहवीं शताब्दी में आगरा

में एक आन्दोलन चलाया। इसी आन्दोलन का नाम तेरहपंथ रखा गया। तेरहपंथ की दृष्टि में भट्टारकों का आचार अच्छा नहीं था। वह तो महावीर के द्वारा निर्दिष्ट मूलाचार को ही मूल सिद्धान्त स्वीकार करता है। यह पंथ समाज में काफी लोकप्रिय हो गया।

दूसरी ओर भट्टारकों अथवा चैत्यवासियों के अनुयायी अपने आप को बीसपंथी कहने लगे। इनके अनुयायी प्रतिमाओं पर केसर लगाते थे तथा पुष्पमालायें और हरे-भरे फल आदि चढ़ाते थे। तेरह पंथ के अनुयायी इसके विरोधक हैं।

जीवन निर्माण से सम्बद्ध तेरह सिद्धान्तों के कारण इसे तेरहपंथ कहा गया और इनसे श्रेष्ठतर जीवन बिताने से विरोधियों ने अपने को बीसपंथ कह दिया। दोनों पन्थों के समन्वय की दृष्टि से एक तोतापंथ अथवा सोलहपंथ की स्थापना का भी उल्लेख मिलता है।

किन्तु सातवीं सदी की इस आम्नाय के जितने भी भट्टारक रहे हैं उन सबने अपने व्यवहार में शुद्धाम्नाय त्यागकर पूजा-पाठ में काष्ठासंघ परम्परा को अपना लिया।

इस शुद्धाम्नाय परम्परा से अनभिज्ञ और यश के इच्छुक पंडितों ने इसे बढ़ाया। पर कुछ मुनि और श्रावक ऐसे थे जिन्होंने मूलसंघ की रक्षा की। मूलसंघ को पहले कुन्दकुन्दाचार्यान्वय कहा गया। बाद में काष्ठासंघ के प्रचलन के कारण इसे शुद्धाम्नाय कहा गया। फिर इसे तेरहपंथ कहा जाने लगा। भगवान का पंथ होने के कारण भक्तिवश तेरापंथ कहलाया।

जोधाराम गोदिका ने प्रवचनसार के अन्त में लिखा है -

“कहे जोधा अहो जिन! तेरापंथ तेरा है।”

और बीसपंथ को पहले विषमपंथ (टेड़ापंथ) कहा जाता था जो कालांतर में बिगड़कर बीसपंथ कहा जाने लगा। जैन रत्नावली में लिखा है -

“तेरापंथ भयो हरषे चितचाव, विषमपंथ सुगम कराव।”

बीसपंथी निम्न तेरह कार्यों को करते हैं और तेरहपंथी इन तेरह कार्यों को नहीं करने के कारण तेरापंथी कहलाते हैं -

1. - दस दिग्पालों को अर्घ्य नहीं चढ़ाते ।
2. - बीसपंथी मुनियों की चरणवन्दना नहीं करते ।
3. - जिनमूर्ति पर चन्दन नहीं लगाते ।
4. - फूलों से पूजा नहीं करते ।
5. - दीपक से पूजा-आरती नहीं करते ।
6. - आसिका से मस्तक नहीं लगाते ।
7. - अभिषेक नहीं करते ।
8. - रात्रि में जिनपूजा नहीं करते ।
9. - शासन देवता को नहीं मानते ।
10. - दाल भात रोटी आदि नहीं चढ़ाते ।
11. - हरे फल नहीं चढ़ाते ।
12. - बैठ कर पूजा नहीं करते ।
13. - स्त्रियाँ सूत्रग्रन्थों का पठन-पाठन व प्रवचन नहीं कर सकती । वस्तुतः ये क्रियायें मिथ्यात्व की ही पोषक हैं।¹

● तारणपंथ

पन्द्रहवीं शताब्दी तक मुस्लिम आक्रमणों ने जैन मूर्तिकला और स्थापत्यकला को गहरा आघात पहुँचा दिया था । उन्होंने इन सभी सांस्कृतिक धरोहरों को अधिकाधिक परिणाम में नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था । ये अचेतन मूर्तियाँ इस कार्य का कोई विरोध न कर सकीं । प्रत्युत उन्होंने आपत्तियों

1. पं. फूलचन्दजी अभिनन्दन ग्रन्थ के " मूलसंघ शुद्धाम्नाय का दूसरा नाम ही तेरापन्थ है " लेख पर आधारित ।

को बुलावा दिया। फलस्वरूप दिगम्बर सम्प्रदाय के ही एक व्यक्ति के मन में बात जम गई कि मूर्तिपूजा अनावश्यक हैं। उसने अपना नया पंथ प्रारम्भ कर दिया। आगे चलकर वही व्यक्ति इस पंथ के स्थापक तारणस्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके अनुयायी मूर्ति के स्थान पर शास्त्र की पूजा करते हैं, ये दिगम्बर सम्प्रदाय में मान्य सभी ग्रन्थों को स्वीकार करते हैं।

तारणतरण स्वामी ने तारणतरण श्रावकाचार, पण्डितपूजा, मालारोहण, कमलावतीसी, उपदेशशुद्धसार, ज्ञानसमुच्चयसार, ममलपाहुड़, चौबीस ठाणा, त्रिभंगीसार आदि 14 छोटे-बड़े ग्रन्थों की रचना की है। उनमें श्रावकाचार प्रमुख है।

दिगम्बर धर्म की उत्पत्ति के विषय में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। उसका मुख्य कारण यही है कि इस धर्म को अनादि-अनन्त स्वीकार करते हैं; क्योंकि इस धर्म को अंगीकार करने वाली श्रमण परम्परा भी अनादि अनन्त है। फिर भी उत्पत्ति का व्यामोह इस रूप में व्यक्त हो सकता है कि इस युग में श्रमण परम्परा का शुभारम्भ युगप्रवर्तक आदिनाथ ने किया था। इस अपेक्षा से दिगम्बर धर्म भी उनके काल में प्रारम्भ माना जा सकता है। कालान्तर में इसी धर्म में विविध सम्प्रदायों एवं विविध पंथों का प्रादुर्भाव हुआ है।

2.2.2. श्वेताम्बर सम्प्रदाय

दिगम्बर साहित्य में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय में जो कथानक मिलते हैं वे इस प्रकार हैं -

1. हरिषेण के वृहत्कथाकोष में यह उल्लेख मिलता है कि गोवर्धन के शिष्य श्रुतकेवली भद्रबाहु ने उज्जयिनी में बारहवर्ष के दुष्काल को निकट भविष्य में जानकर मुनि विशाखाचार्य (चन्द्रगुप्त मौर्य) के नेतृत्व में मुनिसंघ को दक्षिणापथवर्ती पुत्राटनगर भेज दिया और स्वयं भाद्रपद देश में जाकर समाधिमरण पूर्वक शरीर त्याग दिया। इधर दुष्काल की समाप्ति हो जाने पर विशाखाचार्य संसंघ वापस आ गये।

संघ में से रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य सिन्धुदेश की ओर चले गये थे। वहाँ दुर्भिक्ष पीड़ितों के कारण लोग रात्रि में भोजन करते थे। फलतः मुनियों, निर्ग्रन्थों को भी रात्रि भोजन करना पड़ा। एकबार अन्धकार में भिक्षा की खोज में निकले निर्ग्रन्थ मुनि को देखकर भय से एक गर्भिणी का गर्भपात हो गया। इस घटना के मूल कारण को दूर करने के लिये श्रावकों ने मुनियों को अर्धफलक (अर्ध वस्त्रखण्ड) धारण करने के लिये निवेदन किया।

सुभिक्ष हो जाने पर रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य ने तो मुनिव्रत धारण कर लिया। पर जिन्हें वह अनुकूल नहीं लगा उन्होंने जिनकल्प के स्थान पर अर्धफलक की स्थापना कर दी। उत्तरकाल में इसी सम्प्रदाय से काम्बल सम्प्रदाय, फिर यापनीय संघ और बाद में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई।

2. देवसेन ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार लिखी है -

“विक्रमादित्य की मृत्यु के 136 वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के वलभीपुर में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई। इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति में मूलकारण भद्रबाहुगणि के आचार्य शान्ति के शिष्य जिनचन्द्र नामक एक शिथिलाचारी साधु था। उसने स्त्रीमोक्ष, कवलाहार, सवस्त्रमुक्ति, महावीर का गर्भपरिवर्तन आदि जैसे मत स्थापित किये थे।”

दर्शन शास्त्र में व्यक्त ये मत निःसंदेह श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। उनके संस्थापक तो नहीं प्रबल पोषक कोई जिनचन्द्र नामक आचार्य अवश्य हुए होंगे। पर आचार्य शान्ति और उनके शिष्य जिनचन्द्र का अस्तित्व देवसेन के पूर्व नहीं मिलता अतः ये जिनचन्द्र जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण होना चाहिये। उन्होंने ‘विशेषावश्यक भाष्य’ में उक्त मतों का भरपूर समर्थन किया है।

3. एक अन्य देवसेन ने 'भावसंग्रह' में भी श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति इसी प्रकार बताई है। थोड़ा सा जो भी अन्तर है वह यह है कि यहाँ 'शान्ति' नामक आचार्य सौराष्ट्रदेशीय वल्लभी नगर अपने शिष्यों सहित पहुँचे। वहाँ पर भी दुष्काल का प्रकोप हो गया। दुष्काल समाप्त हो जाने पर शान्ति आचार्य ने उनसे इस वृत्ति को छोड़ने के लिये कहा। पर उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। तब आचार्य ने उन्हें बहुत समझाया। उनकी बात पर किसी शिष्य को क्रोध आया और गुरु के सिर पर प्रहार कर मार डाला और स्वयं संघ का नेता बन गया। इसी ने सवस्त्र मुक्ति का उपदेश दिया और श्वेताम्बर संघ की स्थापना की।

4. भट्टारक रत्ननन्दि का 'भद्रबाहुचरित्र' मिलता है जिसमें उन्होंने कुछ परिवर्तन के साथ इस घटना का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि दुर्भिक्ष पड़ने पर भद्रबाहु ससंघ दक्षिण गये। पर रामिल्ल, स्थूलाचार्यादि मुनि उज्जयिनी में ही रह गये।

कालान्तर में संघ में व्याप्त शिथिलाचार को छोड़ने के लिए जब उन्होंने कहा तो संघ ने उन्हें मार डाला। उन शिथिलाचारी साधुओं से ही बाद में अर्धफलक और श्वेताम्बर संघ की स्थापना हुई।

इन कथानकों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भद्रबाहु की परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय से और स्थूलभद्र की परम्परा श्वेताम्बर सम्प्रदाय से जुड़ी हुई है। यह श्वेताम्बर संप्रदाय अर्धफलक संघ का ही विकसित रूप है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के बीच मतभेद होने का मूल कारण वस्त्र की अस्वीकृति और स्वीकृति है।

पहले श्वेताम्बर साधु अपवाद के रूप में ही कटिवस्त्र धारण किया करते थे। पर बाद में आठवीं शती में उन्होंने वस्त्र को पूर्णतः स्वीकार कर लिया। महावीर निर्वाण के लगभग 1000 वर्ष बाद देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अपने ग्रन्थों का संकलन श्रुति परम्परा के आधार पर किया जिन्हें दिगम्बरों ने स्वीकार नहीं किया।

इसका मूल कारण था कि वहाँ कतिपय प्रकरणों को काट-छांट कर और तोड़-मरोड़ कर उपस्थित किया गया था। श्वेताम्बर साधु के पास चौदह उपकरण होते हैं -

पात्र, पात्रबन्ध, पात्र स्थापन, पात्र प्रभार्जनिका, पटल, रजस्त्राण, गुच्छक, दोचादर, कम्बल (ऊनीवस्त्र), रजोहरण, मुखवस्त्रिका, मात्रक व चोलक। कालान्तर में श्वेताम्बर संघ में कुछ प्रधान सम्प्रदाय उत्पन्न हुए जो निम्न हैं -

1. चैत्यवासी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वनवासी साधुओं के विपरीत एक चैत्यवासी साधु सम्प्रदाय था जो वनों को छोड़कर चैत्यों, मन्दिरों में निवास करते थे। ग्रन्थ संग्रह के लिये आवश्यक द्रव्य रखते थे। इसी के पोषण में उन्होंने निगम नामक शास्त्रों की रचना भी की। हरिभद्रसूरि ने चैत्यवासियों की ही निन्दा अपने प्रबोध प्रकरण में की है। चैत्यवासियों ने 45 आगमों को प्रामाणिक स्वीकार्य किया है।

वि.सं. 802 में अणहिलपुर पट्टाण के राजा चावड़ा ने अपने चैत्यवासी गुरु शीलगुण सूरि की आज्ञा से यह निर्देश दिया कि इस नगर में वनवासी साधुओं का प्रवेश नहीं हो सकेगा। इससे पता चलता है कि लगभग आठवीं शताब्दी तक चैत्यवासी सम्प्रदाय का प्रभाव काफी बढ़ गया था।

बाद में वि.सं. 1070 में दुर्लभदेव की सभा में जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागर सूरि ने चैत्यवासी साधुओं से शास्त्रार्थ करके उक्त निर्देश को वापिस कराया। इसी उपलक्ष्य में राजा दुर्लभदेव ने वनवासियों को "खरतर" नाम दिया। इसी नाम पर "खरतरगच्छ" की स्थापना हुई। श्वेताम्बर सम्प्रदाय कालान्तर में विविध गच्छ में विभक्त हो गया जिनमें प्रमुख गच्छ तपागच्छ, पार्श्वनाथ गच्छ, आंचलिक गच्छ, पूर्णिमा गच्छ, सार्ध पूर्णिमा गच्छ एवं आगमिक गच्छ हैं।

गच्छ किसी न किसी आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। प्रत्येक गच्छ

की श्रमणचर्या लगभग पृथक्-पृथक् ही रही है। इन गच्छों में आजकल ख़रतर गच्छ, तपा गच्छ और आंचलिक गच्छ ही अस्तित्व में हैं। ये सभी गच्छ मन्दिरमार्गी और मूर्तिपूजक रहे हैं। मूर्तिपूजा के विरोध में उठ खड़े हुए श्वेताम्बर सम्प्रदायों में स्थानकवासी और तेरापंथी प्रमुख हैं।

● स्थानकवासी सम्प्रदाय

स्थानकवासी सम्प्रदाय की उत्पत्ति चैत्यवासी सम्प्रदाय के विरोध में हुई है। चैत्यवासियों के विलासपूर्ण जीवन के विरोध ने इसे लोकप्रिय बना दिया। इस सम्प्रदाय के लोग धार्मिक क्रियाकर्म मंदिरों में न करके स्थानकों अथवा उपाश्रय में करते हैं ; इसलिये इस सम्प्रदाय को स्थानक-वासी सम्प्रदाय कहा जाने लगा। इसे साधुमार्गी भी कहते हैं। इसके साधु श्वेतवस्त्र पहनते और मुखपट्टी बांधते हैं।

इस सम्प्रदाय में अनेक प्रभावक आचार्य हुये हैं - रघुनाथ, जयमल, जीवराज, रामचन्द्र, कुशल, कनीराम आदि। मूर्तिपूजा का विरोध, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और ब्रह्मचर्य पालन इस सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्त थे। इन सिद्धान्तों का आधार 32 सूत्रों को बनाया।

● तेरहपंथ सम्प्रदाय

स्थानकवासी आचार-विचार की शिथिलता के विरोध में स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य रघुनाथ के शिष्य आचार्य भिक्षु ने वि.सं. 1817, चैत्रशुक्ल नवमी के दिन अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना का सूत्रपात किया। उनकी अन्तर्मुखीवृत्ति, अनासक्ति और प्रतिभा के लगभग तीन माह बाद तेरापंथ की स्थापना कर दी। इस अवसर पर उनके साथ तेरह साधु और तेरह श्रावक थे। इसी संख्या पर इस पंथ का नाम तेरहपंथ रख दिया गया। बाद में इसकी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति हुई कि भगवन्! यह तुम्हारा ही मार्ग है। जिसपर हम चल रहे हैं।

पाँच समिति, पाँच महाव्रत और तीन गुप्ति इन तेरह नियमों का जो

पालन करें वह तेरहपंथी हैं¹ – स्थानकवासी सम्प्रदाय के समान तेरापंथी भी बत्तीस आगमों को प्रामाणिक मानता है। इस सम्प्रदाय में एक ही आचार्य होता है, उसी का निर्णय अन्तिमरूप से सर्वमान्य होता है।

तेरापंथ सम्प्रदाय में आठ आचार्य हो चुके हैं – भिक्षु, भारमल, रामचन्द्र, जीतमल, मधवागणी, माणकगणी, डालगणी और कालूगणी। इसी शृंखला में तुलसीजी नवम आचार्य एवं 10वें आचार्य महाप्रज्ञ हैं।

इस पंथ पर मूलरूप से आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण के बाद जैनसंघ और सम्प्रदाय अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त हो गया, पर उनका आचार-विचार जैन धर्म के मूलरूप से बहुत दूर नहीं रहा। इसलिये इसमें वह ह्रास नहीं आया, जो बौद्धधर्म में आ गया था।

2.2.3. दिगम्बर एवं श्वेताम्बर संप्रदाय – कानजी स्वामी की दृष्टि में

जिनेन्द्रप्रणीत शाश्वत जैनधर्म कालदोष से भगवान महावीर के पश्चात् दिगम्बर एवं श्वेताम्बर मत में विभक्त हो गया। श्वेताम्बर मत में जन्मे परन्तु धर्म को तर्क की कसौटी पर कसने वाले कानजी स्वामी ने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया एवं प्रवचनों में कहा कि – “तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा प्रकाशित दिगम्बर जैनधर्म ही सत्य है।” ऐसा कानजी स्वामी ने युक्ति, न्याय से स्पष्ट रूप से समझाया है – “मार्ग की खूब छानबीन की है। द्रव्य की स्वतन्त्रता द्रव्य, गुण, पर्याय, उपादान निमित्त, निश्चय-व्यवहार, आत्मा का शुद्ध स्वरूप, सम्यग्दर्शन स्वानुभूति, मोक्षमार्ग इत्यादि सब कुछ उन्होंने श्रुत की धारा में प्रवाहित किया है।”²

वीतराग, सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कहा गया जो दिगम्बर एक सच्चाधर्म

1. जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ. 61

2. वचनमृत प्रवचन भाग-3 (कानजी स्वामी), पृ. 403

है। अन्य कोई धर्म जैन नामधारी सम्प्रदाय भी सत्य है ही नहीं। जैनधर्म वास्तव में कोई पक्ष या सम्प्रदाय नहीं है किन्तु वस्तु का स्वरूप है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध वीतराग स्वरूप है, उसके अवलम्बन से पर्याय में जो वीतरागता प्रगट हो वह दिगम्बर जैनधर्म है। चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है, वह किसप्रकार प्रगट हो? त्रिकाल शुद्ध द्रव्य-स्वभाव का आश्रय करने से यह बात मात्र दिगम्बर जैनधर्म में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं है। यह बात युक्ति और न्याय से बराबर सिद्ध हो सकती है। कानजी स्वामी के शब्दों में -

हम पहले स्थानकवासी में थे ना....! 26 साल की छोटी उम्र थी, संवत् 1970 में दीक्षा ली और सं. 1972 में यह बात चली - 'केवली ने जो देखा, वैसा होगा, हम क्या करें?' यह बात सम्प्रदाय में बहुत चली। हमारे दीक्षा गुरु बहुत शान्त थे, सम्प्रदाय में थे किन्तु शान्त..शान्त...कषाय मन्द। तुरन्त विरोध नहीं करते थे। पहले तो मैंने बात कही तो कहते थे कि बात तो सच्ची है, भगवान ने देखा होगा वैसा होगा। तो भगवान है - ऐसा निर्णय पहले है, जैसा देखा होगा वैसा होगा यह बाद की बात है। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकी नाथ जगत में हैं जिनके ज्ञान की एक पर्याय तीन काल, तीन लोक को स्पर्श किये बिना जानती है- ऐसी सत्ता जगत में है। भगवान ने देखा होगा तो 'मैं' ने भी जैसा देखा होगा ! ऐसा जब मेरे ज्ञान में भी होता है तब देखने वाला ज्ञाता-दृष्टा मैं हूँ, ऐसा निश्चय आता है। जब पर्याय की दृष्टि की छोड़कर अन्तर में जाता है तब क्रमबद्ध का निर्णय अपने परिणामों का निर्णय होता है।

“सम्प्रदाय (स्थानकवासी) में तो आत्मा की इतनी सूक्ष्म बात चलती ही नहीं थी। वहाँ तो व्रत करो, तप करो - ये ही विकल्प की, राग की बातें होती थीं और यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ - ऐसा विकल्प भी आकुलतामय है, राग है, उसकी ओर जाती हुई बुद्धि को अन्तर में ढालना ही स्वानुभव की रीति है।”

दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्म लिया इसलिये सम्यग्दृष्टि हैं – ऐसा नहीं है। दिगम्बर कोई सम्प्रदाय नहीं है किन्तु वस्तु का स्वरूप है।¹

“ भगवान महावीर के पश्चात् 603 के काल में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक हुए और तत्पश्चात् 1530 में उनमें से स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला। वे सब गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं और उनके मानने वाले भी समकिती नहीं है, बल्कि गृहीत और अगृहीत दोनों प्रकार के मिथ्यात्व वाले हैं।”² श्वेताम्बर मत में गुरु का स्वरूप भी अन्यथा प्ररूपित करते हैं। वे मुनि के वस्त्रादिक 14 उपकरण कहते हैं और मुनि को निर्ग्रन्थ कहते हैं यह मिथ्या है।³

कानजी स्वामी ने श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय के सैकड़ों शास्त्रों का गहन अध्ययन किया और उन्होंने निष्कर्षरूप से स्वीकार किया कि श्वेताम्बर मत में देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप में अनेक विसंगतियाँ हैं और जब तक देव-शास्त्र-गुरु के निर्दोष स्वरूप का निर्णय नहीं है, सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता और जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, उसे धर्म भी नहीं है।⁴

दिगम्बर जैनधर्म ही भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म है। यह धर्म कोई सम्प्रदाय या जाति नहीं है, यह वस्तु का स्वरूप है। देव जहाँ पूर्ण वीतरागी, 18 दोष रहित, सर्वज्ञ व हितोपदेशी हैं। नग्न दिगम्बर दशा बिना मुनिपना नहीं आता। मन-वचन-काया से और कृत-कारित-अनुमोदन से नव-कोटि के परिग्रह आदि का त्यागी होना चाहिए। इसप्रकार जिनलिंग (नग्न दिगम्बर) और पंच महाव्रत बिना मुनिपना नहीं हो सकता।

कानजी स्वामी ने श्वेताम्बर की मान्यताओं यथा स्त्रीमुक्ति, केवली कवलाहार, शूद्र मुक्ति आदि का तर्कपूर्ण शैली एवं आगम प्रमाण से खण्डन किया एवं अपने अनुयायियों में जो कि अधिकांश मूलतः श्वेताम्बर

1. मोक्षमार्ग की किरणें भाग-2 (कानजी स्वामी), पृ. 311

2. वही, पृ. 134

3. वही, पृ. 153

4. वही, पृ. 163

थे, उन्हें दिगम्बर जैनधर्म की महिमा एवं स्वरूप बतलाया। जिससे हजारों लोगों ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय छोड़कर दिगम्बर धर्म को स्वीकार किया।

2.3. श्रमण परम्परा का आध्यात्मिक साहित्य एवं विशेषताएँ

आत्मा को आधार मानकर जो चिन्तन और आचरण किया जाता है उसे अध्यात्म कहते हैं।¹ आज भारतीय धर्मों की ऐसी कोई भी परम्परा उपलब्ध नहीं है जिसमें आत्मा को एक या दूसरे नाम से स्वीकार न किया गया हो। वेद जैसे प्राचीनतम साहित्य में आध्यात्मिक जिज्ञासा और विचारणा विविध रूपों में मिलती है।

व्याख्यान की पद्धति भी दो तरह की है एक **आगम पद्धति** और दूसरी **अध्यात्म पद्धति**।² जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका में अध्यात्म शास्त्र और आगमशास्त्र में भेद बतलाते हुये लिखा है कि “**मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में आत्मा है, मेरे चारित्र में आत्मा है, मेरे संवर में और योग में आत्मा है** – इत्यादि रूप से अभेद रत्नत्रय का जिसमें कथन हो वह अध्यात्म शास्त्र है और छः द्रव्यों का सम्यक् श्रद्धान और ज्ञान तथा व्रतादि का अनुष्ठान रूप भेद रत्नत्रय का जिसमें कथन हो उसे आगम शास्त्र कहते हैं।”

अध्यात्म शास्त्र में शुद्ध द्रव्य का कथन होता है इसलिये वहाँ शुद्धनय या निश्चयनय का अवलम्बन लिया जाता है और आगम शास्त्र में अशुद्ध द्रव्य का कथन होने से व्यवहार नय का अवलम्बन लिया जाता है। अध्यात्म तो अभेदात्मक कथन ही करता है। अध्यात्म पद्धति में दर्पण अपने में प्रतिबिम्बित मयूर से पृथक् है। वैसे ही आत्मा भी अपने में प्रतिबिम्बित ज्ञेय पदार्थों से पृथक् है और जैसे दर्पण अग्नि ज्वाला का प्रतिबिम्बित करता हुआ भी तज्जन्यताप से पृथक् है वैसे ही आत्मा कर्मोदय के फलस्वरूप सुख-दुःख आदि अनुभव से पृथक् ही है।

1. जैन साहित्य का इतिहास, पृ. 132

2. आगम और अध्यात्म, पृ. 07

इसलिये आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वभावी, एक अरूपी, अस्पर्शी, अगन्धी, अवर्णी, अबद्ध, अस्पृष्ट आदि है।

पण्डित जयचन्द्र कहते हैं -

“तहाँ सामान्य विशेषकरि सर्वपदार्थनि का निरूपण करिये है सो आगमरूप, बहुरि जहाँ एक आत्मा के ही आश्रय से निरूपण करिये सो अध्यात्म है।¹ द्रव्यों को सामान्य विशेषात्मक कथन तो आगम पद्धति के अनुसार होता है और जब सिद्ध समान शुद्धात्मा का कथन किया जाता है, वह अध्यात्म पद्धति है।”

पण्डित बनारसीदास परमार्थवचनिका में कहते हैं -

“द्रव्यरूप तो पुद्गल (कर्मों) के परिणाम हैं और भावरूप पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्ध परिणतिरूप परिणाम है। यह दोनों परिणाम आगम रूप जानें। द्रव्यरूप तो जीवत्वरूप परिणाम है और भावरूप ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्तगुणरूप परिणाम हैं। यह दोनों परिणाम अध्यात्म रूप जानें।”

अध्यात्मवाद निर्विकल्प रसायन है। जिसके सेवन अथवा पान से आत्मा अपने स्वानुभवरूप आत्मरस में लीन हो जाता है।

आत्म-विवेचन करने से आत्मा का शाश्वत स्वरूप, विशुद्ध स्वरूप सम्यक् ज्ञानात्मक स्वरूप का बोध होता है।

आत्मा के स्वरूप में जो स्थित होता है, वह विशुद्ध स्वरूप वाला अध्यात्म की ओर अग्रसर होता है। अध्यात्म परम्परा प्राचीन है। यह ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चलती रही। इसके पश्चात् भी महावीर के शिष्यों ने गति दी। श्रुत परम्परा में आचार्यों ने विशेष सहयोग दिया। उसे सुरक्षित रखने के लिए लिपिबद्ध किया। तदनन्तर उसका चिन्तनशील आचार्यों ने विभाजन भी किया।

प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग - इन चारों अनुयोगों में किसी न किसी तरह आत्मा को विषय बनाया गया। परन्तु द्रव्यानुयोग के विभाजन में विशुद्ध आत्मस्वरूप का ही चिन्तन उभर कर आया। जिसमें जीव-अजीव, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि तत्त्वों का कथन हो उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग में निकट का सम्बन्ध है क्योंकि बाह्य दृष्टि से विचार करने पर शरीर और आत्मा का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से शरीराश्रित क्रिया के साथ आत्मा के उपयोग में विषय और कषाय के प्रति रुचि और अरुचि होना सम्भव है। करणानुयोग उन रुचि और अरुचि रूप तारतम्य अवस्था का प्रतिपादन करता है। इसलिये जीवन निर्माण की दिशा में इन तीनों अनुयोग द्वारों का अत्यन्त उपयोग है। जो प्रथमानुयोग है वह मात्र उदाहरण स्वरूप है। उसके द्वारा हमें इतना ही ज्ञान होता है कि संसार के विरुद्ध प्रवृत्ति करने वालों को क्या-क्या अवस्थायें होती हैं और संसार के अनुकूल प्रवृत्ति करने वालों की क्या-क्या अवस्थायें होती हैं?

इन्द्रभूति गौतम गणधर ने भगवान महावीर के उपदेशों को जिन बारह अंगों में निबद्ध किया, उनमें से बारहवाँ अंग द्रव्यानुयोग से ही विशेष रूप से सम्बद्ध था। इस अंग के अंतिम ज्ञाता मात्र भद्रबाहु श्रुतकेवली थे। द्रव्यानुयोग का प्रारम्भ आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों से होता है।

दिगम्बर परम्परा में तो भगवान महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् कुन्दकुन्द का नाम विशेष आदर से लिया जाता है। कुन्दकुन्द के जीवन से ही द्रव्यानुयोग साहित्य के इतिहास का मूल प्रारम्भ होता है।

एक ओर उन्होंने समयप्राभृत के द्वारा जैन अध्यात्म का प्रस्थापन किया तो दूसरी ओर प्रवचनसार आदि के द्वारा तत्त्वज्ञान को मूर्तरूप दिया। ये दोनों ही विषय द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत आते हैं किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में भेद होने से दोनों का कथन पृथक्-पृथक् किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के बाद के आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में आत्मा

की चर्चा की है। इस तरह भारतीय श्रमण परम्परा ने भारत को उस अध्यात्म-विद्या का अनुपम आदर्श प्रस्तुत किया है। इसी से श्रमण परम्परा की अनेक महत्वपूर्ण बातें वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में पायी जाती हैं।

2.3.2. श्रमण साहित्य की विशेषताएँ

भारतीय इतिहास में श्रमण संस्कृति और वैष्णव संस्कृति किसी न किसी रूप में परस्पर प्रभावित रही है। इन संस्कृतियों के उत्थान के साथ इस प्राचीन परम्परा को जीवित बनाये रखने के लिये प्रारंभ से ही वेद, आगम, त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को लिपिबद्ध करने का प्रयास ऋषि, मुनियों, यतियों आदि ने किया है।

श्रमण संस्कृति अर्थात् जैन श्रमण परम्परा का आचार-विचार एवं सिद्धान्त की दृष्टि से जितना महत्वपूर्ण स्थान है उससे कहीं अधिक श्रमण साहित्य का महत्व है। श्रमण साहित्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

- श्रमण साहित्य में प्रत्येक कृति के लेखन का शुभारम्भ मंगलाचरण पूर्वक किया गया है। जिनमें अधिकांश ने 'वर्धमान' (महावीर) को नमस्कार किया है क्योंकि ये अन्तिम तीर्थंकर शासननायक हैं।

- श्रमण साहित्य चार अनुयोगों में लिपिबद्ध है - प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग।

- जिन महाग्रन्थों में महापुरुषों के चरित्र का वर्णन मिलता है, वे प्रथमानुयोग के ग्रन्थ हैं, जैसे - पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि।

- जिन ग्रन्थों में श्रमण व श्रावक के चरित्र व संयम पालन का वर्णन मिलता है, वे चरणानुयोग के ग्रन्थ हैं, जैसे - रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भगवती आराधना आदि।

- जिन ग्रन्थों में तीन लोक व कर्म-सिद्धान्त, गुणस्थान आदि का वर्णन किया गया है। वे करणानुयोग के ग्रन्थ हैं, जैसे - गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि।

● जिन ग्रन्थों में छह द्रव्यों, सात तत्त्वों व अध्यात्म आदि का वर्णन किया गया है, वे द्रव्यानुरयोग के ग्रन्थ हैं जैसे – समयसार, द्रव्यसंग्रह आदि।

प्रथमानुरयोग के साहित्य की विशेषताएँ

श्रमणों ने मंगलाचरणपूर्वक ग्रन्थ का प्रारम्भ किया यह मंगलाचरण भी उन तीर्थनायक की विशेषताओं एवं भक्ति से युक्त लिखा गया है।

● कथानक का शुभारम्भ सभी पुराणों में श्रेणिक ने गौतम गणधर से चरित्र-नायक का कथानक जानने की जिज्ञासा व्यक्त की और उसके इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप यह सम्पूर्ण कथानक कहा गया।

● मूल कथानक के साथ प्रासंगिक उपकथायें भी इसमें लिखी गई हैं।

● प्राकृतिक वर्णन भी यथावसर बहुत आया है।

● शृंगार रस का वर्णन भी यथावसर बहुत आया है।

● इस साहित्य में उदाहरण को सिद्धान्त और सिद्धान्त को उदाहरण बनाकर प्रस्तुत किया गया है।

चरणानुरयोग के साहित्य की विशेषताएँ

चरणानुरयोग साहित्य में श्रमणों ने दो प्रकार के ग्रन्थों की रचना की-

1. श्रमण चरित्र प्रधान
2. श्रावक चरित्र प्रधान

श्रमण चरित्र प्रधान साहित्य में श्रमणों का आचरण कैसा हो, उनका रहन-सहन, उनकी जीवनचर्या कैसी हो, उन्हें किन मूलगुणों-उत्तरगुणों का पालन करना है, किन अतिचारों से बचना है? आदि का वर्णन किया गया है।

● श्रावक चरित्रप्रधान ग्रन्थों में श्रावक की दिनचर्या, जीवनचर्या कैसी हो? का ज्ञान कराया गया है। षट्-आवश्यक, पाँच अणुव्रत, 11 प्रतिमा, बारहव्रत आदि का वर्णन किया गया है, श्रावक को अपने नित्यकर्म के प्रति सावचेत किया गया है।

करणानुयोग के साहित्य की विशेषताएँ

● श्रमणों ने इस साहित्य में तीन लोक का वर्णन अत्यधिक सूक्ष्मता से किया है जिसमें आज का विज्ञान भी पूर्णरूप से सफल नहीं हो पाया है। इसके अन्तर्गत भूगोल, खगोल पाताल लोक का बहुत विस्तार से जानकारी दी गई है।

द्रव्यानुयोग साहित्य की विशेषताएँ

● द्रव्यानुयोग के साहित्य में श्रमणों ने तर्क प्रधान शैली का प्रयोग किया है।

● न्याय के ग्रन्थों की भी इसमें प्रधानता है, इसमें परमत का खण्डन, स्वमत मण्डन अच्छी रीति से स्पष्ट किया गया है।

● आध्यात्मिक ग्रन्थों में आत्मा को सर्वोपरि माना गया है तथा उसे ही मूल केन्द्रबिन्दु बनाया है।

● सामान्य आगम ग्रन्थों में छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ आदि का वर्णन किया गया है। अनुयोगों के अतिरिक्त भी श्रमणों ने साहित्य की रचना की है।

● जैन स्तोत्रों की रचना की गई जिसमें भगवान की स्तुति की गई है जैसे - भक्तामर स्तोत्र में भगवान आदिनाथ की स्तुति की गई है।

● ज्योतिष ग्रन्थों की रचना भी की गई है, जिसमें ग्रह, नक्षत्र, तारा शुभमुहूर्त आदि का वर्णन किया गया है।

2.3.3. श्रमण परम्परा के साहित्य में कानजी स्वामी का योगदान (आध्यात्मिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में) -

जैनधर्म, संस्कृति और साहित्य की अजस्रधारा भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही समृद्धरूप में प्रवाहित है। यद्यपि काल प्रवाह से इसकी अति प्राचीनता के अधिक साक्ष्य लुप्त होने से उपलब्ध नहीं है, किन्तु प्राचीन शिलालेखों, मूर्तियों और वैदिक तथा अन्य साहित्य आदि अनेक

उपलब्ध साक्ष्यों के अध्ययन के बाद अब विद्वान श्रमण परम्परा को इस देश की आदि संस्कृति मानने लगे हैं। जैनधर्म ने अपने अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त और स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों, आध्यात्मिक चिन्तन, उच्च स्थापत्य एवं मूर्तिकला तथा विविध विधाओं एवं विविध भाषाओं में लिखित विशाल वाङ्मय द्वारा देश-विदेश की विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं, धर्म दर्शन और साहित्य को गहराई से प्रभावित तो किया ही, साथ ही साथ अपने देश को सच्चे अर्थों में भारतीयता का स्वरूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर तक इन चौबीस तीर्थंकरों की दीर्घ परम्परा द्वारा प्रवाहित अध्यात्म चिन्तनधारा में स्नात सहस्रों आचार्यों, कानजी स्वामी जैसे विद्वान् श्रावकों ने भारत की तत्कालीन प्रचलित प्रायः सभी भाषाओं में साहित्य की सभी विधाओं में विशाल साहित्य का सृजन कर भारतीय वाङ्मय की भी वृद्धि करने में महनीय योगदान दिया है।

कानजी स्वामी का, प्राचीन जैन साहित्य विशेषकर आगमिक एवं आगमेतर ग्रन्थों में प्रतिपादित गूढ़ सिद्धान्तों; दार्शनिक गुत्थियों तथा अध्यात्म एवं आचार आदि विषयों के स्वरूप को सरल और तत्कालीन भाषा शैली में उद्घाटित करने में महनीय योगदान है।

श्रमण परम्परा के साहित्य में चारों अनुयोगों के ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। जिनागम के समस्त पहलू आचार्यों की लेखनी के विषय बने हैं। उसी साहित्य परम्परा को कानजीस्वामी ने अपने प्रवचन साहित्य में व्यक्त किया है। कानजी स्वामी जिनागम के तलस्पर्शी मर्मज्ञ मनीषी थे। उनकी विद्वत्ता से जिनागम में चार अनुयोग विवेचित हुए हैं -

● प्रथमानुयोग में संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल तथा महंत पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है। महापुरुषों का कथन करके उसमें भी जीवों को मोक्षमार्ग बतलाने का ही आशय है।

● करणानुयोग में गुणस्थान, मार्गणास्थान आदिरूप जीव का कर्मों का तथा त्रिलोकादि का निरूपण करके जीवों को धर्म में लगाया है।

● चरणानुयोग में गृहस्थों तथा मुनियों के धर्माचरण का कथन है। इसमें नानाप्रकार के धर्म साधन का निरूपण करके जीवों को धर्म में लगाया जाता है।

● द्रव्यानुयोग में जीवादि छह द्रव्यों का, सात तत्त्वों का तथा भेदविज्ञान आदि का वर्णन है। द्रव्य-गुण-पर्याय, निर्विकल्प दशा आदि का वर्णन द्रव्यानुयोग में होता है।

उक्त अनुयोगों में प्रमुखता द्रव्यानुयोग के अध्यात्म को दी है। द्रव्यानुयोग का प्रारम्भ आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों से होता है। जिनके ग्रन्थों के आधार पर उनके परवर्ती आचार्यों ने भी इस शृंखला को आगे बढ़ाया है। कालान्तर में निवृत्ति प्रधान जैनधर्म में प्रवृत्तियों का प्रसार अधिक हुआ जिससे निवृत्तिमूल द्रव्यानुयोग का पठन-पाठन लगभग बन्द हो गया था, जिसे 20वीं शताब्दी में श्री कानजी स्वामी ने ही पुनः उद्घाटित किया। जिसके फलस्वरूप आध्यात्मिक साहित्य का प्रचार-प्रसार प्रचुर मात्रा में हुआ। 20वीं शताब्दी में जितना जैन अध्यात्म साहित्य का प्रकाशन हुआ है उसका बहुभाग श्री कानजी स्वामी का प्रवचन साहित्य ही है। उनके प्रवचनों में द्रव्यानुयोग अथवा आध्यात्मिकता से सम्बन्धित निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन अत्यन्त स्पष्टता एवं बहुलता के साथ हुआ है -

1. आत्मा का स्वरूप
2. दुःखों से मुक्त होने का प्राथमिक उपाय सम्यग्दर्शन
3. सम्यग्दर्शन के विषयभूत सात तत्त्व
4. आत्मानुभूति का कारण भेदविज्ञान
5. आत्मा के अकर्तृत्व को सिद्ध करने वाला सिद्धान्त क्रमबद्धपर्याय
6. निमित्तोपादान

1. आत्मा का स्वरूप

अन्तरोन्मुखी साहित्य ही आध्यात्मिक साहित्य है। कानजी स्वामी का समस्त साहित्य अन्तरोन्मुखी है। आत्मा का स्वरूप जाने बिना अध्यात्म की सार्थकता नहीं होती। अतः कानजी स्वामी ने जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा कथित आत्मा के स्वरूप का विवेचन विशदता से किया। आत्मा अनादि, अनन्त, नित्यानित्य, चैतन्य ज्योति है। वह शरीर में रहते हुये भी शरीर से भिन्न है। मोह-राग-द्वेष आदि भाव भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है।

2. सम्यग्दर्शन

आत्मा अनंत गुणात्मक वस्तु है, जो स्वाभावतः परिपूर्ण है। ऐसे स्वभाव की रुचि, प्रतीति का नाम ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती।

3. सात तत्त्व

व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष - ये सात तत्त्व हैं। इनमें से जीव ही आश्रय करने योग्य है, अजीव मात्र ज्ञेय है, आस्रव-बन्ध दुःखदायक भाव हैं, अतः छोड़ने लायक हैं, संवर-निर्जरापूर्वक ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुखात्मक अवस्था है। मोक्ष में पूर्ण निराकुलतामय है वह जीव की पूर्ण शुद्ध अवस्था है। वहाँ से जीव संसार में पुनरागमन नहीं करता है।

4. भेदविज्ञान

आत्मानुभूति प्राप्त कराने के लिये अनादिकाल से संयोग में रहने वाले पदार्थों और भावों से अपनी भिन्नता जानना आवश्यक हैं। ये संयोग या संयोगीभाव मैं नहीं, मेरे नहीं, मेरे सुख-दुःख के कारण नहीं हैं, मैं तो नित्य उदयरूप चैतन्य ज्योति भगवान आत्मा हूँ - ऐसे ज्ञान को भी

भेदज्ञान कहते हैं। भेदविज्ञान करने की प्रेरणा व उसका स्वरूप कानजीस्वामी के प्रवचन साहित्य में सर्वत्र प्राप्त होता है।

5. क्रमबद्धपर्याय

क्रमबद्धपर्याय सिद्धान्त कानजी स्वामी की जैन अध्यात्म को महत्वपूर्ण देन है। जिस जीव का, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से जन्म-मरण आदि सर्वज्ञदेव ने देखा है वही होगा। प्रत्येक अवस्था अपने स्वकाल में क्रमशः होती ही है। उसे कोई टाल सकने में समर्थ नहीं है। यह सिद्धान्त आत्मा के अकर्तृत्व को सिद्ध करनेवाला महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जिसको पढ़कर एवं सुनकर हजारों लोगों के जीवन में परिवर्तन हुआ।

6. निमित्तोपादान

प्रत्येक कार्य के होने में दो कारण प्रमुख हैं एक उपादान और दूसरा निमित्त। उपादान स्वयं कार्यरूप परिणमित होता है जबकि निमित्त उस कार्य की उत्पत्ति के समय अनुकूल अथवा उपस्थित रहता है। लोक में निमित्त को ही उस कार्य का कर्त्ता कहा एवं माना जाता है। पर अध्यात्म में जो पदार्थ उस कार्य रूप में परिणमित हो जाये वही कर्त्ता है। जो कार्य में व्यापक है वह कर्त्ता है और जो व्याप्य है वह कर्म। कानजी स्वामी ने 'समयसार' ग्रन्थ के कर्त्ताकर्म अधिकार के माध्यम से इस कर्त्ता-कर्म व्यवस्था का स्पष्टीकरण अपने प्रवचनों में बहुलता से किया है और उनके मतानुसार शरीर, परिवार, मोह-राग-द्वेष आदि परिणामों का कर्त्ता आत्मा नहीं है क्योंकि वह उनमें व्यापक नहीं है। उनका उपादान नहीं है। आत्मा तो इन सभी का ज्ञाता है क्योंकि वह ज्ञानक्रिया में ही व्यापक है। वह ज्ञानक्रिया का ही उपादान है।

इस तरह यह स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक साहित्य में जिन सिद्धान्तों की विवेचना अपेक्षित है उन सभी सिद्धान्तों का कानजी स्वामी ने अपने

प्रवचनों में अधिकता से स्पष्टीकरण किया। जैन आध्यात्मिक प्रवचन साहित्य में कानजी स्वामी का प्रवचन साहित्य गुणात्मक एवं परिमाणात्मक दृष्टिकोण से सभी प्रवचनकारों से अधिक है। अतः निश्चित ही आपकी प्रवचन साहित्य में महत्त्वपूर्ण देन है।

2.4. निष्कर्ष

श्रमण परम्परा भारतीय भूमि की पवित्र तथा संस्कारित परम्परा रही है। उसी परम्परा ने हमें ज्ञान-विज्ञान और आचरण प्रदान किया है। जैन श्रमण परम्परा जो अनादि-अनन्त है उसने भी दुःख समुदाय व उनसे निवृत्ति हेतु उपायों तथा सुख एवं सुख प्राप्ति के साधनों का उल्लेख किया है। तीर्थंकर परम्परा एवं आचार्य परम्परा में विस्तारित यह श्रमण परम्परा कालान्तर में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय में विभाजित हो गई – सवस्त्रता एवं निर्वस्त्रता के आधारों पर अवलम्बित उक्त दोनों सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों के अनुसार तत्त्वों के प्रतिपादन में संलग्न हो गये। सवस्त्र परम्परा में एक प्रतिभा ने जन्म लिया, परन्तु सत्य की प्राप्ति हेतु उसने समस्त विघ्नों को गौण करके दिगम्बर परम्परा का अवलम्बन लिया। वह पुरुष कोई और नहीं, कानजी स्वामी हैं। जिन्होंने असत्य मार्ग से सत्य मार्ग का अनुसरण किया तथा श्रमण परम्परा के साहित्य को अपने प्रवचन साहित्य से गौरवान्वित किया।

श्रमण साहित्य आगम एवं अध्यात्म पद्धति के रूपों में तथा अनुयोग पद्धति के रूपों में विवेचित तथा लिपिबद्ध हुआ है। उक्त साहित्य परम्परा में कानजी स्वामी का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने अपने प्रवचन साहित्य में आगम तथा अध्यात्म दोनों का संतुलित विवेचन किया है तथा अध्यात्म साहित्य को विशेष प्रोत्साहन दिया है।



कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य के प्रमुख मूल आधार ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

3.1. प्रवचन साहित्य का उद्भव एवं विकास

प्रवचन साहित्य शब्द आधुनिक युग की देन है परन्तु उस विषय की अवधारणा तो प्राचीन युग से अथवा अनादिकाल से ही है। पुरातन समय में श्रुत परम्परा के रूप में यही प्रवचन साहित्य सुरक्षित रहा है तथा मध्यकाल में भी यह धर्मोपदेश के रूप में वृद्धिगंत हुआ है और आधुनिक युग में यह प्रवचन साहित्य के रूप में अवतरित हुआ है।

काल के गर्त में जाकर इसके उद्भव को देखने का प्रयास करें तो वैदिक सभ्यता तो इसे वैदिक काल में रचित 'संहिता साहित्य' से उद्भूत मानती है। उनके अनुसार जगत सर्जक ब्रह्म ही इसके उद्भावनक हैं। तत्पश्चात् मंत्रदृष्टा ऋषिगण एवं मंत्र प्रयोक्ता आचार्यगण इसके परिवर्धक हैं।

जैनीय अवधारणा इससे पृथक् अपना चिन्तन प्रस्तुत करती है। उनके अनुसार यह जगत अनादि अनन्त है। तो जगत में विद्यमान वस्तु भी अनादि अनन्त होगी। चूंकि शब्द एक वस्तु है तो वह भी अनादि अनन्त हैं। अतः शब्दमय यह प्रवचन परम्परा भी अनादि अनन्त है। दूसरी बात, यद्यपि शब्दों के धार्मिक व्याख्यान के प्रणेता का श्रेय तीर्थंकरों को जाता है परन्तु उनकी यह परम्परा भी आदि-अन्त से विरहित होने से प्रवचन की परम्परा अनादि से है।

यदि वर्तमान काल के अनुसार विचार करें तो यह परम्परा तीर्थंकर आदिनाथ द्वारा प्रवर्तित होती है अर्थात् इस परम्परा का उद्भव-प्रवर्तन तीर्थंकर द्वारा हुआ है। तत्पश्चात् आचार्यों ने श्रुत के माध्यम से इसे जीवित रखा परन्तु बुद्धि की अल्पता ने प्रवचन साहित्य को लिखित साहित्य के

रूप में स्थापित किया। इस तरह यह परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रहा है। कालक्रमानुसार इसमें परिवर्तन एवं विकास हुआ है।

विकास के क्रम में आदि हितोपदेशक पुरुष आसुरूप से स्वीकृत हैं। तत्पश्चात् आचार्य परम्परा ने उन तत्त्वों को अनुयोगीय परम्परा में व्यवस्थित किया अथवा आगमिक एवं आध्यात्मिक साहित्य के रूप में प्रवचन परम्परा को विकसित किया। आचार्य परम्परा में धरसेन, भूतबलि-पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, नेमिचन्द्र का नाम स्मरणीय है। तदुपरान्त गृहस्थ विद्वानों ने तत्कालीन जनसामान्य की बुद्धि प्रमाण व्याख्यापित किया। जिनमें पं. आशाधर, पाण्डे राजमल, पं. बनारसीदास, आचार्यकल्प पं. टोडरमल आदि विद्वानों ने उस अविनाशी ज्योतिपुंज को प्रज्वलित रखा। इसी परम्परा में कानजी स्वामी का स्मरण आवश्यक है, क्योंकि क्रियाकाण्ड के प्रचण्ड वेग में जब यह जन सामान्य उस आध्यात्मिक प्रवचन परम्परा को तिलांजलि देने ही वाला था तब कानजी स्वामी का दिगम्बर धर्म में आविर्भाव हुआ, जिससे सुषुप्त परम्परा में वही चिन्तन पुनः आने लगा जो आरम्भिक परम्परा में आया था। क्रियाकाण्ड के अन्धेरे में ज्ञान का प्रकाश इस तरह प्रकाशित हुआ, जिससे क्रियाकाण्ड का तिरोभाव होकर भूमिकानुसार अध्यात्म का आविर्भाव हो गया।

इस प्रवचन परम्परा को कानजी स्वामी ने विविध ग्रन्थों के माध्यम से विकसित किया है, उन मूल ग्रन्थों की सूची एवं संक्षिप्त विषय वस्तु का विवेचन प्रस्तुत है।

3.2. कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य के प्रमुख मूल आधार ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का मूल आधार भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित एवं कुन्दकुन्दाम्नाय में दिगम्बर आचार्यों, मुनिराजों,

विद्वानों द्वारा लिखित आर्ष परम्परा के ग्रन्थ हैं। इस अध्याय में जिन ग्रन्थों पर कानजी स्वामी ने प्रवचन किये हैं उनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थों की संक्षिप्त विषय-वस्तु प्रस्तुत है।

3.2.1. समयसार

जिनशासन की प्रभावना एवं आध्यात्मिक क्रान्ति की जन्मघूँटी पीकर, बचपन में ही विशिष्ट संस्कारों से जीर्ण-शीर्ण व लुप्त होते शाश्वत मूल्यों को पुनर्स्थापन करने वाले दिगम्बर जिनधर्म के प्रभावक आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा लिखा गया 'समयसार' अध्यात्म का अद्वितीय महान शास्त्र है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने इस ग्रन्थ पर 'आत्मख्याति' नाम से संस्कृत टीका लिखी है। जयसेनाचार्यदेव ने 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की संस्कृत टीका लिखी है। श्री पण्डित जयचन्द्र ने मूल गाथाओं का और 'आत्मख्याति' का हिन्दी में भाषान्तर किया है।

शुद्धात्मा का प्रतिपादन करने वाले इस ग्रन्थ के संबंध में आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में तो इसे "इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयः"¹ कहकर अद्वितीय चक्षु से विभूषित किया है। वहीं "न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति"² कहकर इसकी महानता का बोध कराया है।

इस ग्रन्थाधिराज का मूल प्रतिपाद्य नवतत्त्वों के माध्यम से नव तत्त्वों में छुपी हुई परमशुद्ध निश्चयनय की विषयभूत वह आत्म ज्योति है जिसके आश्रय से परम सुख की प्राप्ति होती है, इसमें आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयमेव ही इसका फल बताते हुए लिखा है -

“जो समयपाहुड मिणं, पढिदूण अत्थतच्चदो णादुं।

अत्थे ठाहि चेदा, सो होहि उत्तमं सोक्खं।।”³

अर्थात् जो आत्मा इस समयसार में प्रतिपादित आत्मवस्तु को अर्थ व

1. समयसार कलश 245, पृ. 209

2. समयसार कलश 244, पृ. 208

3. समयसार गाथा 415, पृ. 643

तत्त्व से जानकर उसी आत्मवस्तु में अपने को स्थापित करता है, वह उत्तम सौख्य को प्राप्त करता है।

इस ग्रन्थाधिराज पर आद्योपान्त सभा में 19 बार सभा में व्याख्यान करने वाले कानजी स्वामी कहा करते थे कि - "यह समयसार आगमों का भी आगम है, लाखों शास्त्रों का सार इसमें है, यह जैन शासन का स्तम्भ है, साधकों की कामधेनु है, कल्पवृक्ष है, इसकी हर गाथा छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुये निकली है।"¹

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित यह समयसार ग्रन्थ नौ अधिकारों में विभक्त है, जिसमें नवतत्त्वों का शुद्धदृष्टि से कथन इसप्रकार हैं -

1. पूर्वग

38 गाथाओं में निबद्ध इस अधिकार में प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद से रहित, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भी भेद से रहित, अभेद, अखण्ड, परम ध्यान के ध्येयरूप एकत्व-विभक्त आत्मा का अपने वैभव से दिग्दर्शन कराया है। जो पर से असंयुक्त, अपने में नियत व अनन्य है।

2. जीवाजीवाधिकार

30 गाथाओं में निबद्ध इस अधिकार का मूल प्रयोजन सम्पूर्ण विश्व को स्व और पर इन दो भागों में विभक्त कर, पर से भिन्न व निज से अभिन्न निज भगवान आत्मा की पहिचान कराना है।

3. कर्त्ताकर्म अधिकार

69 से 144 वीं गाथा तक के इस अधिकार में बताया गया है कि पर के कर्तृत्व के बोझ से दबा हुआ आत्मा न तो स्वतन्त्र हो सकता है और न ही स्वावलम्बन का भाव जाग्रत हो सकता है। यदि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता मान लिया जाय तो फिर प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। अतः परकर्तृत्व की भावना का अभाव कराना ही इस अधिकार का मूल प्रयोजन है।

1. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम, पृ. 34

4. पुण्य-पापाधिकार

145 से 163वीं गाथा के भावनानुसार स्पष्ट ही है कि इस जगत में शुभकर्मों व शुभभावों को पुण्य व अशुभ कर्मों व अशुभ भावों को पाप कहा जाता है। इस संसार में रहने वाले अज्ञानी प्राणी पुण्य को अच्छा मानते हैं एवं पाप को बुरा। अतः आचार्य इस मान्यता का निराकरण पुण्य-पाप अधिकार में करते हैं जो कि इस अधिकार का वर्ण्य-विषय है।

5. आस्रवाधिकार

यह अधिकार 164 से 180 गाथा तक लिखा गया है। जिसमें बताया गया है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध के कारण मिथ्यात्वादि भाव आस्रवभाव हैं। शुभ-अशुभभाव तो भावास्रव और तन्निमित्तक पौद्गलिक कार्माणवर्गणा का पुण्य-पाप प्रकृतिरूप परिणमित होना द्रव्यास्रव है। अज्ञानी जीव पुण्यास्रव को उपादेय मानता है, अतः आचार्य ने इस विपरीत मान्यता का निराकरण करते हुये ज्ञानी को निरास्रव सिद्ध किया है।

6. संवराधिकार

“आस्रवनिरोधः संवरः”¹ आस्रव का निरोध होना ही संवर है और वह संवर भेद-विज्ञान के कारण ही हो सकता है। भेद-विज्ञान शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि में परम सहायक है। कहा भी है-

“संपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।”²

अर्थात् साक्षात् संवर शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से होता है और वह भेदज्ञान से ही संभव है, जिसका वर्णन 181 से 192 तक की गाथाओं में निबद्ध है।

7. निर्जराधिकार

193 से 236 तक की गाथाओं से स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं को क्रिया करते हुए एवं इसका फल भोगते हुये भी भेदज्ञान की शक्ति से

1. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 7

2. समयसार कलश 129, पृ. 110

कर्मबन्ध नहीं होता अपितु उनकी निर्जरा होती है। इसी बात का सविस्तार एवं युक्तिसंगत वर्णन निर्जराधिकार में किया गया है।

8. बन्धाधिकार

हिंसादि पापों में प्रवर्तित मिथ्यादृष्टि को होने वाले पाप बन्ध का कारण रागादिभाव ही हैं, जिनके कारण यह अनादिकालीन संसार में परिभ्रमण कर रहा है। यह 237 से 287 तक की गाथाओं का सार है।

9. मोक्षाधिकार

कर्मबन्ध का विचार करते रहने मात्र से जीव कर्मबन्ध से मुक्त नहीं हो सकता अपितु जो आत्मा बन्ध और आत्मा का स्वभाव जानकर बन्ध से विरक्त होते हैं वे ही कर्मबन्धनों से मुक्त होते हैं। इसी बात का सविस्तार वर्णन इस मोक्षाधिकार में 288 से 301 तक की गाथाओं में किया गया है।

10. सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

इस अधिकार में ज्ञान का स्वभाव मात्र जानने वाला बताया गया है न कि कर्ता-भोक्ता स्वभावी क्योंकि कहा गया है -

‘नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः, परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।’¹

अर्थात् इस ज्ञानस्वभावी आत्मा का पर द्रव्य से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। तब कर्तृत्व-भोक्तृत्व का तो प्रश्न ही नहीं होता है।

इसप्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थाधिराज में परद्रव्यों से भिन्न, आबाल-गोपाल को सहज सुलभ निज भगवान आत्मा का ही दिग्दर्शन कराया गया है तथा परिशिष्ट के रूप में 47 शक्तियों का वर्णन किया गया है।

3.2.2. प्रवचनसार

मुक्तिमार्ग दिग्दर्शक जिनेन्द्र भगवान के प्रवचनों का निचोड़ ‘प्रवचनसार’ अध्यात्म प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वाधिक प्रचलित

1. समयसार कलश 200, पृ. 174

एवं सशक्त संरचना है।¹ “प्रमाण और प्रमेय की मीमांसा करने वाला तथा दार्शनिक शैली में निबद्ध यह अद्वितीय ग्रन्थ मध्यम रुचि वाले शिष्यों के अवबोधनार्थ लिखा गया है।”¹¹

आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार 275 गाथाओं एवं जयसेन के अनुसार 311 गाथाओं के अपूर्व संग्रह प्रवचनसार को आचार्य अमृतचन्द्र ने तीन महाधिकारों में विभक्त किया है –

1. ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन महाधिकार, 2. ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन महाधिकार,
3. चरणानुयोगसूचक चूलिका

इन्हीं तीन अधिकारों को आचार्य जयसेन ने सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र नाम से अभिहित किया गया है।

3.2.2.1. ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन महाधिकार

ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अथवा सम्यग्ज्ञान महाधिकार का विभाजन भी चार अवान्तर अधिकारों में किया गया है –

1. शुद्धोपयोग अधिकार

प्रारंभिक बारह गाथाओं में मंगलाचरण, प्रतिज्ञायें एवं विषय प्रवेश करने के बाद 13वीं गाथा से 20वीं गाथा तक शुद्धोपयोग रूप वीतराग चारित्र का स्वरूप एवं फल बताया है अर्थात् आत्म-रमणतारूप शुद्धोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली सर्वज्ञता व अतीन्द्रियानन्द का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये क्रमशः ज्ञानाधिकार व सुखाधिकार की रचना की गई है।

2. ज्ञानाधिकार

32 गाथाओं की परिसीमा में अपने को समेटे यह अधिकार आचार्य जयसेन द्वारा प्रदत्त ‘सर्वज्ञसिद्धि अधिकार’ नाम को सार्थक करता हुआ

1. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति टीका, पृ. 02

भाषित होता है क्योंकि इन गाथाओं में वर्णित सर्वज्ञता का निरूपण अपने आप में अलौकिक, अद्वितीय एवं पठनीय है। इस अधिकार में सर्वज्ञता के स्वरूप पर ही विचार किया गया है।

3. सुखाधिकार

53 से 68 गाथाओं में निबद्ध इस अधिकार में शुद्धोपयोग से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख को उपादेय और इन्द्रिय सुख को हेय कहा गया है, क्योंकि अतीन्द्रिय सुख ही वास्तविक सुख है। इन्द्रिय सुख तो नाममात्र का सुख है।

4. शुभ परिणामाधिकार

69 से 92 गाथा तक चलने वाले इस अधिकार में इन्द्रिय सुख के कारणभूत शुभ परिणामों का वर्णन किया गया है। इस अधिकार में इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है कि पापभावों से उत्पन्न होने वाली प्रतिकूलताओं में तो दुःख ही है परन्तु पुण्यभावों एवं शुभ परिणामों से प्राप्त होने वाली लौकिक अनुकूलताओं एवं भोगसामग्री के उपयोग में भी दुःख ही है। और जो व्यक्ति पुण्य-पाप में समानता नहीं मानता, उन्हें हेय नहीं मानता उसे आचार्य ने 'मोहसंछण्णो' कहकर संसार में परिभ्रमण करने वाला कहा है। इसी अधिकार में मोह की सेना को जीतने का उपाय बताने वाली 80वीं गाथा में कहा है -

“जो अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह निश्चय से नष्ट होता है।”¹²

इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन महाधिकार में शुभाशुभ भावों का त्याग कर सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक शुद्धोपयोग रूप वीतराग चारित्र ग्रहण करने की पावन प्रेरणा दी गई है।

1. प्रवचनसार, गाथा 77

2. प्रवचनसार, गाथा 80

3.2.2.2. ज्ञेय तत्त्व प्रज्ञापन महाधिकार

वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक व ज्ञान ज्ञेय के मध्य भेदविज्ञान का प्रयोजन होने से इस महाधिकार को तीन अवान्तर अधिकारों में विभाजन किया गया है -

1. द्रव्य सामान्य अधिकार

93 से 126वीं गाथा तक विस्तृत इस अधिकार में समस्त ज्ञेयों के सामान्य स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु का गहराई से चिन्तन किया गया है।

यह अधिकार जैनदर्शन का हृदय है क्योंकि इसमें वर्णित दो द्रव्यों के बीच की भिन्नता को पृथक्ता एवं उसी द्रव्य के गुण-पर्यायों के बीच की भिन्नता को अन्यता के रूप में जिसप्रकार वर्णित किया गया है वह अपने आप में अद्भुत एवं चिन्तनीय है।

2. द्रव्यविशेषाधिकार

127वीं गाथा से 144वीं गाथा तक अपने प्रवाह में प्रवाहित करने वाले इस अधिकार में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, और काल इन छह द्रव्यों का वर्णन किया गया है।

3. ज्ञान-ज्ञेय विशेषाधिकार

भेदज्ञान की मुख्यता से यह अधिकार 145वीं गाथा से 200वीं गाथा तक रचित है। इसमें ज्ञान-ज्ञेयतत्त्व का निरूपण इस प्रकार किया गया है, जिससे कि भेदज्ञान की उत्पत्ति हो। इसी अधिकार के अन्तर्गत आचार्य कुन्दकुन्द के पंच परमागमों में पाई जाने वाली गाथा भी आती है, जिसमें ज्ञानी जीव में जब भेदविज्ञान प्रगट होता है तो वह क्या विचारता है? इसका वर्णन है -

“अरसमरूवमगन्धं, अव्वत्तं चेदणागुणमसहं।

जाण अलिंग्गहणं, जीवमणिदिट्ठं संठाणं।।”¹¹

अर्थात् इस भगवान आत्मा में रूपादि नहीं है क्योंकि ये सब पुद्गल में पाये जाने वाले गुण पर्याय हैं और जीव उनसे भिन्न हैं। अतः अनिर्दिष्ट संस्थान और चेतना गुण वाले इस आत्मा को अलिंगग्रहण जानो।

अधिकार के अन्त में आचार्य ने “परिवज्जामि ममत्तिं” कहकर सम्पूर्ण जगत को भी ममता का त्याग करने की पावन प्रेरणा दी है।

3.2.2.3. चरणानुयोग सूचक चूलिका

चारित्रधारक आचार्यदेव सम्यग्दर्शन-ज्ञान के निमित्तभूत वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन कर शिष्यों को चारित्र धारण करने की प्रेरणा से इस अधिकार की गाथा 201 से 275 गाथाओं की रचना करते हैं, जो कि चार अवान्तर अधिकारों में विभाजित है -

- (1) आचरण प्रज्ञापन अधिकार
- (2) मोक्षमार्ग प्रज्ञापन अधिकार
- (3) शुभोपयोग प्रज्ञापन अधिकार
- (4) पंचरत्नप्रज्ञापन अधिकार

अन्त में मंगल आशीर्वाद में आचार्य कहते हैं कि “जो जिनेन्द्र के प्रवचनों का सार इस ‘प्रवचनसार’ का भलीभाँति अध्ययन करेगा। वह प्रवचन के सार शुद्धात्मा को अवश्य प्राप्त करेगा।”¹²

इसप्रकार यह ग्रन्थ अपनी अभूतपूर्व विषयवस्तु एवं प्रौढ़ प्रतिपादन शैली के कारण अद्वितीय तो है ही, साथ ही साथ मोहक्षोभविहीन आत्म परिणामों की प्राप्ति का मार्गदर्शक यह ग्रन्थ जन-जन के अध्ययन की विषयवस्तु बना हुआ है।

3.2.3. नियमसार

यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा लिखा गया है। इसमें 187 गाथायें हैं।

1. प्रवचनसार, गाथा 200

2. वही, गाथा 275

जिन्हें टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने 12 अधिकारों में विभक्त किया है।¹

1. जीव अधिकार	2. अजीव अधिकार
3. शुद्धभाव अधिकार	4. व्यवहार चारित्र अधिकार
5. निश्चय प्रतिक्रमण अधिकार	6. निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार
7. निश्चय आलोचना अधिकार	8. निश्चय प्रायश्चित्त अधिकार
9. परम समाधि अधिकार	10. परमभक्ति अधिकार
11. निश्चय आवश्यक अधिकार	12. शुद्धोपयोग अधिकार

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार की प्रथम गाथा में वीरजिन को नमस्कार करके नियमसार को कहने की प्रतिज्ञा की है एवं नियमसार को केवली एवं श्रुतकेवली के द्वारा भणित कहा है। जीवाधिकार में नियमसार नाम की सार्थकता बताई है -

“नियमपूर्वक जो किया जाये उसे नियम कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्ष के उपाय को नियम कहते हैं और उसका फल है परम निर्वाण। इन तीनों का ही कथन इस ग्रन्थ में है। अतः इसका नाम नियमसार है।”¹² 159वीं गाथा से अन्तिम शुद्धोपयोग अधिकार आरम्भ होता है। “159वीं गाथा में कहा है कि निश्चयनय से सर्वज्ञ केवली आत्मा को जानता है और व्यवहारनय से सबको देखता है।”¹³

सम्पूर्ण नियमसार में एक ही ध्वनि है कि परम पारिणामिक भावरूप निज शुद्धात्मा की आराधना में ही समस्त धर्म समाहित है। यह परमागम मुख्यतः मोक्षमार्ग के निरूपचार निरूपण का अनुपम ग्रन्थाधिराज है। यह रचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

1. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम, पृ. 90

2. जैन साहित्य का इतिहास भाग-2, पृ. 222

3. नियमसार, गाथा 159, पृ. 318

3.2.4. पंचास्तिकायसंग्रह

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत पंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ जिन सिद्धान्त और जिन अध्यात्म का 'प्रवेशद्वार' है।¹ इसमें जिनागम में प्रतिपादित द्रव्य व्यवस्था व पदार्थव्यवस्था का संक्षेप में प्राथमिक परिचय दिया गया है।

इस ग्रन्थ का नाम पंचास्तिकायप्राभृत है क्योंकि इसमें मुख्यतया जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश रूप पाँच अस्तिकाय द्रव्यों का वर्णन है क्योंकि ये पाँचों द्रव्य अणु अर्थात् प्रदेशों की अपेक्षा महान है, बहुप्रदेशी है अतः इन्हें अस्तिकाय कहा है। ये समस्त द्रव्यलोक में प्रविष्ट होकर स्थित हैं फिर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

“इस ग्रन्थ पर दो संस्कृत टीकायें उपलब्ध हैं, जिनमें एक के कर्ता आचार्य अमृतचन्द्र हैं व इनकी टीकानुसार गाथाओं की संख्या 173 है और दूसरी के कर्ता आचार्य जयसेन हैं और इनकी टीकानुसार गाथाओं की संख्या 181 है।”²

अमृतचन्द्र ने ग्रन्थ को चार विभागों में विभाजित किया है। प्रारम्भ में एक पीठिका और अंत में एक चूलिका है और दोनों के बीच दो श्रुत स्कन्ध हैं। जयसेन ने ग्रन्थ का विभाजन इस तरह किया है पर उन्होंने दोनों श्रुत स्कन्धों का महाधिकार नाम दिया है।³ पर इसमें कोई विशेष बात नहीं है।

इस ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने ग्रन्थ के आदि में समय कहने की प्रतिज्ञा की है और जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश के समवाय को समय कहा है। इन पाँचों द्रव्यों को पंचास्तिकाय कहा है। इन्हीं का इस ग्रन्थ में विशेष कथन किया है। सत् का स्वरूप बतलाकर द्रव्य का लक्षण दिया है। द्रव्य, गुण और पर्याय का पारस्परिक संबंध बतलाते हुये

1. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम, पृ. 74

2. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, पृ. 78

3. जैन साहित्य का इतिहास-2, पृ. 211

सप्तभंगों के नामों का निर्देश किया है। काल द्रव्य के साथ पांच अस्तिकाय मिलाकर द्रव्य छह होते हैं।

षट्द्रव्य के कथन के पश्चात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग बतलाते हुये सम्यग्दर्शन के प्रसंग से सप्त तत्त्वों का कथन किया है। ग्रन्थ के अन्त में निश्चय मोक्षमार्ग का बड़ी सुन्दरता से स्वरूप बतलाया गया है। इस ग्रन्थ के दो खण्ड हैं, जिन्हें 'समय-व्याख्या' नामक टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने 'श्रुत-स्कंध' नाम से अभिहित किया है। जैसा कि दोनों खण्डों की उपसंहारात्मक अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट है -

1. इति 'समय' व्याख्यायामन्तर्णीत षड्द्रव्य पंचास्तिकाय वर्णनः प्रथमः श्रुतस्कंधः समाप्तः।

2. इति 'समय' व्याख्यायां नव-पदार्थ पुरस्सर मोक्षमार्ग प्रपंच-वर्णनो द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय का निरूपण है और द्वितीय श्रुत स्कन्ध में नव पदार्थ पूर्वक मोक्षमार्ग का निरूपण है।

दोनों खण्डों की सन्धि करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रथम खण्ड के अन्त व दूसरे खण्ड के आरम्भ में एक छन्द दिया है, जो इसप्रकार है-

द्रव्यस्वरूपप्रतिपादनेन, शुद्ध बुधानामिह तत्त्वयुक्तम्।

पदार्थ भंगेन कृतावतारं, प्रकीर्त्यते संप्रति वर्त्य तस्य॥७॥

प्रथम खण्ड के समस्त प्रतिपादन का उद्देश्य शुद्धात्म-तत्त्व का सम्यग्ज्ञान कराना है तथा दूसरे खण्ड के प्रतिपादन का उद्देश्य पदार्थ-विज्ञान पूर्वक मुक्ति का मार्ग अर्थात् उस शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति का मार्ग दर्शाना है।

3.2.5. अष्टपाहुड

503 गाथाओं में निबद्ध एवं आठ पाहुडों में विभक्त यह अष्टपाहुड

ग्रन्थ मूलसंघ के पट्टाचार्य आचार्य कुन्दकुन्द की अमर कृति है, जो दो हजार वर्षों से लगातार शिथिलाचार के विरुद्ध आवाज उठाती चली आ रही है। यद्यपि विगत दो हजार वर्षों में शिथिलाचार बढ़ा है तथापि आज जो कुछ भी मर्यादा दिखाई देती है, उसमें अष्टपाहुड का सर्वाधिक योगदान है।

यह पाहुड ग्रन्थ यथा नाम तथा विषय से आठ अंशों में विभक्त है जैसे कि दर्शनपाहुड में दर्शन विषयक कथन, सूत्रपाहुड में सूत्र संबंधी कथन इत्यादि। इसकी विषय-वस्तु आठ पाहुडों में निबद्ध है, वस्तुतः ये आठ पाहुडों (ग्रन्थों) का संग्रह हैं -

1. दर्शनपाहुड

इसमें सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं महत्त्व 36 गाथाओं द्वारा बताया गया है। मंगलाचरण के उपरान्त दूसरी गाथा में " धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। " ऐसा सिद्ध किया गया है। अतः जो सम्यग्दर्शन से रहित है वे पुरुष वन्दना करने के योग्य नहीं हैं। तीसरी गाथा में कहा है कि जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वह भ्रष्ट ही है उसे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है इत्यादि अनेक तरह से दर्शनपाहुड सम्यग्दर्शन की महिमा से भरपूर है।

2. सूत्रपाहुड

सूत्रपाहुड में 27 गाथायें हैं। इसमें जिन सूत्रानुसार आचरण जीव का हितरूप है और जिनसूत्र विरुद्ध आचरण अहितरूप है। यह संक्षेप में बताया गया है तथा जिनसूत्रकथित मुनि लिंगादि तीन लिंगों का संक्षेप में निरूपण किया है -

1. सर्वश्रेष्ठ नग्न दिगम्बर साधु

2. उत्कृष्ट श्रावकों का

3. आर्यिकाओं का

3. चारित्रपाहुड

यह 45 गाथाओं में निबद्ध है। इसमें सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र के रूप में चारित्र का वर्णन है। संयमाचरण चारित्र का देश संयमाचरण और सकल संयमाचरण चारित्र – इसप्रकार वर्णन करते हुये श्रावक के बारह व्रतों और मुनिराज के पंचेन्द्रिय संवर, पांच महाव्रत, प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावना, पाँच समिति इत्यादि का निर्देश किया गया है।

4. बोधपाहुड

बोधपाहुड में 62 गाथाओं के द्वारा आयतन, चैत्यगृह, जिन प्रतिमा आदि ग्यारह स्थानों के माध्यम से एक प्रकार से दिगम्बर धर्म और निर्ग्रन्थ साधु का स्वरूप स्पष्ट किया है। निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक ग्यारह स्थानों को समझाया है।

निश्चय से निर्दोष साधु ही आयतन हैं, चैत्यगृह हैं, जिन प्रतिमा हैं, दर्शन हैं, जिनबिम्ब हैं, जिनमुद्रा हैं, ज्ञान हैं, देव हैं, तीर्थ हैं, अरहंत हैं, और प्रवज्या हैं।

5. भावपाहुड

भावपाहुड में 163 गाथाओं द्वारा भाव की महत्ता बतलाते हुये भाव को ही गुण दोषों का कारण बतलाया है। भाव की विशुद्धि के लिये ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है उसका बाह्य त्याग व्यर्थ है। अतः भावों को धारण करना आवश्यक है। यह पूरा पाहुड ग्रन्थ-सदुपदेशों से भरा पड़ा है।

6. मोक्षपाहुड

इसमें 106 गाथायें हैं। इस पाहुड में मोक्ष का-परमात्मपद का अतिसंक्षेप में वर्णन करके तत्पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने का उपाय क्या है? उसका वर्णन मुख्यतया किया है। स्वद्रव्यरत जीव मुक्त होता है और परद्रव्यरत जीव बंध को प्राप्त होता है। यह इस पाहुड का केन्द्रबिन्दु है।

7. लिंगपाहुड

इसमें 22 गाथा हैं। जो जीव मुनि का बाह्य लिंग धारण करके अतिभ्रष्टाचारी रूप से आचरण करता है, उसका अतिनिकृष्टपना एवं निंद्यपना इस पाहुड में बताया गया है।

8. शीलपाहुड

इसमें 40 गाथायें हैं, जिसके द्वारा शील का महत्त्व बताया गया है। वास्तव में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान-चारित्र ही शील हैं। इनकी एकता ही मोक्षमार्ग है।

इसप्रकार यह अष्टपाहुड ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय है। यह भव्यजीवों को जिनदेव द्वारा प्ररूपित आत्मशान्ति का यथार्थ मार्ग बताता है। यह अष्टपाहुड शिथिलाचार के विरुद्ध एक सशक्त दस्तावेज है, जिसमें श्रमणों को संयमाचरण निरतिचार पालन करने हेतु पग-पग पर सतर्क किया गया है।

3.2.6. कार्तिकेयानुप्रेक्षा

कार्तिकेय स्वामी द्वारा लिखित कार्तिकेयानुप्रेक्षा मूल प्राकृत भाषा में है। भाषा सरल एवं सहज है। इस ग्रन्थ में 489 गाथायें हैं।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा अपने आप में अद्वितीय रचना है। इस ग्रन्थ की भाषा टीका पं. जयचन्दजी छबड़ा द्वारा ढूंढारी भाषा में की गयी है जो बहुत ही प्रामाणिक टीका है। इस ग्रन्थ में बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का वर्णन किया गया है। धर्म का यथार्थ स्वरूप समझाते हुये संसार, देह, भोगों का स्वरूप एवं उनकी असारता दिखाकर स्वात्म रुचि कराने की ही मुख्यता है।

हर एक विषय का विशेषतः लोक का स्वरूप एवं धर्म का स्वरूप क्रमशः लोक भावना एवं धर्म भावना में बहुत ही विस्तृतरूप में कहते हुये भी मुख्यता स्वात्म रुचि ही रही है। इस कारण आचार्य जयसेन लिखते हैं कि - इन भावनाओं का विशेष महत्त्व है। आज तक जितने भी

पुरुष सिद्ध हुये हैं और भविष्य में होंगे, वह सब इन्हीं बारह भावनाओं का माहात्म्य जानो।

अनुप्रेक्षा (भावना) का सामान्य अर्थ बारम्बार चिन्तन करना है। वह चिन्तन अनेक प्रकार का है। इसके करने वाले अनेक हैं। इनसे भिन्नता दिखाने के लिये ‘भवियजणाणदं जणणीओ’¹ (भव्यजनानन्द-जननी) ऐसा विशेषण दिया है इसलिये मैं (कार्तिकेय) जिन भव्यों के मोक्ष होना निकट है उनको आनन्द उत्पन्न करने वाली, अनुप्रेक्षा कहूँगा।

वह अनुप्रेक्षा बारह प्रकार से है - गाथा 2-3 के भावार्थानुसार² अध्रुव को अनित्य कहते हैं। जहाँ कोई शरण नहीं सो अशरण, भ्रमण को संसार, जहाँ कोई दूसरा नहीं सो एकत्व जहाँ सबसे भिन्नता सो अन्यत्व, मलिनता को अशुचित्व, कर्म के आने को आस्रव, कर्म के आने को रोके सो संवर, कर्म का झरना सो निर्जरा, जिसमें छह द्रव्य पाये जायें सो लोक, अति कठिनता से प्राप्त हो सो दुर्लभ, संसार से उद्धार हो सो वस्तु स्वरूपादिक धर्म - इसप्रकार इनका शाब्दिक अर्थ है -

1. अनित्य भावना -

संसार में जितने भी संयोग हैं - परिवार, बन्धुवर्ग, पुत्र, स्त्री, मित्र, शरीर की सुन्दरता, गृह-गोधन इत्यादि समस्त वस्तुएँ नवीन मेघ के समान अस्थिर हैं, नाशवान हैं। इनमें हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिए। मन को विषयों से छुड़ाकर संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर अपने ज्ञानानन्द आत्मा में एकत्व करो यह अनित्य भावना का संदेश है।

2. अशरण भावना -

23 से 31वीं गाथा तक अशरण भावना का स्वरूप बताया गया है। संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को कुछ भी शरण नहीं है। सम्यग्दर्शन,

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ. 03

2. वही, पृ. 04

ज्ञान, चारित्र अपना स्वरूप है, इसलिए वास्तव में यही शरण है। अन्य सब अशरण है।

3. संसार भावना -

संसार भावना में 32 से 73वीं गाथा तक संसार के स्वरूप को बताया गया है। राग-द्वेष-मोह ही संसार है। निश्चय से अपने आत्मस्वरूप को भूलने रूप मिथ्यात्व ही संसार है और व्यवहार से एक शरीर से दूसरे शरीर की प्राप्ति होते रहना ही संसार है। कार्तिकेय स्वामी कहते हैं कि सब तरह के मोह को छोड़कर आत्म-स्वरूप का ध्यान करो तो संसार परिभ्रमण का अभाव हो जायेगा।

4. एकत्व भावना -

74वीं गाथा से 79वीं गाथा तक एकत्व भावना का वर्णन है, जीव अकेला ही अनेक अवस्थाओं को धारण करता है। जीव पुण्य करके स्वर्ग तक जाता है और कर्मों का नाश करके मोक्ष जाता है। इसलिए इस एकत्वरूप जीव को शरीर से भिन्न जानना चाहिए - यही एकत्व का सार है।

5. अन्यत्व भावना -

80 से 82 तक की तीन गाथाओं में अन्यत्व भावना का स्वरूप समझाया गया है। यह जीव संसार में देह को ग्रहण करता है। देह के साथ माता, पिता, पुत्र, स्त्री आदि सभी अन्य हैं, परद्रव्य हैं, ये सब कर्म संयोग से होते हैं। जो परद्रव्यों में राग करता है, वह मूर्ख है। जो जीव अपने स्वरूप में देह को भिन्न जानकर आत्मस्वरूप का ध्यान करते हैं, उन्हें अन्यत्व भावना ही हितकारी है।

6. अशुचि भावना -

यह शरीर अपवित्र वस्तुओं का समूह है। शरीर अन्य सुगन्धित वस्तुओं को भी अपने संयोग से दुर्गन्धमय करता है। यह शरीर अशुचि

है, अपवित्र है, मनुष्यों को वैराग्य उत्पन्न करने वाला है। जो शरीर पर देह से विरक्त होकर अपने शरीर से अनुराग नहीं करता है, अपने आत्मस्वरूप से अनुरक्त रहता है, उसके अशुचि भावना होती है। इस भावना का विवेचन 83 से 87 तक की गाथाओं में किया गया है।

7. आस्रव भावना -

शरीरादि संयोगी पदार्थों में एकत्व-ममत्व एवं इन्हीं शरीरादि के लक्ष्य से आत्मा में मोह के उदय से जो परिणाम होते हैं, वे ही आस्रव हैं। आस्रव दुःखमय हैं, दुःख का कारण है, अतः त्याज्य हैं। इससे भिन्न आत्मा सुखमय है, सुख का कारण है। यही आस्रव भावना का सार है जो कि 88 से 94 तक की गाथाओं में स्पष्ट वर्णित है।

8. संवर भावना -

95 से 100 नं. तक की गाथाओं में बताया गया है कि “बस मैं एक ज्ञायक भाव हूँ। ऐसा जानना ही संवर है। इन्द्रिय तथा मन को विषयों से रोकना एवं अपने शुद्ध स्वरूप में रमण करना ही संवर है।

9. निर्जरा भावना -

निदान (इन्द्रिय विषयों की इच्छा) रहित अभिमान रहित ज्ञानी के बारह प्रकार के तप को वैराग्य भावना से निर्जरा होती है। निर्जरा दो प्रकार की होती है - सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा। जो इन्द्रियों का एवं कषायों का निग्रह करके परम वीतरागरूप आत्मध्यान में लीन होता है, उसके ही उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

10. लोक भावना -

छह द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं। लोक को किसी ने बनाया नहीं है, किसी के द्वारा इसका नाश भी नहीं होता है, जैसा है वैसा ही सर्वज्ञ ने देखा है, वह ही वस्तु-स्वरूप है। 115 से 283 तक विस्तृतरूप से लोक भावना का विवेचन किया गया है। संक्षेप में सार यही है कि

षट्द्रव्यमयी इस तीन लोक में जीव आत्म-ज्ञान बिना संसार में भटक रहा है। आनन्द को उत्पन्न करने वाली लोक भावना के चिन्तन का एकमात्र आधार निज भगवान आत्मा ही है - ऐसा जानना-मानना ही लोक भावना का सार है।

11. बोधिदुर्लभ भावना -

284 से 301 तक की गाथाओं में बताया गया है कि निज आत्मा को जानना-पहिचानना दुर्लभ नहीं है, वह तो सुलभ ही है। अतः विषयों में रमण न करके ज्ञान-दर्शन-चारित्र को दुर्लभ जानकर उसी में रमण करना चाहिए।

12. धर्म-भावना -

धर्म का मूल सर्वज्ञदेव है। सर्वज्ञ के स्वरूप से लेकर धर्म का स्वरूप एवं महत्त्व को कार्तिकेय स्वामी ने 302 से लेकर 435 तक विवेचन किया है तथा आराधना का सार निज भगवान आत्मा है और निजात्मा को पहिचानना ही धर्म है - यह विशदरूप से स्पष्ट किया है। यही भावना का सार है। आगे 436 से 489 तक की गाथाओं में कार्तिकेय स्वामी ने बारह तपों का वर्णन किया है।

इसतरह कार्तिकेय स्वामी द्वारा रचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा में वर्णित बारह भावनार्यें सांसारिक जीवों को वैराग्योत्पादक हैं और मोक्ष को प्राप्त करानेवाली हैं। इसतरह जो भव्यजीव इन भावनाओं का बार-बार चिन्तन करता है, वह अविनाशी आत्मिक सुख को प्राप्त करता है।

3.2.7. बृहद् द्रव्यसंग्रह

द्रव्यसंग्रह द्रव्यानुयोग प्रधान ग्रन्थ है। यह कुन्दकुन्दाचार्य के परम्परानुवर्ती नेमिचन्द्र आचार्य द्वारा लिखा गया है। यह ग्रन्थ जैन साहित्य का अत्यन्त प्राचीन व सरल प्राकृत भाषा का अनुपम ग्रन्थ है।

“जैन जगत का 58 गाथाओं से सुसज्जित द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के निर्माण

का कारण इसके टीकाकार ब्रह्मदेव सूरि ने सोम श्रेष्ठी को बताया है। उन्होंने इस बात का उल्लेख बृहद्द्रव्य संग्रह के प्रारंभ में ग्रन्थ का परिचय देते हुये उल्लिखित भी किया है।¹¹

वृत्तिकार के अनुसार इस ग्रन्थ का नाम 'बृहद् द्रव्यसंग्रह' है और संस्कृत संस्करण पर भी यही नाम है। परन्तु मूल ग्रन्थ के संस्करण पर इसका नाम द्रव्यसंग्रह ही टंकोत्कीर्ण है।

यह द्रव्य संग्रह ग्रन्थ तीन अधिकारों में विभक्त है। जिसके पहले अधिकार में 27 गाथाओं के साथ में छह द्रव्यों का निरूपण किया गया है। अतः कुछ लोगों का मत है कि - यह द्रव्य संग्रह नामक ग्रन्थ दो रूपों में प्राप्त होता है

1. लघुद्रव्यसंग्रह, 2. बृहद्द्रव्यसंग्रह।

प्रथम अधिकार की 26 गाथाओं को मनीषी लघु द्रव्यसंग्रह कहते हैं; परन्तु पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा श्री महावीरजी शास्त्र भण्डार से प्राप्त "लघु द्रव्यसंग्रह को अनेकान्त वर्ष-12 की किरण पाँच में प्रकाशित किये जाने पर यह सिद्ध हो गया कि लघुद्रव्यसंग्रह और बृहद्द्रव्यसंग्रह दोनों अलग-अलग ग्रन्थ हैं।"¹² जिनकी विषय-वस्तु व कर्ता तो एक ही प्रतीत होते हैं तथा तुलनात्मक अध्ययन पर यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेव ने पहले सोम श्रेष्ठी के लिये उक्त लक्षण परक ग्रन्थ लिखा जिसका नाम लघुद्रव्य संग्रह रखा। इस बात को उन्होंने अन्तिम गाथा में भी उद्धृत करते हुये कहा है -

सोमच्छलेण रइया पयत्थ लक्खणकराउगाहाओ।

भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचन्देण॥25॥

अर्थात् श्री नेमिचन्द्राचार्य ने श्री सोमश्रेष्ठी के निमित्त से, भव्यजीवों

1. बृहद् द्रव्यसंग्रह, पृ. 01

2. जैन साहित्य का इतिहास -2, 337

के उपकार के लिये पदार्थों का लक्षण करने वाली गाथाओं का निर्माण किया है।

तथा 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' में उन्हीं लक्षणपरक गाथाओं को सुव्यवस्थित क्रम में निर्माण करके इस ग्रन्थ की रचना की।

“इस ग्रन्थ पर आचार्य कुन्दकुन्ददेव के 'पंचास्तिकाय' का स्पष्ट प्रभाव होने के कारण इसे 'लघु पंचास्तिकाय' भी कहा जाता है। क्योंकि जिस प्रकार का वर्णन 'पंचास्तिकाय' में है उसी प्रकार का वर्णन द्रव्यसंग्रह में भी उपलब्ध होता है।”¹

ग्रन्थ का प्रारम्भ जीव और अजीव का वर्णन करने वाले भगवान ऋषभदेव को नमस्कार करते हुये वक्तव्य विषय को स्पष्ट किया है। तत्पश्चात् जीवद्रव्य का वर्णन करते हुये नव अधिकारों का विशेष कथन है। 15वीं गाथा से अजीव द्रव्य का कथन प्रारम्भ होता है, जो 27वीं गाथा तक चलता है।

इसके बाद 28वीं गाथा से आस्रव आदि तत्त्वों का वर्णन प्रारम्भ करके भाव और द्रव्य की अपेक्षा प्रत्येक के दो-दो भेदों का बहुत संक्षेप किन्तु सरल व स्पष्ट वर्णन प्रारम्भ करके समझाया है। गाथा 35 में जहाँ व्रत-समिति आदि को भाव संवर के भेद बतलाये, वहीं तत्त्वार्थसूत्रकार ने व्रतों को पुण्यास्रव बताया किन्तु व्रतों में निवृत्ति अंश होने से द्रव्यसंग्रहकार ने भावसंवर में गर्भित किया है।

तत्पश्चात् रत्नत्रय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ध्यानाभ्यास पर बल देकर पंचपरमेष्ठी के ध्यान की प्रेरणा देकर अन्त में तपश्रुतव्रतधारी आत्मा ही ध्यान कर सकता है। अतः ध्यान के लिये तपादि में लीन होना चाहिये। इसतरह संक्षेप में जैनदर्शन का मूल तत्त्व द्रव्यसंग्रहकार ने इसमें वर्णित किया है।

1. जैन साहित्य का इतिहास -2, पं. कैलाशचन्द शास्त्री, 339

3.2.8. पुरुषार्थसिद्धिउपाय

“आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखित ‘पुरुषार्थसिद्धि उपाय’ ग्रन्थ का अपर नाम ‘जिन प्रवचन रहस्य कोष’ है।”¹ पुरुष अर्थात् आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि का उपाय अथवा जैन सिद्धान्त के रहस्यों का भण्डार ऐसा उसका अर्थ है। समस्त दुःखरूपी संसार का मूल मिथ्या श्रद्धा है और सत्य सुखरूपी धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक निजात्म स्वरूप में लीन होना वह पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है। “अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता रूप मोक्षमार्ग ही पुरुषार्थ सिद्धि उपाय है।”²

यह पुरुषार्थसिद्धिउपाय 226 श्लोकों में निबद्ध है। इस पर तीन टीकायें उपलब्ध हैं। पहली संस्कृत टीका अज्ञात है, दूसरी टीका पण्डित प्रवर श्री टोडरमल तथा पण्डित दौलतराम कृत ढूँढरी भाषा में है और तीसरी टीका श्री भूधर मिश्र रचित ब्रजभाषा में है।

जैनधर्म अहिंसा प्रधान है, निश्चय अहिंसा तो सम्यक् श्रद्धा ज्ञान चारित्र है। निश्चय का तथा व्यवहार अहिंसा का यथार्थ स्वरूप श्री जिनेन्द्र कथित शास्त्रों में प्ररूपित किया गया है। अहिंसा का वर्णन जैसा इस ग्रन्थ में मिलता है वैसा अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। उन्होंने मिथ्याश्रद्धा के उपरान्त हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पापों को बड़ी खूबी के साथ मात्र हिंसा रूप ही सिद्ध किया है।

इस ग्रन्थ में मंगलाचरण के पश्चात् ग्रन्थ का आरम्भ, श्रावकधर्म-व्याख्यान, सम्यग्दर्शन, ज्ञान अधिकार, सम्यक्चारित्र का व्याख्यान, अहिंसादि पांच व्रत, तीन दिग्व्रत, चार शिक्षाव्रत और सकल चारित्र का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ का मंगलाचरण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने केवलज्ञान को नमस्कार करते हुए कहा है कि -

1. जैन साहित्य का इतिहास -2, 206

2. पुरुषार्थसिद्धिउपाय, आचार्य अमृतचन्द्र, प्रस्तावना

“तज्जयति परम ज्योतिः, समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।

दर्पणतल इव सकला, प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र।”

अर्थात् वह सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतना रूप प्रकाश जयवन्त हो जिसमें पदार्थों का समूह अतीत, अनागत और वर्तमान काल की समस्त अनन्त पर्यायों सहित दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होता है।

तत्पश्चात् वक्ता के स्वरूप का वर्णन करके आत्मा के स्वरूप का वर्णन एवं संसार का मूलकारण स्पष्ट किया है। चूँकि यह आचरण प्रधान ग्रन्थ होने के कारण सर्वप्रथम श्रावकधर्म का वर्णन प्रारम्भ किया है। जिसकी शुरुआत सम्यक्त्व से होती है। अतः सम्यक्त्व का वर्णन करते हुये सात तत्त्व व उसके आठ अंगों का वर्णन किया है। इन्हीं आठ अंगों का क्रमशः व सयुक्तिक वर्णन आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में किया है।^{1/2}

सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञानाधिकार में प्रमाण-नय, सम्यग्दर्शन के बाद ज्ञान क्यों?, उसका लक्षण तथा व्यंजनाचार, अर्थाचार, उभयाचार, कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिन्द्वाचार आदि आठ अंगों का विशद रीति से वर्णन किया गया है।

इसके पश्चात् 37वीं गाथा से सम्यक्चारित्र का लक्षण कहते हुए अहिंसादिक व्रतों का विशद वर्णन करते हुए सल्लेखना धर्म का व्याख्यान किया। उसके बाद सकल चारित्र का व्याख्यान 197वीं गाथा से करते हुए कर्मों का बन्ध एवं उसके कारण का वर्णन 225 तक की गाथा में किया है तथा और भी अनेक विषयों का वर्णन करते हुए 226वीं गाथा में ग्रन्थ निर्माण में अपना अकर्तृत्व सिद्ध करके जैन परम्परा को जीवन्त बनाने वाले इस ग्रन्थ का समापन किया है।

1. पुरुषार्थसिद्धिउपाय, पृ. 02

2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 11-18

3.2.9. योगसार

आचार्य योगीन्दुदेव कृत 'योगसार' विशुद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है। ग्रन्थाधिराज 'समयसार' के समान इस ग्रन्थ में भी शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार, एक ज्ञायक स्वभावी निज भगवान आत्मा के ही गीत गाये गये हैं। इसी कारण कानजी स्वामी इस ग्रन्थ पर मंत्र-मुग्ध थे। कानजी स्वामी के प्रवचनों का स्पर्श पाकर यह ग्रन्थ अध्यात्म जगत का हृदयहार बन गया।

“योगसार 108 दोहों का जिसमें एक चौपाई और दो सोरठा भी सम्मिलित हैं, एक छोटा-सा सुन्दर ग्रन्थ है। इसे परमात्मप्रकाश का सार कह सकते हैं।”¹¹ क्योंकि जो परमात्मप्रकाश का विषय है, वही योगसार का भी विषय है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में आत्मा का तीन प्रकारों से वर्णन किया गया है और लिखा गया है कि “यदि जीव तू आत्मा को आत्मा समझेगा तो निर्वाण प्राप्त करेगा। किन्तु यदि तू परपदार्थों को आत्मा मानेगा तो संसार में भटकेगा।”¹²

सम्पूर्ण ग्रन्थ में आद्योपान्त देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा की आराधना की बात कही गई है। उनका कहना है कि यदि भगवान आत्मा की खोज करना है तो देह देवल में करो अन्यत्र करने से कोई लाभ होने वाला नहीं है। देह-देवल में विराजमान देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा को जानना पहिचानना ही धर्म है, निज आत्मा को जाने बिना कितना ही तप-त्याग करो, कितना ही व्रतशील संयम धारण करो, कुछ भी होने वाला नहीं है।

यदि आत्मकल्याण करना है तो अपनी पूरी शक्ति निज भगवान आत्मा के जानने पहिचानने में ही लगाओ, अन्यत्र उपयोग भटकाना कुछ भी कार्यकारी नहीं है। 'योगसार' में इस सम्बन्ध में लिखा है -

1. जैनसाहित्य का इतिहास-2, पृ. 169

2. योगसार, आचार्य योगीन्दुदेव, छन्द 12, पृ. 18

“श्रुतकेवली ने यह कहा ना देव मंदिर तीर्थ में।
 बस देह-देवल में रहे, जिनदेव निश्चित जानिये॥42॥
 जिनदेव तन-मन्दिर रहें, जन मन्दिरों में खोजते।
 हँसी आती है कि मानो, सिद्ध भोजन खोजते॥43॥
 ना जानते पहिचानते, निज आत्मा गहराई से।
 जिनवर कहें संसार सागर, पार वे होते नहीं॥56॥”

जिन अध्यात्म में निज भगवान की आराधना पर तो सर्वाधिक वजन दिया ही जाता है, साथ में पुण्य को पाप के समान ही हेय भी बताया जाता है। योगसार ग्रन्थ में सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी के उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया गया है कि जगत की मान्यता से ज्ञानीजन की मान्यता भिन्न है – आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रकार पुण्य एवं पाप में अन्तर नहीं है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है।

योगसार की विषय-वस्तु के अनुशीलन से स्पष्ट है कि यह विशुद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना योगीन्दुदेव ने भव-भय से भयभीत स्वयं को संबोधित करने के लिये ही की है। जैसा कि इस ग्रन्थ की अंतिम गाथा से स्पष्ट है –

“भव दुःखों से भयभीत योगीचन्द्र मुनिवरदेव ने।
 ये एकमन से रचे दोहे स्वयं को संबोधने॥108॥”

3.2.10. परमात्मप्रकाश

“आचार्य योगीन्दुदेव द्वारा रचित “परमप्यासु” या परमात्मप्रकाश जैन गृहस्थों तथा मुनियों में बहुत प्रसिद्ध है।”¹²

इसकी लोकप्रियता के अनेक कारण हैं “प्रथम इसका नाम ही आकर्षक है। दूसरे पारिभाषिक शब्दों की भरमार न होने के कारण वर्णनशैली कठिन नहीं है। तीसरे, लेखन शैली सरल है। भाषा सुगम

1. योगसार, गाथा 108, पृ. 218

2. परमात्मप्रकाश, पृ. 106

अपभ्रंश है।¹¹ कन्नड़ और संस्कृत में इस पर अनेक प्राचीन टीकायें हैं। संस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेवसूरि ने परमात्मप्रकाश के दो भाग किये हैं।

1. त्रिविधात्मक अधिकार
2. मोक्षाधिकार

प्रथम अधिकार में 126 और द्वितीय में 219 दोहे हैं।¹² पं. बालचन्द्रजी ने जो कन्नड़ में टीका लिखी है। उसमें 6 पद अधिक हैं।¹² ब्रह्मदेव सूरि के अनुसार कुल 345 दोहे हैं।

प्रथम अधिकार के प्रारम्भ में सात दोहों में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया है। फिर तीन दोहों में ग्रन्थ की उत्थानिका है। पाँच दोहों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा का स्वरूप बताया गया है। इसके बाद दस दोहों में निकलपरमात्मा का स्वरूप बताया गया है। चौबीस दोहों में सकलपरमात्मा का वर्णन है। 6 दोहों में जीव के स्वशरीरप्रमाण की चर्चा है। फिर द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म, निश्चय सम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व आदि की चर्चा है।

दूसरे अधिकार में प्रारम्भ के दस दोहों में मोक्ष का स्वरूप, एक में मोक्ष का फल, उन्नीस दोहों में निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग तथा आठ में अभेद रत्नत्रय का वर्णन है। इसके बाद चौदह दोहों में समभाव की, चौदह में पुण्य-पाप समानता की और इकतालीस दोहों में शुद्धोपयोगी के स्वरूप की चर्चा है, अन्त में परम समाधि का कथन है।

3.2.11. समाधितन्त्र या समाधि शतक

यह ग्रन्थ आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित 105 श्लोकों का लघुकाय भेदज्ञानमूलक एवं आत्मभावना प्रधान संस्कृत ग्रन्थ है। यह अत्यन्त सरस, सरल, सुन्दर सूत्र रूप में लिखा गया है। विषय प्रतिपादन की

1. जैन साहित्य का इतिहास-2, पृ. 161

2. परमात्मप्रकाश, पृ. 95

शैली हृदयग्राही है। साहित्य की दृष्टि से रचना अनमोल है। इसकी संस्कृत टीका श्री प्रभाचन्द्र आचार्य की उपलब्ध होती है। हिन्दी टीका शीतलप्रसाद रचित है। कानजी स्वामी इस ग्रन्थ को पढ़कर अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने इस ग्रन्थ पर दो बार प्रवचन किये, एक बार तो समाधितन्त्र नाम से और दूसरी बार आत्मभावना नाम से उपलब्ध हैं। आत्मभावना केवल गुजराती में ही है।

ग्रन्थ के अन्तिम पद में इस ग्रन्थ का समाधितन्त्र नाम दिया गया है, किन्तु टीकाकार प्रभाचन्द्र ने अपनी टीका प्रशस्ति में इसका नाम 'समाधि शतक' दिया है।

इस ग्रन्थ में शुद्धात्मा के वर्णन की मुख्यता है। समाधि अर्थात् आत्मा की शान्ति की प्राप्ति का वर्णन। यह आचार्य पूज्यपाद ने आगम, युक्ति तथा अपने अन्तःकरण की एकाग्रता द्वारा सम्पन्न स्वानुभव के द्वारा किया है। मूलतः वह पद्य इसप्रकार है -

“श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तः करणेन सम्यक्,
समीक्ष्य कैवल्य सुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानयथाभिधास्ये।”

इस श्लोक में आचार्य पूज्यपाद ने शुद्धात्मा के स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा की है। इसी प्रकार का भाव योगसार में कहा गया है -

“जो पुरुष विद्वान है उन्हें एक चैतन्य स्वरूप आत्मा ही निश्चल मन से पढ़ने योग्य है, वही ध्यान करने योग्य है, वही सुनने योग्य है, वही अभ्यास करने योग्य है, वही उपार्जन करने योग्य है, वही कहने योग्य है, वही प्रार्थना करने योग्य है, वही शिक्षा योग्य है, वही देखने योग्य है और वही प्राप्त करने योग्य है।”¹²

इस तरह सम्पूर्ण ग्रन्थ मनोज्ञ रुचिकर और मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कराने वाला है।

1. समाधितन्त्र, पृ. 11

2. योगसार, गाथा 49

3.2.12. पद्मनन्दि पंचविंशतिका

‘पद्मनन्दि पंचविंशतिका’ नाम से उपदेश प्रधान यह ग्रन्थ अति प्रसिद्ध है। ‘पद्मनन्दि पंचविंशतिका’ ग्रन्थ में श्री मुनि पद्मनन्दि द्वारा रचित विषय समाविष्ट है। प्रत्येक विषय अपने आप में पृथक्-पृथक् एवं पूर्ण है। इसमें कुल 939 श्लोक है। 26 अधिकारों में अध्यात्म, भक्ति, वैराग्य, श्रावकाचार, आदि इन सबका मिश्रण है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने इस ग्रन्थ का दूसरा नाम ‘वन शास्त्र’ भी दिया है। जंगल में लिखा हुआ यह शास्त्र कानजी स्वामी को बहुत प्रिय था।

इसकी रचना मुख्य रूप से संस्कृत भाषा में की गई है। “इस ग्रन्थ की संस्कृत, कन्नड़, हिन्दी भाषा में अनेक टीकायें प्राप्त होती हैं। हिन्दी भाषा में प्राप्त टीका में पं. श्री गजाधरलाल न्यायतीर्थ द्वारा श्लोकों के अर्थ एवं भावार्थ दिये गये हैं। जिनकी भाषा अत्यन्त सरल एवं मनोहारी है। पं. बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री ने भी हिन्दी टीका लिखी है।” छब्बीस अधिकारों के नाम इसप्रकार हैं -

1. धर्मोपदेशामृत अधिकार	2. दानोपदेश अधिकार
3. अनित्य पंचाशत् अधिकार	4. एकत्व सप्तति अधिकार
5. यति भावनाष्टक अधिकार	6. उपासक संस्कार अधिकार
7. देशव्रतोद्योतन अधिकार	8. सिद्ध स्तुति अधिकार
9. आलोचना अधिकार	10. सद्बोध चन्द्रोदय अधिकार
11. निश्चय पंचाशत् अधिकार	12. ब्रह्मचर्य रक्षावर्ति अधिकार
13. ऋषभ जिनेन्द्र स्तोत्र अधिकार	14. जिनेन्द्र स्तोत्र अधिकार
15. सरस्वती स्तोत्र अधिकार	16. स्वयंभू स्तोत्र

1. पद्मनन्दि पंचविंशतिका, हिन्दी टीका, पं. गजाधरलाल न्यायतीर्थ, पृ. 42

2. पद्मनन्दि पंचविंशतिका, आचार्य पद्मनन्दि, पृ. 14

17. सुप्रभाताष्टक स्तोत्र अधिकार	18. शान्तिनाथ स्तोत्र अधिकार
19. जिन-पूजाष्टक अधिकार	20. करुणाष्टक अधिकार
21. क्रियाकाण्ड चूलिका अधिकार	22. एकत्व भावना अधिकार
23. परमार्थविंशति अधिकार	24. शरीराष्टक अधिकार
25. स्नानाष्टक अधिकार	26. ब्रह्मचर्याष्टक अधिकार

3.2.13. इष्टोपदेश

‘इष्टोपदेश’¹ आचार्य पूज्यपाद द्वारा छठी शताब्दी में संस्कृत भाषा में रचा हुआ ग्रन्थ है। यह 51 संस्कृत पद्यों का एक छोटा-सा आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ यथा नाम तथा गुण है। इसमें आचार्य पूज्यपाद ने सागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ किया है अर्थात् थोड़े में बहुत कुछ लिखा है।

इसकी महत्ता उपयोगिता को देखकर 700 वर्ष बाद पं. प्रवर आशाधर² ने इस पर संस्कृत टीका लिखी है जो काफी समृद्ध है। हिन्दी टीका धन्यकुमार इन्दौर द्वारा लिखित एवं ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद कृत हिन्दी दोहानुवाद अगास से प्रकाशित है।

वर्तमान में तो इसके मराठी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं।

ग्रन्थ के 50 पद्य संस्कृत अनुष्टुप छन्द में हैं। एक-एक पद्य एक-एक मणि की तरह बहुमूल्य है। उसमें जो उपदेश भरा हुआ है वह अमूल्य है। 50 वें पद्य में कहा गया है कि -

जीवोऽन्यः पुद्गलाश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।

यदन्यदुच्यते किञ्चित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥50॥³

1. इष्टोपदेश, पृ. 07

2. जैन साहित्य का इतिहास-2, पृ. 198

3. इष्टोपदेश, पृ. 51

जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार।

बाकी जो कुछ और है, याही को विस्तार।।

अर्थात् जीव अन्य है, पुद्गल अन्य है इस वाक्य में सब तत्त्वों का संग्रह हो जाता है। इसके सिवाय जो कुछ कहा जाता है वह इसी का विस्तार है।

इस तरह आत्मभावना पूर्ण उपदेशों से यह इष्टोपदेश भरा हुआ है। इष्टोपदेश को यदि जैनोपनिषद् कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। इसमें मानव कल्याणकारी तत्त्वों का बड़ा सुन्दर हृदयग्राही वर्णन किया गया है। इस छोटे से ग्रन्थ पर कानजी स्वामी ने अत्यन्त भाव गर्भित मार्मिक प्रवचन किये हैं।

3.2.14. भक्तामर स्तोत्र

‘भक्तामर स्तोत्र’ का अपर नाम ‘आदिनाथ स्तोत्र’ है।¹ इसमें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की भक्तिभावपूर्ण स्तुति की गई है। इसके प्रारम्भ में भक्तामर शब्द का प्रयोग होने से इस स्तोत्र का नाम भी ‘भक्तामर स्तोत्र’² प्रसिद्ध हो गया। इसके रचयिता श्री मानतुंगाचार्य हैं। इसकी रचना राजा भोज और कवि कालिदास के समय में विशेष परिस्थिति में हुई थी।

इस स्तोत्र का दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों जैन परम्पराओं में बहुत महत्त्व है। ऐसा माना जाता है कि इसे भक्तिभाव पूर्वक पढ़ने से सब प्रकार की विघ्न बाधाएँ दूर होती हैं। मनवांछित कार्य सिद्ध होते हैं तथा जीवन सुख-शान्तिमय बनता है।

भक्तामर स्तोत्र अन्य स्तोत्र की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है। तदनुसार उसके हिन्दी भाषा में अनेक कवियों द्वारा अनेक पद्यानुवाद हो चुके हैं। सबसे प्रथम पं. हेमराज³ ने ‘हिन्दी भक्तामर’ के रूप में संस्कृत स्तोत्र के अनुरूप पद्य-रचना की है। जो सर्वाधिक प्राचीन व सरस सर्वश्रेष्ठ रचना

1. भक्तामर स्तोत्र, पं. हीरालाल जैन कौशल, पृ. 04

2. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास-2, पं. परमानन्द शास्त्री, पृ. 134

3. भक्तामर प्रवचन, पं. रतनचन्द भारिल्ल, पृ. 12

है। इनके सिवाय अन्य सैकड़ों विद्वानों ने संस्कृत के अनुरूप हिन्दी पद्य रचना की है। कन्नड़, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में भी भक्तामर स्तोत्र अनूदित होकर प्रकाशित हो चुका है।

इस स्तोत्र की पद्य संख्या 48 हैं श्वेताम्बर सम्प्रदाय में 44 पद्य ही स्वीकृत किये गये हैं। जबकि दिगम्बर जैन 48 पद्य मानते हैं। "44 पद्य मानने वाले 32 से 35 तक चार पद्यों को नहीं मानते।" इससे उनके यहाँ चार प्रातिहार्यों का वर्णन छूट जाता है। "दिगम्बर में पूरे आठ प्रातिहार्य स्वीकार्य हैं। अतः भक्तामर स्तोत्र में श्लोक संख्या 48 ही ठीक बैठती है।" ¹² जो मुद्रित संख्या और हस्तलिखित पांडुलिपियों में मिलते हैं।

भक्तामर स्तोत्र में निष्काम भक्ति की भावना निहित है। भक्तामर स्तोत्र का जितना-जितना परिमन्थन हम करते हैं, उतना-उतना मर्मबोध हमें होता है। भक्तामर स्तोत्र मात्र जिनभक्ति का आधार-स्तोत्र नहीं है अपितु वह जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को भी हमारे सम्मुख पूरे सामर्थ्य के साथ प्रस्तुत करता है। इस स्तोत्र में काव्य को साहित्य सुषमा, अनुप्रासादि अलंकारों की दर्शनीय छटा, वसन्ततिलका जैसे मधुर मोहक गेय छन्द एवं उत्कृष्ट भक्ति द्वारा प्रवाहित शान्त रस की अविच्छिन्न धारा का सुन्दर संयोजन किया है। उक्त कारणों से ही भक्तामर स्तोत्र जन-जन का कण्ठाहार बना हुआ है।

जिनेन्द्रदेव का गुणगान करता आलंकारिक सुषमा से पूर्ण यह छन्द दृष्टव्य है -

“यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितास्त्रिभुवनैक ललामभूत।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति॥12”

अर्थात् हे त्रैलोक्य शिरोमणि ! जिन प्रशान्त रस से युक्त सुन्दर राग

1. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास-2, पृ. 134

2. भक्तामर प्रवचन, पृ. 11

रहित परमाणुओं से आपका परम औदारिक शरीर निर्मित हुआ है, वे परमाणु भी वस्तुतः उतने ही थे, क्योंकि समस्त पृथ्वीतल पर आपके समान अन्य किसी का ऐसा सुन्दर रूप निश्चित ही नजर नहीं आता।

इस स्तोत्र के ऊपर श्री कानजी स्वामी ने भक्तिरस को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए आध्यात्मिक विवेचन भी प्रस्तुत किया है।

3.2.15. विषापहार स्तोत्र

महाकवि धनंजय द्वारा विरचित यह 'विषापहार स्तोत्र' है। यह स्तोत्र भी आदि ब्रह्म भगवान आदिनाथ की स्तुतिरूप है। "यह स्तवन अपनी प्रौढ़ता, गंभीरता और अनूठी उक्तियों के लिये प्रसिद्ध है। इस स्तवन पर अनेक संस्कृत टीकायें मिलती हैं, जिनमें सोलहवीं शताब्दी के विद्वान् पार्श्वनाथ के पुत्र नागचन्द्र की है और दूसरी टीका चारुकीर्ति की है।" इस स्तोत्र में 40 काव्य है और प्रत्येक काव्य में जिनेन्द्रदेव की अलग-अलग प्रकार से स्तुति कर अपनी वीतरागता की अनुमोदना को व्यक्त किया गया है।

इस स्तोत्र के साथ भी एक कथा जुड़ी हुई है। धनंजय कवि पूजन में तल्लीन थे। उनके इकलौते पुत्र को सर्प काट लेता है। बारम्बार बुलाने पर भी जब उनकी तन्मयता खण्डित नहीं होती तब उस पुत्र को बेहोशी की दशा में उनके सामने डाल दिया जाता है। किन्तु इसका आभास भी उन्हें नहीं होता। "जिनभक्ति की तन्मयता में ही इस स्तोत्र की रचना हो जाती है। जब इसके चौदहवें श्लोक की रचना हुई उसी क्षण पुण्योदय से उनके पुत्र का विष उतर जाता है। इस कारण यह स्तोत्र 'विषापहार' के नाम से सुविख्यात हो जाता है। यद्यपि कवि ने इस प्रकार की कोई कामना याचना नहीं की है।" ¹¹ स्तुति के कारण विष उतर गया हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु ऐसा सहज सम्बन्ध बना था।

1. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास-2, पं. परमानन्द शास्त्री, पृ. 139

2. विषापहार स्तोत्र, धनंजय कवि, पृ. 02

कवि आरम्भ में ही विरोधाभास अलंकार द्वारा आराध्य के गुणों का विवेचन करता हुआ कहता है - “आप स्वात्मा में स्थित होकर भी सर्वव्यापक हैं, समस्त व्यापारों के जानकार होने पर भी परिग्रह से रहित हैं। और दीर्घायु वाले होकर-ज्येष्ठ पुरुष होकर भी जरा से रहित हैं।”¹¹

इस सन्दर्भ में यह विरोध है कि जो स्वरूप में स्थित है वह सर्वव्यापक किसप्रकार होगा? इस विरोध का परिहार यह है कि आत्मप्रदेशों की अपेक्षा अपने स्वरूप में स्थित होने पर भी ज्ञान की अपेक्षा समस्त पदार्थों को जानने के कारण सर्वव्यापक हैं। इसी प्रकार जो सम्पूर्ण व्यापारों को जानने वाला है, वह परिग्रह रहित कैसे हो सकता है? यह विरोध है। इसीप्रकार स्वाभाविक परिवर्तनों को जानते हुए भी कर्मों के सम्बन्ध से रहित हैं। दीर्घायु होने पर भी अष्टादश दोषों को जीतने के कारण जरा से रहित हैं।

इस स्तोत्र में जिनागम के कई महत्वपूर्ण न्याय भरे हुए हैं, जिनका विवेचन कानजी स्वामी ने भक्तिरस से ओतप्रोत मंगल प्रवचनों के द्वारा किया है।

इस स्तोत्र में वस्तुतः निजात्म भगवान की ही स्तुति है। भगवान आत्मा परम अमृत स्वरूप है, किन्तु उसकी पर्याय में अनादि से ही राग-द्वेष एवं कर्तृत्व-एकत्व बुद्धिरूपी विष प्रवर्तमान है। उस मिथ्यारूप विष के अभाव का एकमात्र उपाय चैतन्य स्वरूप अमृत स्वभाव की दृष्टि एवं स्थिरता ही है। मंगलाचरण में उन्हीं भावों को व्यक्त करते हैं -

“स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्त व्यापार वेदी विनिवृत्तः संगः।

प्रबृद्ध कालोऽप्यजरो वरेण्यः पायादपायात्युरुषः पुराण॥”¹²

धनंजय कवि ने 8वें काव्य में ऋषभदेव की गंभीरता समुद्र के

1. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री, पृ. 504

2. विषापहार स्तोत्र, धनंजय कवि, पृ. 04

समान, उन्नत प्रकृति मेरु के समान और विशालता आकाश-पृथ्वी के समान बतला कर उनकी लोकोत्तर महिमा का चित्रण किया है।

“अगाधताब्धेः स यतः पयोधिः मैरोश्च तुंग प्रकृति स यत्र।

धावापृथिव्योः पृथुता तथैव व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि।”¹

इस प्रकार सम्पूर्ण काव्य-भक्ति से सरोबार भक्तजनों के चित्त को आकर्षित करने वाली अद्वितीय रचना है।

3.2.16. समयसार कलश टीका

लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम के प्रारम्भ में श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्राकृत भाषा में 415 गाथाओं में महान ग्रन्थाधिराज 'समयसार' की रचना की। उनके एक हजार वर्ष बाद उस ग्रन्थ की संस्कृत भाषा में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने 'आत्मख्याति' नाम से टीका लिखी। 'संस्कृत गद्य में टीका लिखते हुए आचार्यदेव ने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के घोलन से उत्पन्न आनन्द को संस्कृत पद्य में भरकर मानों समयसार रूपी मन्दिर पर कलशारोहण कर दिया है। इन संस्कृत पद्यों को 'कलश' शब्द से सम्बोधित भी किया जाता है। इसमें 278 कलश समाहित हैं।”²

कानजी स्वामी ने इस ग्रन्थ पर प्रवचन करते समय इस टीका की महिमा से अभिभूत होकर बारम्बार यह कहते नहीं अघाते थे कि 'अहा हा! भरतक्षेत्र में ऐसी टीका और कहीं नहीं है।' उनके इस उद्गार में टीका की महानता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्रदेव के 278 कलशों पर पाण्डे राजमल ने ढूँढारी भाषा में 'बालबोधिनी टीका' लिखी जो 'समयसार कलश टीका' के नाम से जानी जाती है। जिसका हिन्दी अनुवाद पं. फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री ने किया है। इन्हीं कलशों पर शुभचन्द्राचार्य की टीका 'परम अध्यात्म तरंगिणी' के नाम से उपलब्ध है। सम्पूर्ण टीका

1. विषापहार स्तोत्र, पृ. 36

2. समयसार, पृ. 03

12 अधिकारों में विभक्त है। अध्यात्म के जिस बीज को कुन्दकुन्द ने बोया और उसे पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने का श्रेय आचार्य अमृतचन्द्र को ही प्राप्त है।

टीकाओं का अध्ययन कर अध्यात्म रसिक विद्वान दांतों तले अंगुली दबाकर रह जाते हैं। टीकाओं की भाषा प्रौढ़, प्रभावशाली एवं गतिशील है। अध्यात्म दृष्टि से लिखी गई ये टीकायें स्वसमय और परसमय की बोधक हैं। निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से वस्तुतत्त्व का विचार किया गया है -

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुतत्त्व का परिज्ञान करने के लिये दोनों नयों का अवलम्बन लेता है; परन्तु श्रद्धा में वह अशुद्धनय के अवलम्बन को हेय समझता है। यही कारण है कि वस्तुतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान होने पर अशुद्धनय का अवलम्बन छूट जाता है। इसी से आचार्यदेव ने उभयनयों के अवलम्बन से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन किया है।

कविवर राजमल की यह टीका भव्यजनों को आह्लाद उत्पन्न करने वाली है। सुगम और सरल भाषा में लिखी गई है। हिन्दी में इसका अनुवाद हो जाने के कारण अध्यात्म जैसे गूढ़तम तत्त्व के प्रचार में यह टीका अधिक सहायक होगी।

3.2.17. समयसार नाटक

समयसार नाटक पंडित बनारसीदास की सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार कलश की पंडित राजमल की टीका के आधार पर रचित पुरानी ब्रज हिन्दी का काव्यमय ग्रन्थ है।

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखित 'आत्मख्याति टीका' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। जिसके बीच में 278 काव्य विभिन्न छन्दों में लिखे हैं। 400 वर्ष पूर्व उन कलशों पर पांडे राजमलजी ने 'बालबोधिनी टीका' लिखी। उस टीका के आधार पर पं. बनारसीदास ने ब्रजभाषा में समयसार नाटक की रचना की।

यह ग्रन्थ मात्र पद्यानुवाद नहीं है। इसमें मौलिकता एवं स्वतंत्र प्रवाह विद्यमान है। यह ग्रन्थ भाषा, भाव, शैली सभी दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ रचना है।

समयसार नाटक तेरह विभागों में विभक्त है। कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार में विभागों को अधिकार शब्द से अभिहित किया है। परन्तु बनारसीदासजी ने अधिकारों को 'द्वार' शब्द से अभिहित किया है। यहाँ पर द्वार शब्द से तात्पर्य 'दृश्य परिवर्तन' से है।

जिसप्रकार नाटकों में दृश्य परिवर्तित होते हैं, उसी प्रकार इसमें भी दृश्य परिवर्तित होते हैं, और द्वार में से जीवादि पात्र प्रवेश करते हैं। कविवर बनारसीदास ने एक पद के माध्यम से सभी अधिकारों के नाम देकर उन्हें द्वार शब्द से अभिहित किया है। वह पद इस प्रकार है -

जीव-निर्जीव, कर्ता-कर्म पुण्य-पाप,
आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध मोष है।
सरव विसुद्धि स्याद्वाद साध्य-साधक
द्वादश द्वार धरै समैसार कोष है।

इस पद में तेरहवें द्वार का नाम नहीं दिया है, क्योंकि वह समयसार की व्याख्यात्मक टीका न होकर कवि द्वारा स्वरचित अध्याय है। इन तेरह अधिकारों के अतिरिक्त प्रारम्भ में मंगलाचरण व उत्थानिका और अन्त में प्रशस्ति लिखी गई है।

इसका मूल प्रतिपाद्य तो आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार में प्रतिपादित विषय-वस्तु ही है। तथापि बनारसीदास का प्रदेय यह है कि उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित जिन-अध्यात्म को अत्यन्त सरल लोक भाषा एवं सरस गेय पदों में अभिव्यक्ति प्रदान कर उन्हें जन-जन की वस्तु बना दिया है।

जिन मूलभूत भूलों के कारण यह अज्ञानी जीव अनादिकाल से संसार

में भटकता हुआ दुःख भोग रहा है, उन मूलभूत भूलों पर इस ग्रन्थ में अति आवश्यक मार्गदर्शन दिया गया है।

बारह द्वारों का विस्तृत वर्णन इसप्रकार है -

1-2. जीव-अजीवद्वार

मंगलाचरण और उत्थानिका के बाद सर्व-प्रथम इस ग्रन्थ में जीव और अजीव के बीच भेदविज्ञान कराया गया है।

कवि लिखते हैं -

“चेतनवन्त अनन्तगुण, सहित सू आतमराम।

यातैं अनमिल और सब पुद्गल के परिनाम।।”¹

“ज्यों घट कहिये घीव कौ, घटकौ रूप न घीव।

त्यों वरनादिक नाम सौं, जड़ता लहै न जीव।।”²

आत्मा अनादि अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड चेतन द्रव्य है और इससे मेल न खाते हुये जितने भी पदार्थ दिखाई देते हैं उन सभी को जड़ पुद्गल का परिणाम समझना चाहिये। जिस प्रकार घृत के संयोग से घड़े को घी का घड़ा कहा जाता है उसी प्रकार वर्णादिक के संयोग से जीव को गोरा काला कहने से जीव जड़रूप नहीं हो जाता है, चेतन रूप ही रहता है। जीव-अजीव द्वार का मुख्य प्रयोजन निज भगवान आत्मा को परपदार्थों से भिन्न बताना ही है। जीव द्वार में 35 छन्द एवं अजीव द्वार में 14 छन्दों द्वारा वर्णन किया गया है।

3. कर्ताकर्म क्रियाद्वार

जीव-जड़ को भिन्न मान लेने पर भी जीव अपने को जड़ पदार्थों का कर्ता अथवा जड़ पदार्थों को अपना कर्ता मानता रहता है। इस कर्ता-कर्म सम्बन्धी भूल को दूर करने के लिये कर्ता-कर्म क्रियाद्वार लिखा गया है। इसका वर्णन 36 छन्दों के माध्यम से किया गया है।

1. समयसार नाटक, छन्द 04

2. समयसार नाटक, छन्द 09

4. पुण्य-पाप द्वार

कर्ता-कर्म क्रिया के वर्णन के पश्चात् 16 छन्दों के माध्यम से कवि ने पुण्य-पाप की समानता का वर्णन किया है।

यद्यपि पुण्य और पाप दोनों ही आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं। तथापि यह अज्ञानी आत्मा पुण्य को भला और पाप को बुरा मानता है। इसका समाधान पुण्यपाप एकत्व द्वार में किया गया है।

5. आस्रव द्वार

आस्रव द्वार का आध्यात्मिक रीति से 15 छन्दों के माध्यम से वर्णन किया है। वास्तव में मिथ्यात्व ही आस्रव है, वह विभाव परिणति हैं। पुद्गलजनित है। आत्मा का निज स्वभाव नहीं है। सम्यग्ज्ञान की दशा में आस्रव का अभाव होता है।

6. संवर द्वार

धर्म का या मोक्षमार्ग का प्रारम्भ संवर से होता है। संवर द्वार में 11 छन्दों के माध्यम से संवर का मूल कारण भेदविज्ञान का स्वरूप, महिमा, आवश्यकता आदि का वर्णन स्पष्टता के साथ किया है। कवि ने मोक्ष का मूल भेदविज्ञान है यह सिद्ध कर भेदविज्ञान की प्रेरणा दी है।

7. निर्जरा द्वार

61 छन्दों में निबद्ध निर्जरा द्वार में कवि ने ज्ञानी जीव को ही सच्ची निर्जरा होती है इस विषय से प्रस्तुत किया है। ज्ञानी जीव ज्ञान और वैराग्य में मस्त रहते हैं। परपदार्थों के प्रति राग-द्वेष नहीं करते। कदाचित् योग की परिस्थिति में भी हो तो उसमें सुख बुद्धि न होने के कारण उसे उस समय में भी निर्जरा होती है। जो सप्त भयों से रहित एवं वस्तु स्वरूप के यथार्थ ज्ञाता हैं, ऐसे आत्मज्ञानी वैराग्य रस से भीगे हुए जीव ही निर्जरा तत्त्व प्रगट करते हैं; ऐसे ज्ञानीजन को नमस्कार करते हैं।

8. बन्धद्वार

बन्धद्वार में 58 छन्दों के माध्यम से कविवर ने यह भलीभाँति सिद्ध किया है कि कार्माणवर्णणायें योग, हिंसा और असंयम बन्ध के मूलकारण कारण नहीं हैं, बन्ध का मूल कारण तो शुभ और अशुभ अशुद्धोपयोग ही है। अशुद्धोपयोग राग-द्वेष-मोहरूप है। इनका अभाव ही सम्यग्दर्शन है। अतः बन्ध का अभाव करने के लिए सम्यग्दर्शन को सम्भालना चाहिए। इस द्वार में कवि ने अधम-अधमाधम मिथ्यादृष्टि जीवों के स्वभावों का वर्णन उदाहरण सहित सरल एवं सरस रीति से किया है, जो मूलतः पठनीय है।

9. मोक्ष द्वार

समयसार नाटक ग्रन्थ के नवें अध्याय “मोक्ष द्वार” में कविवर ने मोक्षतत्त्व का विवेचन 53 छन्दों में किया गया है। उन्होंने इस अधिकार में भेद-विज्ञान का फल मोक्ष प्रगट किया है। मोक्ष आत्मा का निज स्वभाव अर्थात् जीव की कर्ममल रहित अवस्था है। वस्तुतः जीव तो मुक्त स्वरूप ही है, जीव मुक्त हुआ यह कथन व्यवहार मात्र है। संसार शरीर से ममता को हटाकर समता धारण कर एवं अष्ट कर्मों का अभाव करके मोक्ष दशा प्रगट होती है तथा मुक्त जीवों को अष्ट कर्मों का अभाव होने पर अष्टगुण प्रगट होते हैं।

10. सर्वविशुद्धि द्वार

मोक्ष द्वार के पश्चात् कवि ने सर्वविशुद्धि द्वार की रचना की है। यह द्वार समस्त द्वारों में सबसे बड़ा है, इसमें मूल 159 छन्दों में शुद्ध आत्मा का स्वरूप बतलाया गया है। उन्होंने इस द्वार में इस बात पर विशेष जोर दिया है कि शुद्धात्मा कर्मों का कर्ता व भोक्ता नहीं है। जब तक जीव अज्ञान अवस्था में रहता है। तभी तक कर्ता है। आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में अन्य दर्शनों की मान्यतायें मिथ्या हैं। इस पर भी उन्होंने विशेष प्रकाश डाला है। इसी अध्याय में कवि ने साहित्य के नव रसों का पारमार्थिक स्वरूप क्या है? इसका भी विवेचन किया है।

11. स्याद्वाद द्वार

29 छन्दों में निबद्ध स्याद्वाद द्वार महत्त्वपूर्ण द्वार है, जिसमें उन्होंने जैनदर्शन की मुद्रा, स्याद्वाद का आचार्य अमृतचन्द्र के वचनों के आधार पर विवेचन किया है। इस द्वार में उन्होंने सप्तभंगी का वर्णन करते हुए चौदह एकान्त मिथ्या मान्यताओं का खण्डन स्याद्वाद विद्या के द्वारा किया है।

12. साध्य-साधक द्वार

ग्रन्थ के 12वें अध्याय साध्य-साधक द्वार में छन्द 56 हैं। जो साध्य को साधे वह साधक और जिसको साधा जावे उसे साध्य कहा जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा ही साधक है और आत्मा ही साध्य है। इसी अध्याय में उन्होंने अपनी बुद्धि से ही 5 प्रकार के जीवों का वर्णन किया है।

चतुर्दश गुणस्थानाधिकार

मूल समयसार में तथा समयसार कलश टीका में गुणस्थानों का विवेचन नहीं है, पर अध्यात्म के विषय को गुणस्थान के ज्ञान के सहयोग से पचाया जा सकता है। ऐसा समझकर पं. बनारसीदास ने पृथक् से चतुर्दश गुणस्थानाधिकार की रचना की जिसमें उन्होंने 14 गुणस्थानों का स्पष्ट और संक्षिप्त वर्णन किया है।

अन्त में ग्रन्थ रचना की समाप्ति में प्रशस्ति की रचना भी की है।

3.2.18. मोक्षमार्गप्रकाशक

आचार्यकल्प पं. टोडरमल द्वारा गद्य में लिखित ग्रन्थ 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' इस युग में दिगम्बर जैन समाज का सर्वाधिक पढ़ा जाने वाला ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ वास्तव में हिन्दी साहित्य की एक अनुपम निधि है।

पं. टोडरमल ने मोक्षमार्गप्रकाशक की रचना सरल हिन्दी (ढूँढ़ारी) भाषा में करके उन्होंने लोक की एक बहुत बड़ी भारी आवश्यकता का सम्मान किया है। "यह अनुभूति और चिन्तन प्रधान ग्रन्थ है। वह मोक्षमार्ग

प्रकाशक है मोक्ष का शास्त्र नहीं। मोक्षमार्ग प्रकाशक न केवल आध्यात्मिक ग्रन्थ है। बल्कि समाज का दर्पण भी है। मोक्षमार्ग प्रकाशक आध्यात्मिक चिकित्सा का शास्त्र हैं जिसमें रोगों का निदान ही नहीं वरन् औषधि भी है।¹¹

मोक्षमार्गप्रकाशक पं. टोडरमल का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह सम्पूर्ण जैन साहित्य को अपने में समेट लेने का सार्थक प्रयत्न था। पर यह ग्रन्थराज पूर्ण न हो सका। अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्वता के लिये प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है, जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं। खड़ी बोली में इसके अनुवाद भी कई बार प्रकाशित हो चुके हैं। यह उर्दू में एवं अंग्रेजी भाषा में भी प्रकाशित हो चुका है। मराठी एवं गुजराती में भी इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

समूचे समाज में यह स्वाध्याय और प्रवचन का लोकप्रिय ग्रन्थ है इसकी मूल प्रति भी उपलब्ध है एवं जिसके फोटो प्रिंट भी करा लिये हैं। जो जयपुर, मुम्बई, दिल्ली और सोनगढ़ में सुरक्षित हैं। इस पर स्वतन्त्र प्रवचनात्मक व्याख्यायें मिलती हैं।

ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलमय वीतराग-विज्ञान को नमस्कार किया गया है; तदुपरान्त पंचपरमेष्ठी को। आठवें अधिकार को छोड़कर प्रत्येक अधिकार का आरम्भ मंगलाचरण स्वरूप दोहे से किया गया है। इस ग्रन्थ का आरम्भ मंगलाचरण रूप दो दोहों से हुआ है, पर आगे प्रत्येक अधिकार के आरम्भ में एक-एक दोहा है। सातवें अधिकार के अतिरिक्त प्रत्येक अधिकार के अन्त में 'तुम्हारा कल्याण हो!' के मृदुल सम्बोधनों में पाठकों को मंगल आशीर्वाद दिया है।

ग्रन्थ के विषय के विकास क्रम में "धर्म और उसके जीवन के उत्कर्ष की अनिवार्यता, धर्म की उपलब्धि के साधन देव, गुरु और सत् साहित्य तथा परीक्षा पूर्वक उनका स्वीकार, धर्म विरोधी तत्त्व, आस्तिकता,

1. पं. टोडरमल व्यक्तित्व एवं कृतित्व: डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पृ. 21

नास्तिकता, पारम्परिक कुलाचार में धर्म की असम्भावना, पुण्य-पाप और उनके फल की सिद्धि, मुक्ति तथा उसका फल स्थायी तथा स्वाधीन सुख आदि महत्त्वपूर्ण विषय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से सहज ही उसमें गर्भित हो गये हैं।¹¹

प्रथम अधिकार ग्रन्थ की पीठिका² है। इसमें मंगलाचरण के उपरान्त पंचपरमेष्ठियों का स्वरूप, उनके पूज्यत्व का कारण, मंगलाचरण का हेतु, ग्रन्थ की प्रामाणिकता और ग्रन्थ निर्माण हेतु पर विचार किया गया है। तदुपरान्त वांचने-सुनने योग्य शास्त्र के स्वरूप तथा वक्ता और श्रोता के स्वरूप पर भी विचार किया गया है। अन्त में मोक्षमार्गप्रकाशक के निर्माण और नाम की सार्थकता सिद्ध की गई है।

दूसरे, तीसरे और चौथे अधिकार में संसार तथा उसका निमित्त कर्म तथा कर्मोदय से होने वाले आत्मा के विविध काषायिक परिणाम, सांसारिक प्राणियों के चतुर्गति सम्बन्धी दुःख और उनके मूल कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र के मार्मिक वर्णन से अलंकृत है।

पांचवें अधिकार में गृहीत मिथ्यात्व का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत 'विविध मत समीक्षा' जिसमें अन्य मतों के साथ जैन मत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के आधार पर जैन मत की समीचीनता सिद्ध की गई है।

छठवें अधिकार में भी गृहीत मिथ्यात्व के ही अन्तर्गत कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का स्वरूप बताकर उनकी उपासना का निषेध किया गया है तथा मुक्ति विरोधी तत्त्वों से कभी सम्पर्क नहीं करना चाहिये यह निर्देश दिया गया है।

सम्पूर्ण मोक्षमार्ग प्रकाशक में सातवाँ और नवाँ अधिकार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सातवें अधिकार में सूक्ष्म मिथ्यात्व का वर्णन किया गया

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक : एक अध्ययन, जुगल किशोर 'युगल', पृ. 09

2. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पं. टोडरमल, पृ. 02

है। मुक्त तथा मुक्ति के पथिक पुरुष तथा इनकी तात्त्विक वाणी का दुर्लभ योग पाकर भी “जैन” संज्ञक प्राणी किस प्रकार अज्ञान की उपासना करता रहता है और तत्त्व का विरोध करता रहता है, इसका विशद विवेचन किया गया है।

आठवें अधिकार में उपदेश के स्वरूप पर विचार किया गया है। समग्र जैन साहित्य विषय भेद की दृष्टि से चार अनुयोगों में विभक्त है— प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रत्येक अनुयोग की अपनी कथन शैली अलग-अलग है। कथन शैली का ज्ञान हुए बिना जैनसाहित्य का मर्म समझ में नहीं आ सकता, अतः इस अधिकार में अनुयोगों का विषय और इनकी प्रतिपादन शैली का विस्तृत विवेचन किया गया है।

नवाँ अधिकार इस ग्रन्थ का अन्तिम स्वरूप है और वह भी अपूर्ण है। मुक्ति के बाधक तत्त्वों का सविस्तार दिग्दर्शन कर चुकने के बाद मोक्षमार्ग के अविभाज्य अवयव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र की विस्तृत विवेचना पं.टोडरमल नवें अधिकार से ही करना चाहते थे किन्तु उसमें मात्र सम्यग्दर्शन का ही थोड़ा-सा विवेचन ही हो पाया है। सम्यग्दर्शन का अवशिष्ट विषय तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से तो बिल्कुल अछूते ही रह गये।

3.2.19. छहढाला

छहढाला ग्रन्थ तीन कवियों के द्वारा रचा गया है। कविवर बुधजन, पं. दानतराय और पं. दौलतराम। दौलतराम द्वारा रचित छहढाला दिगम्बर जैन समाज में सर्वाधिक प्रचलित है। इसे छोटा समयसार कहा जाता है; क्योंकि इस छोटे से ग्रन्थ में गागर में सागर भरा हुआ है।

“दौलतराम ने छहढाला ग्रन्थ की रचना प्राचीन विद्वान् बुधजनजी कृत छहढाला के आधार से की थी।”¹ अध्यात्म प्रेमी कविवर विद्वान् पं. दौलतराम द्वारा रचित ग्रन्थ छहढाला दिगम्बर जैन समाज में बहुत अधिक

1. छहढाला मन्थन, ऐलक उदारसागरजी महाराज, पृ. 136

प्रचलित है। छहढाला से तात्पर्य इस ग्रन्थ में वर्णित छहढालों से है जिसप्रकार युद्धक्षेत्र में शत्रु पक्ष के प्रहारों से बचाव के लिये ढालों का प्रयोग किया जाता है। उसी प्रकार इस संसार चक्र में इस जीव को चौरासी लाख योनियों में भटकाने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से बचाव के लिये छहढाला ग्रन्थ है।

“कृतिकार ने क्षुद्र में विराट, बिन्दु में सिन्धु समाहित कर दिया है। बीज से वृक्ष बनाने की यात्रा के मिष आत्मा से परमात्मा बनने का विज्ञान समेटे हुये यह लघु कृति अपने आप में सुख, दुःख, नरक, स्वर्ग आदि की विस्तृत व्याख्या मनुष्य के मन को आन्दोलित कर देती है।”¹

इसमें छह ढाल हैं। छह प्रकार के छन्द व छह प्रकरण हैं। इसलिये इस ग्रन्थ का नाम छहढाला है। “पं. दौलतराम ने वि.सं. 1891 में अक्षय तृतीया के दिन छहढाला ग्रन्थ की रचना की।”² उसमें संसारी जीव के भ्रमण की कथा है तथा यह जीव किस प्रकार संसार रूपी समुद्र को पार करके मोक्षपद प्राप्त कर सकता है। इसका मार्ग भी सुगमता से बताया गया है। “छह अधिकारों या ढालों के अन्तर्गत 94 छन्दों का समावेश किया गया है।”³

छह ढालों का विस्तृत वर्णन इसप्रकार है -

1. पहली ढाल

तीन लोक में जो अनन्त जीव हैं, वे सब सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। किन्तु अपना यथार्थ स्वरूप समझे तभी सुखी हो सकते हैं। चार गतियों के संयोग किसी भी सुख-दुःख का कारण नहीं हैं। पर में एकत्वबुद्धि द्वारा इष्ट-अनिष्टपना मानकर जीव अकेला दुःखी होता है। इसका सुविशद एवं संक्षिप्त वर्णन पहली ढाल में किया गया है।

1. छहढाला मन्थन, पृ. 3

2. छहढाला सार्थ, पृ. 02

3. जैनदर्शन गणित, पृ. 177

2. दूसरी ढाल

पं. दौलतराम ने दूसरी ढाल में बताया है कि यह जीव मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के वश होकर संसार परिभ्रमण करके प्रतिसमय अनन्त दुःख भोग रहा है। जब तक यह जीव देहादि से भिन्न अपने आत्मा की सच्ची प्रतीति तथा रागादि का अभाव न करें, तब तक सुख शान्ति और आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता।

एक ओर जहाँ संसारी प्राणियों की मिथ्या मान्यताओं पर कड़ा प्रहार किया है, वहीं दूसरी ओर जीवादि छह द्रव्यों का स्वरूप बताकर मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र को संसार का सेतु बनाया है और अन्त में आत्मार्थीजनों को कुगुरु कुदेव कुधर्म को परित्याग करने की प्रेरणा दी है। इसका वर्णन सूत्रात्मक शैली में किया गया है।

3. तीसरी ढाल

तीसरी ढाल में मोक्षमार्ग का सामान्य स्वरूप, सम्यग्दर्शन का विशेष लक्षण, फल एवं महिमा का वर्णन सुन्दर रीति से किया गया है। तीसरी ढाल निश्चय को कार्य और व्यवहार को उसका कारण मानकर दोनों के बीच अनूठा तादात्म्य स्थापित करती है। सप्त तत्त्व का व्याख्यान, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की व्याख्या सरल भाषा में की गई है। सम्यक्त्व के 25 दोषों का भी वर्णन किया गया है। अन्त में सम्यक्त्व को मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी निरूपित कर ज्ञान और चारित्र की उपयोगिता को सम्यक्त्व के अभाव में निरर्थक माना है।

4. चौथी ढाल

चौथी ढाल में पं. दौलतरामजी ने कहा है कि सम्यग्दर्शन से ही ज्ञान और चारित्र में समीचीनता आती है। मनुष्य जन्म की सार्थकता जिनवाणी के श्रवण तथा तद्रूप आचरण करने में ही है। पाप-पुण्य में समान दृष्टि रखने वाला ही अपनी आत्मा की अनन्त ऊँचाइयाँ प्राप्त कर सकता है। गृहस्थ श्रावक की चर्या, बारह व्रतों का निरूपण और निरतिचार पालन करने की प्रेरणा इसे विशिष्ट बना देती है।

5. पाँचवीं ढाल

पाँचवीं ढाल बारह भावनाओं के रस गाम्भीर्य से ओत-प्रोत है। इसमें संसार की असारता, मनुष्य जन्म की दुर्लभता, शरीर और आत्मा की भिन्नता, शरीर की अपवित्रता, शरीर की अस्थिरता और मुनियों के समान आचरण करने की प्रेरणा दी गई है। सम्यक् प्रकार से बारह भावनायें भाने से वीतरागता की वृद्धि होती है, समता भाव प्रगट होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है। बारह भावनाओं का चिन्तन मुख्य रूप से मुनियों अर्थात् वीतरागी दिगम्बर मुनिराजों को ही होता है।

6. छठवीं ढाल

छठवीं ढाल में मुनियों के स्वरूप का वर्णन किया गया है। मुनियों के षट् आवश्यक, पंच समिति पर पैनी नजर रखते हुये कैवल्य विभूति का विवेचन किया गया है। ध्यान की एकाग्रता, योग की निष्पन्दता कर्मरूपी शत्रुओं का संहार करती है और जो उससे आत्मिक सुख की प्राप्ति होती है उस सुख के सामने इन्द्र, अहमिन्द्र के सुखों का कोई मूल्य नहीं है। इसलिये मनुष्य पर्याय, सत्समागम आदि सुयोग बार-बार प्राप्त नहीं होते, उन्हें व्यर्थ न गँवाकर अवश्य ही आत्महित साध लेना चाहिये तथा अन्तिम सीख दी गई है कि आलस्य छोड़कर, कर्तव्य समझकर मोक्ष पुरुषार्थ की ओर प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

3.2.20. अनुभव प्रकाश

‘अनुभव प्रकाश’ ग्रन्थ पंडित दीपचन्द शाह कासलीवाल द्वारा रचित है। यह ‘अनुभव प्रकाश’ ग्रन्थ आत्मानुभव का छोटा-सा परन्तु भाववाही ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की मूल भाषा ढूँढारी है। जैसा कि ‘अनुभव प्रकाश’ ग्रन्थ के निम्न अंश से प्रगट है -

“महामुनिजन निरन्तर स्वरूप सेवन करें हैं। तातैं अपना त्रैलोक्य पूज्य सबतैं उच्च पद अवलोकि कार्य करना है। कर्म घटा में मेरा स्वरूप सूर्य छिपा है। कछु मेरा स्वरूप सूर्य का प्रकाश कर्म घटा करि हण्यो न

जाय, आवरया है, ढका हुआ है। घटा का जोर है (सो) मेरे स्वरूप कूँ हणि न सके। चेतन ते अचेतन न करि सके। मेरी ही भूल भई, स्वपद भूला, भूल मेटि जब ही मेरा स्वपद ज्यों का त्यों बना है।¹¹

कानजी स्वामी ने इस ग्रन्थ पर प्रवचन किये हैं। जो कि 'अनुभव प्रकाश प्रवचन' नाम से प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम ग्रन्थ का आरम्भ मंगलाचरण से किया गया है, जिसमें निर्वाणनाथ भगवान को नमस्कार किया गया है। श्री जिनवर भगवान अनन्त गुणमय परमदेव स्वरूप हैं। वे निज ध्यान में सदा अचल रहते हुये ज्ञान में ज्ञेय को जानते हैं। ग्रन्थ में आत्मा का स्वरूप, स्वरूप प्राप्ति का उपाय, साध्यसाधक भेद, अनुभव वर्णन, देवाधिकार, ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार, निज धर्म अधिकार, मिश्रधर्म अधिकार, निश्चयधर्म मोक्षमार्ग, समाधिमरण वर्णन आदि विषयों की संक्षिप्त चर्चा है। इस ग्रन्थ में आत्मरस के आस्वादन की रीति (विधि) बतलाई गई है।

ज्ञान के द्वारा विचार किस प्रकार करना चाहिये, यह भी इस ग्रन्थ में बताया गया है -

“शरीर में चेतन है, दृष्टि द्वार से देखता है, ज्ञान द्वार से जानता है, अपने उपयोग द्वारा स्वयं चेतन हूँ, स्वयं ऐसा जाने कि देह में देह को देखने वाला मेरा स्वरूप चेतन रूप है। वास्तव में जड़ जड़ को चलाता है। चेतन जड़ को नहीं चलाता। इस तरह अपने स्वरूप को चेतन मानकर अचेतन का अभिमान छोड़ना (वह) मोक्ष का मूल है।¹²

3.2.21. अन्य ग्रन्थ

कानजी स्वामी ने प्रमुख मूल ग्रन्थों पर प्रवचन किये हैं। उन मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी हैं जिनमें श्रीमद् राजचन्द द्वारा रचित

1. अनुभवप्रकाश, पृ. 07

2. वही, पृ. 07

142 काव्यमय अध्यात्मरसपूर्ण ग्रन्थ 'आत्मसिद्धि' तथा मुनिपद की पावन भावनामय 'अपूर्व अवसर' काव्य पर एवं बहिन श्री चम्पाबेन के अध्यात्म सूक्ति ग्रन्थ 'बहिनश्री के वचनामृत' तारण स्वामी के 'ममल पाहुड़' इत्यादि ग्रन्थों पर भी कानजी स्वामी ने प्रवचन किये हैं।

3.3. निष्कर्ष

उक्त मूल ग्रन्थ स्वयं ही आप्तोक्त वाक्यों के व्याख्यान स्वरूप हैं। परन्तु जन-सामान्य की संक्षिप्त बुद्धि का उसमें प्रवेश पाना कठिन-सा ही हैं। अतः उक्त ग्रन्थ भी प्रवचनीय होने से प्रवचन कला के आधार बने हैं। कानजी स्वामी ने उक्त समस्त ग्रन्थों को अपनी आध्यात्मिक शैली से इस रूप में व्याख्यापित किया है, जिससे जन-सामान्य अभिज्ञ बन सके। उपर्युक्त ग्रन्थों के अनुशीलन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि ये ग्रन्थ जिनागम की विविध विधाओं के परिचायक हैं। कुछ ग्रन्थ करणानुयोग को स्पर्शित करते हैं, तो कुछ ग्रन्थ प्रथमानुयोग से पूरित हैं। कुछ ग्रन्थ आचरण की सौरभ से सुगन्धित हैं तो कुछ ग्रन्थ आध्यात्मिकता से रचित एवं खचित हैं। उक्त समस्त ग्रन्थों को कानजी स्वामी ने अपनी अध्यात्म प्रधान शैली से इसप्रकार सुसज्जित किया है मानो वे ग्रन्थ अपने हृदय में विद्यमान गुप्त अध्यात्म को प्रकट करने के लिये किसी योग्य प्रवाचक की राह देख रहे थे। प्रवचन साहित्य के विषय बने उक्त समस्त मूल ग्रन्थ अपने समस्त वैभव के साथ प्रस्फुटित हुए हैं। अध्यात्म का जैसा वैभव यहाँ है वैसा अन्यत्र असंभव नहीं तो कठिन अवश्य ही है; क्योंकि अनुभव से व्याख्यापित ग्रन्थ अपनी सत्यता की एवं मूलभाव को पूर्णरूप से अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं।



कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का वर्गीकरण

4.1. प्रवचन साहित्य का स्वरूप

‘प्र’ उपसर्ग युक्त वचन शब्द से निर्मित ‘प्रवचन’ शब्द प्रकृष्ट वचनों की मौखिक अभिव्यक्ति को प्रदर्शित करता है अर्थात् प्रवचन वह कला है जिसमें भावाभिव्यक्ति समझने एवं समझाने के भाव से होती है। यद्यपि प्रवचन पूर्णतः मौखिकाभिव्यक्ति है, परन्तु उसका लेखन होने से वह लिखित पक्ष को भी स्पर्शित करता है। प्रवचन को भाषा की उस इकाई के रूप में भी परिभाषित कर सकते हैं जो व्यवस्थित, संगठित एवं सुनियोजित शब्दावली को प्रयोजन पूर्ति के लक्ष्य से प्रवर्तित होती है। उक्त विश्लेषण से सामान्य बोलचाल प्रवचन नहीं और न ही अनाप-शनाप वचनों का नाम प्रवचन है। अपितु प्रवचन वह कला है जिसमें उद्देश्यपूर्ति के लक्ष्य से भावों को वक्ता के माध्यम से प्रसारित एवं श्रोता के द्वारा श्रावित किया जाता है।

प्रवचन की प्रक्रिया में तीन तत्वों का होना परमावश्यक है। प्रथम वक्ता, द्वितीय श्रोता एवं तृतीय दोनों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने वाली विषय-वस्तु। उक्त त्रय का समुदाय ही प्रवचन है। प्रवचन में योग्यप्रवक्ता तथा योग्य श्रोता ‘**सोने पे सुहागा**’ उक्ति को चरितार्थ करते हैं। विषय-वस्तु भले ही नीरस हो परन्तु उसे प्रसारित करने की कला है तो वह सरसवत् प्रतीत होने लगती है; अतः वक्ता की योग्यता ही प्रवचन की सफलता का निर्धारण करती है।

प्रवचन में यदि विविध शैलियों का समावेश होता है तो वह अधिक रोचक एवं आकर्षक लगता है। जैसे प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग प्रवचन में श्रोता की सजगता एवं वक्ता की तात्कालिक योग्यता के कारण अपने

उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होती है। इसी तरह दृष्टान्त शैली, विश्लेषण शैली, प्रयोग शैली आदि विधियों से प्रवचन सुव्यवस्थित एवं सफल बन जाता है।

प्रवचन एक सहज एवं अर्जित सम्पत्ति है जो प्रयोग से वृद्धिगंत ही होती है तथा उसमें निरन्तरता होने से गम्भीरता के साथ-साथ सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय का अवबोधन होता है, जो स्व-पर हितकारी सिद्ध होता है। प्रवचन में विषयानुरूप शब्दावली का प्रयोग होता है। जैसे यदि किसी व्यक्ति को अच्छी बात ग्रहण करवानी हो तो प्रेरणारूप शब्दावली का प्रयोग कार्यकारी होगा। इसी तरह उपदेशात्मक शब्दावली एवं आदेशात्मक शब्दावली का प्रयोग होता है।

वर्तमान में प्रवचन शब्द धार्मिकोपदेश के रूप में संकुचित हो चुका है। क्योंकि प्रकृष्ट वचन से जन सामान्य धार्मिक वचनों को ही ग्रहण करता है। जैन साहित्य में भी प्रवचन शब्द को अरहन्त परम्परा से विद्वत् परम्परा पर्यन्त धार्मिक उपदेश के रूप में ही स्वीकार किया गया है। प्रवचन की यह परम्परा वैसे तो तीर्थंकर परम्पराओं से प्रसारित है परन्तु यह अधिकार उस सामान्य आत्मा को ही प्रदत्त है जो सदाचार से विभूषित विशिष्ट ज्ञान का धारक है।

इसी परम्परा में कानजी स्वामी भी हैं क्योंकि सदाचार की सौरभ तथा ज्ञान का प्रकाश उनसे इस तरह अभिन्न था जैसे दूध के साथ पानी अभिन्न हो। कानजी स्वामी की प्रवचन साहित्य साधना से, उनके ज्ञान-भण्डार का अनुमान सहज रूप से लगा सकते हैं।

अध्यात्म तत्त्व विज्ञान के गहन रहस्य प्रवचन के माध्यम से समझाकर शुद्धात्म-रुचि जाग्रत कराने वाले कानजी स्वामी के प्रवचन जैन साहित्य में बेजोड़ हैं। उनके प्रवचन शुद्धात्म तत्त्व की रुचि उत्पन्न करके पर के प्रति रुचि नष्ट करने वाली परमौषधि है। यह स्वानुभूति का सुगम पथ है। उनके प्रवचन संसार रूपी विष-वृक्ष के छेदन के लिये अमोघ शस्त्र हैं,

जो डाली और पत्तों को छुये बिना ही मूल पर सीधा ही प्रहार करते हैं। प्रत्यक्ष सत्समागम के वियोग में ये प्रवचन मुमुक्षुओं के अनन्य आधार हैं।

4.2. कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का वर्गीकरण

कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में जैनधर्म से सम्बन्धित उन समस्त पक्षों का समावेश है जो विश्लेषणीय है। मुख्यता अध्यात्म-प्रधान साहित्य की है। परन्तु अन्य साहित्य भी यथा स्थान व्यवस्थित है। जिसका वर्गीकरण विविध विधाओं में किया गया है। जिसमें विषय-वस्तु की अपेक्षा, शैली सापेक्ष तथा भाषागत वर्गीकरण प्रमुख हैं।

4.2.1. विषय की दृष्टि से वर्गीकरण

इस वर्गीकरण में उन समस्त विषयों का समावेश किया जाता है जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से सम्बन्धित हैं अथवा वो समस्त तथ्य इसमें समाहित होंगे जो मूल ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों से सम्बन्धित होंगे। उनके प्रमुख प्रवचन ग्रन्थों की सूची इसप्रकार है -

1. अध्यात्मसंदेश
2. अध्यात्म रत्नत्रय प्रवचन
3. अलिंगग्रहण प्रवचन
4. आत्मसिद्धि प्रवचन
5. आत्मप्रसिद्धि
6. निमित्तोपादान विवेचन
7. कारणशुद्धपर्याय
8. दिव्यध्वनिसार भाग-1, 2
9. बृहद्द्रव्यसंग्रह भाग-1
10. नय-प्रज्ञापन
11. समयसार नाटक प्रवचन भाग-1
12. प्रवचनरत्न चिन्तामणि भाग-1,2
13. पदार्थविज्ञान
14. परमार्थवचनिका
15. प्रवचनरत्नाकर भाग-1 से 11
16. भेदविज्ञानसार
17. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन भाग-1 से 4

18. मूल में भूल	19. योगसार प्रवचन
20. वचनमृत भाग 1 से 3	21. वस्तुविज्ञानसार
22. समाधितंत्र प्रवचन	23. प्रवचन नवनीत
24. सम्यग्दर्शन भाग-1	
25. समयसार प्रवचन भाग 1 से 4	
26. ज्ञानस्वभाव-ज्ञेय स्वभाव	
27. अद्वितीय चक्ष	28. ज्ञानगोष्ठी
29. मोक्षमार्ग की किरणें भाग-1,2	
30. अनुभवप्रकाश	

विषय की दृष्टि से प्रवचन साहित्य का वर्गीकरण इसप्रकार है -

4.2.1.1. अध्यात्म-प्रधान प्रवचन साहित्य

इस प्रवचन साहित्य में आत्मा से सम्बन्धित सम्पूर्ण विषयों का समावेश होता है। आत्मा के स्वरूप उसके भेद-प्रभेदों का विश्लेषण जिस प्रवचन साहित्य में हो वो आध्यात्मिक साहित्य नाम को सार्थक करता है। जैसे समयसार पर प्रवचन अध्यात्म सन्देश प्रवचन, अध्यात्म रत्नत्रय प्रवचन इत्यादि आध्यात्मिक साहित्य की परिधि में ही आते हैं।

1. अध्यात्म सन्देश

आचार्यकल्प पं. टोडरमल ने अध्यात्म रस से सराबोर मार्मिक पत्र मुलतान निवासी भाइयों को लिखा था, जिसका नाम 'रहस्यपूर्णचिट्ठी' है, जिसे महत्वपूर्ण होने के कारण मोक्षमार्गप्रकाशक के अन्त में प्रकाशित किया गया है। संवत् 1811 को लिखी इस रहस्यपूर्णचिट्ठी पर कानजी स्वामी ने सोनगढ़ में तीन बार प्रवचन किये। जो 'अध्यात्म सन्देश' के नाम से प्रकाशित है। इसमें सविकल्प-निर्विकल्प दशा एवं सम्यग्दर्शन व स्वानुभव में प्रत्यक्ष-परोक्षता 29 विषयों पर आध्यात्मिक चर्चा की गई

है। यह पत्र बहुत सरस है; साधर्मियों को लिखी इनकी इस चिट्ठी में अध्यात्म के गहरे भाव भरे हैं। पहले के गृहस्थ भी अध्यात्म के कैसे रसिक थे! कुटुम्ब परिवार व व्यापार रोजगार के मध्य रहते हुए भी निवृत्ति लेकर वे भीतर में आत्मा के स्वानुभव आदि की चर्चा-विचारणा करते थे। यहाँ चिट्ठी में लिखते हैं कि -

“चिदानन्दधन के अनुभव से आपको सहजानन्द की वृद्धि चाहता हूँ। सहज आनन्द तो चैतन्य के अनुभव में ही है और उसकी ही चाहना है, इसके सिवाय और किसी की भी चाहना हमको या आपको न हो। संसार के सुख की वृद्धि नहीं चाहते, किन्तु चैतन्य के स्वानुभव से जो सहज अतीन्द्रिय सुख होता है; उसकी ही वृद्धि की भावना है। अपने को जिसकी रुचि है, दूसरों के लिए भी उसी की भावना भाते हैं।” इसमें वर्णित विषय-वस्तु इसप्रकार है -

1. मंगल उपोद्घात
2. चैतन्य स्वभाव के श्रवण में मुमुक्षु का उल्लास
3. निरन्तर स्वरूपानुभव में रहना
4. शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व
5. उसको ही सम्यक्त्व जानना
6. सम्यक्त्व सहित ज्ञान की महिमा
7. आत्मज्ञान की अचिन्त्य महिमा
8. सम्यक्त्वी के परिणाम
9. सम्यग्दृष्टि की अन्तरंग दशा
10. निर्विकल्प स्वानुभव की विधि
11. पञ्चक्वो अनुभवो जह्मा
12. निर्विकल्प अनुभव के समय

13. निर्विकल्प अनुभव का अतीन्द्रियपना
14. क्या स्वानुभवज्ञान मनजनित है ?
15. अतीन्द्रिय आत्मा का ग्रहण कैसे ?
16. सम्यक्त्व में प्रत्यक्ष-परोक्षपना नहीं
17. सम्यग्ज्ञान के पाँच प्रकार
18. प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण के भेद
19. श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव
20. स्वानुभवज्ञान का वर्णन
21. निर्विकल्प आनन्द का विशेषता
22. निर्विकल्प अनुभव का प्रत्यक्षपना
23. चौथे गुणस्थान से ही निर्विकल्प अनुभव
24. सूक्ष्म और स्थूल कथन पद्धति
25. सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से एक जाति
26. श्रुतज्ञान ओर केवलज्ञान की तुलना
27. निश्चयगर्भित व्यवहार का सम्यक्पना
28. आत्मा को प्रत्यक्ष तो केवली ही जानते हैं।
29. स्वानुभव की प्रेरणा एवं उपसंहार

प्रारम्भ में ही चिदानन्दधन के अनुभव से उल्लसित स्वानुभव रस की महिमा को व्यक्त करते हुए अपने प्रवचनों में कहा है -

“वाह! देखो यह स्वानुभव के रस की महिमा ! जिसको विकार का रस छूटकर अध्यात्मरस रुचिकर लगा, वह जीव भाग्यशाली है। ‘सिद्ध समान सदा पद मेरो’ ऐसी अन्तर्दृष्टि व ऐसे स्वानुभव की भावना करने

वाला जीव सचमुच में धन्य है।¹¹

इस तरह अध्यात्म रस से ओतप्रोत पत्रों पर कानजी स्वामी ने प्रवचन किये हैं और अन्त में कानजी स्वामी निजस्वरूप में मग्न रहने का उपदेश देते हैं -

“ निजस्वरूप में मग्न रहना। तथा स्वयं अपने को तत्त्व के अभ्यास का विशेष प्रेम होने से लिखते हैं कि कोई विशेष ग्रन्थ तुम्हारे जानने में आये हों तो मुझे लिख भेजना। साधर्मियों के तो एक-दूसरे के धर्म-स्नेहपूर्वक ऐसी ही धर्मचर्चा ही होना चाहिये। साधर्मी के साथ चर्चा वार्ता, प्रश्न-उत्तर करने से विशेष स्पष्टता होती है। कहीं सूक्ष्म फर्क हो तो वह ख्याल में आ जाता है। और ज्ञान की विशेष स्पष्टता होती है।¹²

2. अध्यात्म-रत्नत्रय प्रवचन

समयसार गाथा 320 की जयसेनाचार्य कृत टीका, प्रवचनसार गाथा 114 की अमृतचन्द आचार्य कृत टीका एवं समयसार कलश 271 पर पांडे राजमलजी कृत टीका पर हुए कानजीस्वामी के प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद ‘अध्यात्म-रत्नत्रय प्रवचन’ के नाम से प्रसिद्ध हैं। 320 गाथा में परमपारिणामिकभाव की महिमा का विशेष वर्णन किया गया है। इस पर कानजी स्वामी ने प्रवचन में कहा है कि -

“सम्यग्दर्शन का विषयभूत त्रिकाली ध्रुवद्रव्य, चार भावों से रहित तथा शक्ति लक्षण शुद्ध पारिणामिक भाव है। वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है और वह निरावरण है। अहा..हा..! भव्य हो या अभव्य, उसमें शक्तिरूप त्रिकाल शुद्ध जीवत्व शुद्ध पारिणामिकभाव है और वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय होने से निरावरण है। अहा! जिसमें चार पर्यायों नहीं उसमें आवरण कैसे ? (आवरण तो पर्याय में होता है।) ऐसा जो शुद्ध चैतन्य के प्रवाहरूप चैतन्य-चैतन्य-चैतन्य, शुद्ध चैतन्य के ध्रुव

1. अध्यात्म सन्देश (कानजी स्वामी), पृ. 17

2. अध्यात्म सन्देश (कानजी स्वामी), पृ. 124

प्रवाहरूप शुद्ध जीवत्व है, वह निरावरण शुद्ध पारिणामिक भाव है और वह बन्ध-मोक्ष के परिणाम से रहित है अर्थात् वह बन्ध-मोक्ष के परिणाम का कारण नहीं है।¹¹

कुछ लोग कहते हैं कि पर्याय में अशुद्धता हो तो द्रव्य अशुद्ध हो जाता है। उनकी इस मान्यता का इसमें निषेध हो गया। भाई ! द्रव्य तो शुद्ध त्रिकाल निरावरण ही है। आवरण है तो पर्याय में है। पहले ऐसी बात चलती नहीं थी और बाहर आई तो कितनों में खलबलाहट हो गई कि अरे ! हमारा यह सब क्रियाकाण्ड उड़ जायेगा। पर बापू ! ये तेरे हित की बात है। भाई ! चौरासी के अवतार का अन्त करके जन्म-मरण रहित होने की यह बात है।

शुद्ध जीवत्वरूप त्रिकाली शक्ति लक्षण पारिणामिक भाव की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, यह बाद में कहेंगे। यहाँ कहते हैं - वस्तु का स्वरूप तो त्रिकाली शक्तिरूप सत् है, सत् का जो सत्त्व है, वह त्रिकाल निरावरण है। त्रिकाली ध्रुव शुद्ध द्रव्य में जैसे उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ये पर्यायरूप भाव नहीं हैं, वैसे ही उसमें आवरण भी नहीं है। एक बार सुन तो सही नाथ ! अन्दर में भगवान आत्मा “आनन्द - ब्राह्मणोरूप” अर्थात् ज्ञानानन्द स्वरूप की लक्ष्मी से महा प्रतापवन्त त्रिकाल विराज रहा है। उसकी दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है, जो धर्म की पहली सीढ़ी है।¹²

114वीं गाथा में दोनों नयों से आत्मा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। एक ही आत्मस्वभाव में अनन्यपना और अन्य-अन्यपना दोनों को सामान्य-विशेष के आधार से घटित करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं कि -

“अहाहा ! कितने गम्भीर भाव भरे हैं। सामान्य विशेषात्मक वस्तु-स्वरूप को देखनेवालों की अनुक्रम से सामान्य और विशेष को जानने वाली दो आँखें हैं अर्थात् देखने वाला आत्मा अपने सामान्य और विशेष

1. अध्यात्म रत्नत्रय प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 41

को देखता है, परन्तु पर को नहीं देखता। अपनी विशेष पर्याय में परपदार्थ ज्ञात होते हैं, परन्तु वास्तव में तो अपनी पर्याय ही ज्ञात होती है। सामान्य और विशेष को देखनेवाले दो चक्षु कहे हैं, परन्तु पर की बात नहीं है।

वस्तुस्वरूप को देखने वालों की अनुक्रम से सामान्य और विशेष को जानने वाली दो चक्षु हैं, यहाँ 'अनुक्रम' शब्द का प्रयोग किया गया है। पहले सामान्य को जानना, फिर विशेष को जानना क्योंकि सामान्य का यथार्थ ज्ञान होने पर ही विशेष का यथार्थ ज्ञान होता है। यहाँ पर को जानने की बात नहीं की, क्योंकि आत्मा पर को जानता ही नहीं है। वास्तव में वह अपनी पर्याय में पर्याय को ही जानता है। कितनी सूक्ष्म बात है! पर को जानता है – ऐसा कहना असद्भूत व्यवहारनय है। वास्तव में तो त्रिकाली सामान्य आत्मा का विशेष, विशेष में विशेष को ही जानता है, पर को नहीं। यहाँ विशेष द्वारा पहले सामान्य को और फिर विशेष को जानने के लिये कहा गया है; क्योंकि सामान्य को जानने पर जो ज्ञान होता है, वह अपने विशेष को भी यथार्थ जानता है।¹¹

“सामान्य और विशेष को जानने वाली दो चक्षु कही हैं, पर को जानने वाली तीसरी चक्षु नहीं कही। अपने विशेष में परपदार्थ जान लिये जाते हैं, परन्तु वास्तव में तो अपनी पर्याय ही जानी जाती है। अहो ! कितनी गम्भीर टीका है। अनुक्रम शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् पहले सामान्य को देखना, फिर विशेष को देखना।”

इसी प्रकार कलश 271 में ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्धी भ्रान्ति को दूर किया गया है। ज्ञान ज्ञेय का स्वरूप स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि –

“मैं ज्ञायक हूँ और समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय हैं – ऐसा नहीं है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और परमाणु से लेकर महास्कन्ध तथा कर्म आदि मेरे ज्ञेय हैं और मैं ज्ञायक हूँ – ऐसा नहीं है। अहा ! कर्म मेरे हैं, मुझमें हैं – ऐसा तो नहीं, परन्तु कर्म मेरा ज्ञेय

1. अध्यात्म रत्नत्रय प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 162

हैं और मैं ज्ञायक हूँ ऐसा भी नहीं है। अज्ञानी पुकार करते हैं कि कर्म से ऐसा होता है और कर्म से वैसा होता है, पर अरे! सुन तो नाथ! कर्म तो तुझे छूता भी नहीं है। वास्तव में तेरे ज्ञान की सामर्थ्य ही ऐसी है कि उसमें पर की अपेक्षा ही नहीं है। ...अहा...हा..! अनन्तगुणनिधान प्रभु आत्मा में एक जानपनेरूप शक्ति है, और एक ज्ञेयशक्ति-प्रमेयशक्ति भी है, इसके द्रव्य-गुण-पर्याय में ज्ञान के समान ज्ञेयशक्ति का-प्रमेयशक्ति का व्यापकपना है। इसलिये जो प्रमेय-ज्ञेय पर्याय है वह भी मैं, ज्ञान भी मैं, और अनन्त शक्ति का धाम ज्ञाता भी मैं हूँ।'¹

ये सभी विषय आत्महित में अत्यन्त उपयोगी होने से पं. लालचन्द भाई की भावनानुसार कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट मुम्बई द्वारा गुजराती में प्रकाशित किये गये थे। इस संकलन में दो गाथायें एवं एक कलश इसप्रकार तीन प्रकरणों पर प्रवचन होने से इसका नाम गुजराती में 'अध्यात्म प्रवचन रत्नत्रय' रखा गया है। हिन्दी में इसका नाम 'अध्यात्म रत्नत्रय' रखा गया है। जिसका हिन्दी अनुवाद पं. राजकुमारजी शास्त्री, गुना ने किया है।

3. अलिंगग्रहण प्रवचन

'प्रवचनसार' की प्रसिद्ध गाथा 172 पर कानजी स्वामी ने वीर नि. सं. 2477 में प्रवचन किये। यह गाथा समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़, धवला, लघुद्रव्यसंग्रह आदि अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह गाथा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसे अलिंगग्रहण की गाथा भी कहा जाता है। इसमें जीव का स्वरूप कैसा है ? यह बताया गया है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने अलिंगग्रहण शब्द को बीस विभिन्न अर्थों के माध्यम से आत्मा का स्वरूप समझाया है।² जो अलिंगग्रहण प्रवचन के माध्यम से प्रसिद्ध है, जो कि इसप्रकार हैं -

1. अध्यात्म रत्नत्रय प्रवचन (कानजी स्वामी), सं. पं. अभयकुमार जैन, पृ. 201

2. अलिंगग्रहण प्रवचन (कानजी स्वामी), सं. ब्र. यशपाल जैन, पृ. 6

1. ग्राहक (ज्ञायक) जिसके लिंगों द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार 'आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है' - इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

2. ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है' - इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

3. जैसे धुएँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसीप्रकार लिंग द्वारा अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने के योग्य चिह्न) द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है' - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

4. दूसरों के द्वारा-मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमेय मात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है' - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

5. जिसके लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करने वाला ही) नहीं है' - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

6. जिसका लिंग के द्वारा नहीं; किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है, वह अलिंगग्रहण है इसप्रकार 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

7. जिसका लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् जिसे ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार 'आत्मा के बाह्य पदार्थों के आलम्बन वाला ज्ञान नहीं है' - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

8. जो लिंग को अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाता सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार

‘आत्मा जो कहीं से नहीं लाया जाता’, ऐसे ज्ञान वाला है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

9. जिसे लिंग का अर्थात् उपयोग नामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता (अन्य से नहीं ले जाया जा सकता) सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार ‘आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता’ – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

10. जिसे लिंग में अर्थात् उपयोग नामक लक्षण में ग्रहण अर्थात् सूर्य की भाँति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार ‘आत्मा शुद्धोपयोग स्वभावी है’ – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

11. लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार ‘आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त है’ – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

12. जिसे लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है; सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार ‘आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है’ – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

13. लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण नहीं है; इसप्रकार ‘आत्मा शुक्र और आर्तव को अनुविधायी (अनुसार होने वाला) नहीं हैं’ – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

14. लिंग का अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार) ग्रहण जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार आत्मा लौकिक साधन मात्र नहीं है’ – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

15. लिंग के द्वारा अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार ‘आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकार वाला, लोक व्याप्ति वाला नहीं है’ – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

16. जिसके लिंगों का अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं है वह अलिङ्गग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्य से तथा अभाव भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है' - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

17. लिंगों का अर्थात् धर्म चिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है वह अलिङ्गग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के बहिरंग यति लिंगों का भाव है' - इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

18. लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थ ज्ञान) जिसके नहीं है सो अलिङ्गग्रहण है; इसप्रकार आत्मा गुण विशेष से आलिङ्गित न होने वाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है' - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

19. लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष जिसके नहीं हैं सो अलिङ्गग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पर्याय विशेष से आलिङ्गित न होने वाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है' - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

20. लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है, वह अलिङ्गग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा द्रव्य से नहीं आलिङ्गित ऐसी शुद्ध पर्याय है' - ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

4. आत्मसिद्धि प्रवचन

आत्मसिद्धि ग्रन्थ की रचना वि.सं. 1952 में श्रीमद् राजचन्द्र ने की। रचनाकाल के 43 साल बाद वि.सं. 1995 में (सन् 1939) राजकोट में कानजी स्वामी ने इस ग्रन्थ के 142 दोहों पर प्रवचन किये। इस अनुपम ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति में छुपे रहस्य को कानजी स्वामी ने खोलकर रख दिया है। आत्मसिद्धि का अर्थ है आत्मा की सिद्धि अर्थात् इस ग्रन्थ में आत्मा की सिद्धि का मार्ग बताया गया है। मंगलाचरण स्वरूप प्रथम पद में स्वरूप को समझने की आवश्यकता बताते हुए कानजी स्वामी ने कहा है -

“ जिस आत्म स्वरूप को समझे बिना इस जीव ने भूतकाल में अनन्त दुःख प्राप्त किये हैं उस आत्मस्वरूप को समझाने वाले सद्गुरु भगवन्तों को नमस्कार हो। एक आत्मा को जानने से सब कुछ जानने में आ जाता है। ”

प्रथम 23 दोहों में आत्मसिद्धि शास्त्र की भूमिका है। इसमें स्वरूप को समझने की आवश्यकता, मोक्षमार्ग की दुर्लभता, मानादि कषाय का निषेध तथा मुमुक्षु और मतार्थी का अन्तर आदि विषयों का वर्णन अत्यन्त भावपूर्ण शब्दों में किया है। 24 से 33 तक के दोहों में मतार्थी का कथन, मतार्थ का नाश और आत्मार्थता की प्राप्ति का उपाय बताया गया है -

“ जिसके विषय कषाय में कमी नहीं हुई है, सरलता नहीं है, मध्यस्थता नहीं है, ऐसे मतार्थी जीव दुर्भागी हैं। वे आत्मार्थ कैसे प्राप्त कर सकते हैं? लेकिन वह जीव जिसके अन्दर दोष हैं, सरलता से माध्यस्थता से, इस दोष का त्याग करें तो वही सच्चा आत्महित साध सकता है। ”¹

43 से 118 तक प्रत्येक आत्मार्थी की 6 सामान्य शंकाओं को उठाकर सद्गुरु के द्वारा इन शंकाओं का समाधान किया गया है। कानजी स्वामी के शब्दों में -

“ जीव अपनी पात्रता से जैसा है वैसा तत्त्व समझता है और वह शुद्धात्मा को प्राप्त करता है ऐसे छह पद इसमें समाविष्ट हैं² - 1. आत्मा है (यह न्यायपूर्वक समझाया है)। 2. जो है वह हमेशा होता है अतः वह नित्य है। 3. स्वभाव से वह ज्ञान का कर्ता है, अज्ञानवश राग-द्वेष का कर्ता है। 4. वस्तुतः स्वभाव का भोक्ता है, अज्ञानवश हर्ष-शोकादि का भोक्ता है। 5. मोक्ष है। 6. मोक्ष का उपाय भी।

इसमें सत्पात्रता से लेकर स्वानुभव तक सम्पूर्ण क्रिया को दर्शाया

1. आत्मसिद्धि प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 182

2. आत्मसिद्धि प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 1

गया है। इन छह बोलों को सुविचारणा प्रगट हो उसे सही विचारणा कही जायेगी। आत्मा की बात यथार्थरूप से समझने पर दुःख की कल्पना तक खड़ी नहीं रह सकती। जगत का कुछ किसी से हो नहीं सकता, अनन्त ज्ञानियों ने अपनी आत्मा का सच्चा हित किया है। सभी उलझनें सम्यग्ज्ञान के द्वारा दूर हो सकती हैं। इसतरह 117 से 127 तक के दोहों में सद्गुरु के उपदेश से शिष्य को आत्मज्ञान स्वानुभव दशा प्रगट हुई है और अपने भगवान आत्मा के दर्शन हुए हैं।

आत्मबोध और सद्गुरु की विनय तथा आत्मसिद्धि शास्त्र का अन्तिम 15 दोहों में उपसंहार करते हुए निश्चय व्यवहार, उपादान-निमित्त ज्ञानी की दशा आदि को समझाते हुये कानजी स्वामी कहते हैं कि सद्गुरु की आज्ञा, उसका विचार और यथार्थ स्वरूप का ध्यान करने से अन्तरंग में जो मोक्ष स्वभाव शक्तिरूप से विराजमान है वह प्रगट हो जाता है।

5. आत्मप्रसिद्धि

‘समयसार परिशिष्ट’ में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने अनेकान्तस्वरूपात्मा की 47 शक्तियों का सुन्दर वर्णन किया है – इस विषय पर कानजी स्वामी ने अनेकों बार प्रवचन किये हैं। 8वीं बार के प्रवचन ‘आत्मधर्म’ मासिक पत्र अंक 86 से 177 तक में प्रकाशित हुए। इन प्रवचनों का संकलन ब्र. हरिलाल जैन ने ‘आत्मप्रसिद्धि’ नाम से किया है जो गुजराती में सन् 1960 में (वि.सं.2021) राजकोट से प्रकाशित हुआ है। हिन्दी अनुवाद मगनलाल जैन ने किया। इसमें नय और प्रमाण के द्वारा शुद्धात्मतत्त्व प्राप्ति का मर्म प्रगट किया है। अनन्त धर्म स्वरूप अनेकान्त मूर्ति आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में उछलती अनन्त शक्तियाँ हैं। उन अनन्त शक्तियों में से 47 शक्तियों के द्वारा अनेकान्त स्वरूप भगवान आत्मा को प्रसिद्ध किया है। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ होने पर वह ज्ञानमात्र ही है। क्योंकि ज्ञान मात्र कहने पर भी उसमें कहीं अकेला ज्ञानगुण ही लक्षित नहीं होता, किन्तु अनन्त शक्ति स्वरूप सम्पूर्ण आत्मा लक्षित होता है, कोई शक्ति

पृथक् नहीं रहती। इसलिये ज्ञान लक्षण भी ऐसे अनन्त शक्ति सम्पन्न अनेकान्तमयी मूर्ति भगवान् आत्मा को ही प्रसिद्ध करता है। इसप्रकार ज्ञानमात्र भाव में अनन्त शक्तियाँ साथ ही परिणमित हो रहीं हैं।

यहाँ मुख्य प्रयोजनभूत 47 शक्तियों का नाम इसप्रकार दिये गये हैं¹—

1. जीवत्वशक्ति, 2. चितिशक्ति, 3. दृशिशक्ति, 4. ज्ञानशक्ति, 5. सुख शक्ति, 6. वीर्यशक्ति, 7. प्रभुत्वशक्ति, 8. विभुत्वशक्ति, 9. सर्वदर्शित्व-शक्ति, 10. सर्वज्ञशक्ति, 11. स्वच्छत्वशक्ति, 12. प्रकाशशक्ति, 13. असंकुचितविकासत्वशक्ति, 14. अकार्यकारणत्वशक्ति, 15. परिणम्य परिणामकत्वशक्ति, 16. त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति, 17. अगुरुलघुत्वशक्ति, 18. उत्पादव्ययध्रुवत्व शक्ति, 19. परिणामशक्ति, 20. अमूर्तत्वशक्ति, 21. अकर्तृत्वशक्ति, 22. अभोक्तृत्वशक्ति, 23. निष्क्रियत्वशक्ति, 24. नियतप्रदेशत्वशक्ति, 25. स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति, 26. साधारण-असाधारण साधारणासाधारणधर्मत्व शक्ति, 27. अनन्तधर्मत्वशक्ति, 28. विरुद्धधर्मत्वशक्ति, 29. तत्त्वशक्ति, 30. अतत्त्व शक्ति, 31. एकत्व शक्ति, 32. अनेकत्वशक्ति, 33. भावशक्ति, 34. अभावशक्ति, 35. भावाभावशक्ति, 36. अभावभावशक्ति, 37. भावभाव शक्ति, 38. अभावाभाव शक्ति, 39. भावशक्ति, 40. क्रियाशक्ति, 41. कर्मशक्ति, 42. कर्तृत्वशक्ति, 43. करणशक्ति, 44. सम्प्रदान शक्ति, 45. अपादान शक्ति, 46. अधिकरण शक्ति, 47. सम्बन्ध शक्ति।

सर्वप्रथम आत्मा का जीवन बतलाने के लिए जीवत्वशक्ति पर कानजी स्वामी ने भाव व्यक्त करते हुए कहा — “जीवत्व प्रधानभूत है, आत्मा सदैव अपनी जीवत्व शक्ति से जी रहा है, इसलिए यह जीवत्व शक्ति आत्मद्रव्य को कारणभूत है; शरीर, आयु, रोट्टी आदि परवस्तुएँ आत्मा के जीवन का कारण नहीं हैं, यह जीवत्व शक्ति ही आत्मा के जीवन का

1. आत्मप्रसिद्धि प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 01

कारण है, उसी से आत्मा अनादि-अनंत जी रहा है।¹¹ इस तरह समस्त शक्तियाँ आत्मा के आश्रित विद्यमान हैं, जीवत्व, चिति आदि समस्त शक्ति आत्मा में भावस्वरूप हैं। चिति शक्ति चेतनद्रव्य को बतलाने वाली है। दृशि शक्ति अनाकार उपयोगमयी है। ज्ञानशक्ति साकार उपयोगमयी है। अनाकुलता जिसका लक्षण है – ऐसी सुखशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। इसतरह जीवत्व शक्ति से लेकर सम्बन्ध शक्ति तक कानजी स्वामी ने 47 शक्तियों का भाववाही विशद् विवेचन किया है।

“हे भव्य ! कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण और सम्बन्ध – इन सात विभक्तियों के वर्णन द्वारा हमने तेरे आत्मा को पर से अत्यन्त विभक्त बतलाया; इसलिए अब तू अपने आत्मा को सबसे विभक्त तथा अनादि अनन्त शक्तियों के साथ संयुक्त जानकर प्रसन्न हो....स्वभाव का ही स्वामी बनकर पर के साथ संबंध के मोह को छोड़...।

- स्वभाव का कर्ता होकर पर के साथ कर्ताबुद्धि छोड़।
- स्वभाव के ही कर्मरूप होकर दूसरे कर्म की बुद्धि छोड़।
- स्वभाव को ही साधन बनाकर अन्य साधन की आशा छोड़।
- स्वभाव को ही सम्प्रदान बनाकर अपने को निर्मलभाव प्रदान कर।
- स्वभाव को ही अपादान बनाकर उसमें से निर्मलता ले।
- स्वभाव को ही अधिकरण बनाकर पर का आश्रय छोड़।
- स्वभाव का स्वामी बनकर उसके साथ एकता का सम्बन्ध कर और पर के साथ का सम्बन्ध छोड़। “यह मेरा और मैं इसका” – ऐसी पर के साथ की एकता बुद्धि का त्याग कर।

इसप्रकार समस्त पर से विभक्त और निज-स्वभाव से संयुक्त ऐसे अपने आत्ममराम को जानकर उसके अनुभव से तू आनन्दित हो..... प्रसन्न हो।¹²

1. आत्मप्रसिद्धि प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 39

6. निमित्तोपादान विवेचन

पं. बनारसीदास द्वारा लिखी हुई निमित्तोपादान की चिट्ठी पर कानजी स्वामी ने प्रवचन किये जिसका संकलन पं. देवेन्द्रकुमार बिजौलियाँ ने 'निमित्तोपादान विवेचन' नाम से किया। हिन्दी अनुवाद गम्भीरचन्द अलीगंज ने किया। इसमें उपादान निमित्त सम्बन्धी दोहे एवं कानजी स्वामी द्वारा दिये गये प्रश्नोत्तर भी संकलित किये गये हैं। उपादान निमित्त का अर्थ स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि – “वस्तु की सहज शक्ति सो उपादान। इसमें अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ गये। संयोगरूप कारण सो निमित्त वह अपने से भिन्न परवस्तु है। उपादान की स्वतन्त्रता बताते हुए कहा है कि “यह उपादान के परिणामन की स्वतन्त्रता है।” उपादान निज शक्ति है। जिय को मूल स्वभाव।’ भाई ! उपादान की ऐसी स्वतन्त्रता जानकर स्वाश्रयभाव से अपने कार्य को साध, मोक्षमार्ग को साध, तेरा मोक्षमार्ग तेरी आत्मा के ही आश्रय से ही है। तू अकेला ही अपने में अपने द्वारा अपने मोक्षमार्ग को साध सकता है। वाह! कैसी स्वतन्त्र वस्तुस्थिति है।”¹ इसी तरह ज्ञान और चारित्र में गर्भित शुद्धता किन्तु ग्रन्थिभेद के बिना उसकी निष्पलता बताते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि “यह ग्रन्थिभेद मोक्षमार्ग की मूल कुंजी है। हे जीव! तू विशुद्ध परिणाम से ऊँचा उठा है, तुझे तत्त्वविचार करने योग्य ज्ञानशक्ति प्राप्त हुई है, ग्रन्थिभेद करके मोक्षमार्ग साधने का यह दुर्लभ अवसर उपलब्ध हुआ है। इसलिये तू उसका उद्यम कर और ग्रन्थिभेद से सम्यग्ज्ञान तथा स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट कर इसमें अपूर्वता है। इसके बिना मोक्षमार्ग का प्रयोजन नहीं सधता।”²

ज्ञान में जो जानपनरूप गर्भित शुद्धता है, वह यद्यपि मिथ्यात्व अवस्था में मोक्षमार्गरूप नहीं है; तथापि उसमें जो जानपना है, वह सामान्यपने

1. निमित्तोपादान विवेचन (कानजी स्वामी), पृ. 29

2. वही, पृ. 24

ज्ञान की जाति है और उससे थोड़ी अकाम निर्जरा भी होती है; फिर भी उसी समय मिथ्यात्व के कारण विशेष बन्ध होता है। बन्ध विशेष और निर्जरा अल्प, अतः अल्प की उपेक्षा करके मिथ्यात्व अवस्था में अकेला बन्ध ही होता है - ऐसा कहा, परन्तु ज्ञान के जो अंश उघाड़रूप हैं, वे स्वयं कहीं बन्ध के कारण नहीं हैं। यदि ग्रन्थिभेद करके आगे बढ़े तो वे ही ज्ञानांश केवलज्ञान में जाकर मिल जाते हैं। जीव अनन्तबार ज्ञान के उघाड़ और शुभराग के आंगन तक आकर अटक गया, किन्तु राग से पार चैतन्यवस्तु के स्वानुभव से मिथ्यात्व ग्रन्थि नहीं भेदी; इसलिए मोक्षमार्ग में नहीं आया और संसार में ही रहा। ऐसा उघाड़ अर्थात् गर्भित-शुद्धता तो मिथ्यादृष्टि के भी होती है, उसमें कोई अपूर्वता नहीं है। सम्यग्दर्शन से सम्यक्शुद्धता करके मोक्षमार्ग प्रकट करे - यही अपूर्वता है; करने योग्य है।

निगोद से ऊँचा चढ़कर जीव गर्भितशुद्धता तक आया, वह भी अपने ज्ञान-चारित्र गुण के परिणाम की शक्ति से आया है। कर्म को जोर मन्द पड़ गया, इसलिए ऊँचा आया ऐसा नहीं है; किन्तु यह जीव अपने ही उसप्रकार के स्वतंत्र परिणमन से ऊँचा आया है - ऐसा तू निश्चित जान। अब यदि ग्रन्थिभेद के बल से स्वाश्रयपूर्वक ज्ञान-चारित्र परिणाम की धारा आगे बढ़े तो केवलज्ञान और यथाख्यातचारित्र प्रकट हो। ज्ञानगुण का परिणमन बढ़कर केवलज्ञान हो और चारित्रगुण का परिणमन बढ़कर यथाख्यातचारित्र हो - इसतरह दोनों गुणों का परिणमन स्वतंत्र है।''

''मिथ्यात्व अवस्था में किसी समय चारित्रगुण विशुद्धरूप होता है, उससे चारित्रावरण कर्म मन्द होता है, मन्दता के कारण निर्जरा है तथा किसी समय चारित्रगुण संक्लेशरूप होता है, उससे केवल तीव्रबन्ध होता है।''

अन्त में यहाँ चारित्र में शुभभाव को विशुद्ध कहा, इसलिए वह धर्म हो गया - ऐसा मत समझ लेना। ग्रन्थिभेद होने पर ही ज्ञान और चारित्र

दोनों में धर्म का अंकुर फूटता है और तभी मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। इसके बिना धर्म के लिए सब व्यर्थ है - यह मूल सिद्धान्त लक्ष्य में रखकर ही सारी चर्चा समझने की है।

7. कारणशुद्धपर्याय

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित 'नियमसार' ग्रन्थ की 3, 8, 9, 10, 14 व 15 गाथाओं पर कानजी स्वामी ने मार्मिक प्रवचन किये हैं जो 'कारणशुद्धपर्याय' के नाम से प्रचलित हैं। लगभग 40 वर्ष पूर्व 'आत्मधर्म' पत्रिका के बारहवें एवं तेरहवें अंक में हिन्दी एवं गुजराती दोनों भाषाओं में यह प्रवचन प्रकाशित किये गये। बाद में पुस्तकाकार के रूप में 'कारणशुद्धपर्याय' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में कानजी स्वामी ने बताया कि अपनी आत्मा की शक्ति का इसप्रकार विश्वास एवं महत्त्व भाषित होना चाहिये कि परम शक्ति मुझमें ही है। उसे कहीं बाहर से प्रगट नहीं होना है। यहाँ तो शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम कहकर सामान्य ध्रुव के साथ विशेष ध्रुव बतलाना है। वह निकट का कारण है, उसे कारण नियम कहा है और उस कारण नियम में अनन्त मोक्ष पर्याय प्रदान करने की सामर्थ्य है। परम पारिणामिक भाव परम उत्कृष्ट स्वभाव से परिपूर्ण है। उसमें स्थित शुद्ध ज्ञान-चेतना वह कारण नियम है। अन्तर में सहज पारिणामिक त्रिकाल भाव व उसके शुद्ध चेतना परिणाम निश्चय कारण है। रागादि व्यवहार वास्तव में कारण नहीं है।

कार्य नियम के साथ कारण नियम की बात करके कानजी स्वामी ने अद्भुत स्पष्टीकरण किया है। "कारण नियमरूप स्वभाव प्रत्येक आत्मा में प्रवर्तमान ही है। उस ओर उन्मुख होकर उसका आश्रय करने से कार्य नियमरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसप्रकार अपना अन्तर्मुख स्वभाव ही कारण है।"¹

1. कारणशुद्धपर्याय (कानजी स्वामी), सं. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पृ. 15

“कारण नियमरूप स्वभाव प्रत्येक आत्मा में प्रवर्तमान ही है, उस ओर उन्मुख होकर उसका आश्रय करने से कार्य नियमरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसप्रकार अपना अन्तर्मुख स्वभाव ही कारण है। जिसप्रकार कार्य वर्तमान है, उसीप्रकार उस कार्य के आधाररूप ध्रुव कारण भी वर्तमान है। जिसप्रकार सामान्यद्रव्य त्रिकाल ध्रुव है, उसीप्रकार उसका विशेषरूप वर्तमान ध्रुव भी वर्तता है, यदि वर्तमान परिपूर्ण कारणरूप से ध्रुव न वर्तता हो तो उसमें मोक्षमार्गरूपी कार्य प्रकट होने की सामर्थ्य कहाँ से आयेगी ? जो निर्मल कार्य है, वह वर्तमान वर्तते हुए ध्रुवकारण के साथ अभेद होता है।”

अन्त में कारण शुद्धपर्याय के वर्णन द्वारा आत्मा का निकट कारणपना बतलाते हुए कहते हैं -

‘जिसप्रकार रेत और लैंडी पीपल दोनों में रसगुण होने पर भी, चौंसठपुटी चरपराहट देने के लिए निकट का कारण लैंडी पीपल में है, उसीप्रकार कार्य प्रकट होने के लिए आत्मा में त्रिकाल सामर्थ्य होने पर भी वर्तमान वर्तता हुआ उसका कारणपना (जिसका यहाँ कारणशुद्धपर्याय रूप से वर्णन किया है।) सीधा निकट का कारण समस्त जीवों में वर्त रहा है। जिसप्रकार निकट के कारण की अपेक्षा से लैंडी-पीपल और रेत में भेद किया, उसीप्रकार जीवों में दो भेद नहीं होते कि एक जीव में कारण निकट हो और दूसरे में निकट नहीं हो; यह ‘कारण’ तो समस्त जीवों को सदा निकट ही (वर्तमान में ही) है। उसका कारणरूप से स्वीकार करे, बस कार्य प्रगट होने में इतनी ही देर है। है तो निकट ही, किन्तु अज्ञान के पर्दे के कारण दूर हो गया है; उस अज्ञान के पर्दे को भेदविज्ञान द्वारा हटा कर सीधे कारण के साथ संबंध करके निर्मलकार्य प्रगट करने की यह बात है।

देखो ! टीकाकार मुनिराज ने अद्भुत बात की है, वे मुनिराज कहते हैं कि प्रभो ! तेरे केवलज्ञान का कारण तेरे निकट-तेरे पास ही है। वह

पूजित है, आदरणीय है; उसकी शरण लेने से सर्व मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। कौन-से मनोरथ, तो कहते हैं कि मोक्ष के। मुमुक्षु को मोक्ष के सिवा अन्य और कौन-से मनोरथ हो सकते हैं ?

यहाँ जो त्रिकाली द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय का स्वरूप कहा, उसकी जो भावना करेगा। उसे सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक के सभी शुद्धकार्य प्रगट होंगे और वह अपने सर्व मनोरथ के स्थानभूत ऐसी परमानन्दरूप मोक्षदशा को प्राप्त करेगा।''

8. दिव्यध्वनिसार भाग 1

'प्रवचनसार' ग्रन्थ पर कानजी स्वामी ने प्रवचन किये जो 'दिव्यध्वनि-सार' नाम से संकलित किये गये हैं। सर्वप्रथम सन् 1955 में यह प्रवचन श्री सद्गुरुप्रसाद नामक दैनिक पत्रिका में श्री अमृतलाल नरसीभाई मेहता के सम्पादकत्व में प्रकाशित किये जा चुके हैं। बहुत समय पश्चात् विनोद जैन छिन्दवाड़ा ने इनका हिन्दी अनुवाद किया है। इसमें प्रवचनसार की गाथा 1 से 52 तक हुए प्रवचनों का संग्रह है।

गाथा नं. 27 से 52 तक में आत्मा के ज्ञानस्वभाव का वर्णन किया गया है। उसमें ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता एवं सर्वज्ञता के स्वरूप का वर्णन किया गया है। ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता का वर्णन करते हुए बताया गया है-

''जैसे दीपकरूप आधार में से उत्पन्न होने वाला प्रकाश स्व-पर को प्रकाशित करता है, वैसे ही आत्मा के आधार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्व-पर को जानता है। शरीर, मन, वाणी को पररूप जानता है और स्व को 'स्व' रूप जानता है। दोनों ज्ञानरूप एक ही हैं। स्व को स्व की तरह जानना और पर को पररूप से जानना - यह भेदज्ञान धर्म है। जो विकल्प उठते हैं वे धर्म नहीं हैं।''

अन्त में गाथा 52 पर प्रवचन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा कि -

“स्वभाव की ज्ञान पर्याय पूर्ण हुई; वह कायम रहने की अपेक्षा से नित्य कही गई है; यह पर्याय समय-समय बदलती जाती है, किन्तु इसमें राग नहीं है, इसीलिए बन्ध भी नहीं। पहले समय की पर्याय दूसरे समय में नहीं आती – ऐसा परिणमन होता है; यह ज्ञान का बदलना बन्ध का कारण नहीं है अपितु मोह, बन्ध का कारण है।”

“जीव कर्म के अंश में मोह करके राग-द्वेष करता है। ज्ञान से बन्ध नहीं होता। ज्ञान का अनुभव करे वह बन्ध का कारण नहीं है, अपितु अन्तर में मोह-राग-द्वेष का होना बन्ध का कारण है।”

दिव्यध्वनिसार भाग-2

इस भाग में 53 से 92 तक की गाथाओं पर कानजी स्वामी के प्रवचन हुए हैं, इसमें ज्ञान स्वभाव अधिकार की 53वीं गाथा में इन्द्रियसुख व इन्द्रियज्ञान को हेय बताया है और अतीन्द्रियज्ञान को आदरणीय बताया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि –

“इन्द्रियज्ञान तथा इन्द्रिय सुख गौण है इसीलिये हेय है। अतीन्द्रियज्ञान और सुख मुख्य है इसीलिये वह उपादेय है-आदरणीय है पहला ज्ञान और सुख, मूर्त ऐसी क्षयोपशमिक उपयोग शक्तियों द्वारा तथा उस तरह की उन इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होता हुआ पराधीन होने से अनित्य, क्रमशः प्रवृत्त होने वाला, सप्रतिपक्ष और हानि-वृद्धि सहित है; इसीलिये वह गौण है अर्थात् छोड़ने योग्य है। और दूसरा ज्ञान और सुख अमूर्त – ऐसे चैतन्य का अनुसरण करके होता है इसलिये वह आदरणीय है।”

इन्द्रिय सुख व दुःख दोनों दुःखरूप हैं। पुण्य और पाप दोनों ही दुःख का साधन है, दोनों अलग-अलग नहीं हैं। इस कारण पुण्य और पाप में अन्तर कैसे हो सकता है ? इसलिए पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है। इसका सार 77वीं गाथा के प्रवचन में दिया गया है।

“पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर त्रिकाल ज्ञानस्वभाव की रुचि करना तथा पुण्य आत्मा के सुख का कारण है - ऐसी दृष्टि छोड़ना। ज्ञान अर्थात् जानना आत्मा का स्वरूप है। पुण्य-पाप होने पर भी दोनों आत्मा के सुख के साधन नहीं हैं। पुण्यभाव इन्द्रिय सुख का साधन है, किन्तु उससे आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं मिलता।

दया-दानादि का शुभराग आता है, उस राग का लक्ष्य इन्द्रिय सुख के ऊपर है, किन्तु आत्मा के ऊपर उसका लक्ष्य नहीं होता। पुण्य के कारण संयोग मिलता है, क्योंकि पुण्य की रुचिवाले का लक्ष्य संयोग के ऊपर जाता है; मुझे सदा अच्छे संयोग मिलें - ऐसी आकुलता करता है, इसलिए वह दुःख का जनक है, आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसकी शक्ति में से पूर्णज्ञान प्रगट हो, वह मुक्ति का कारण है। पुण्य-पाप का अवलम्बन लेने पर बन्धन होता है - पाप के फल में प्रतिकूलता मिलती है। इसलिए जैसे पाप दुःख का साधन है, वैसे ही पुण्य भी दुःख का साधन है।

पुण्य के उदय में जो अनुकूल सामग्री मिलती है, वह एक रूप नहीं होती क्योंकि पुण्य क्षणिक है, इसलिए वह कम-अधिक होता है। पूर्व पुण्य के कारण पैसा मिलता है, उसमें अज्ञानी आकुलता ही करता है। इसलिए जैसे पाप दुःख का साधन है, वैसे ही पुण्य भी दुःख का साधन है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, उसकी दृष्टि-ज्ञान-रमणता सुख का कारण है। पुण्य के फल में अनुकूलता और पाप के फल में प्रतिकूलता मिली है, फिर भी दोनों दुःख का साधन हैं।”

“आचार्यदेव धर्म का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि - आत्मा की मुक्ति का साधन एक शुद्धोपयोग ही है। जितनी पर की ओर एकाग्रता होती है, वह शुभ और अशुभ परिणाम हैं - वे सभी धर्म के विरुद्ध भाव हैं; इसके विपरीत आत्मा के अंतरंग में - ज्ञान में एकाग्र होकर निर्विकारी अतीन्द्रिय आनंद में लीनता द्वारा ही शुभाशुभ उपयोग का अभाव होता है।”

“शुद्धोपयोग के ही प्रसाद द्वारा आत्मा के धर्मत्व का निर्णय करके – साधकर परम निष्पृह आत्मतृप्त – ऐसी पारमेश्वरी प्रवृत्ति को प्राप्त होते हुए हैं, जिनने भेद-वासना (भेद-विकल्प का झुकाव) का प्रलय किया है, (वर्तमान काल में तो-ऐसे यथार्थ मुनि दिखाई नहीं देते – यदि मुनिपद न पाल सके तो उसकी श्रद्धा तो कर-किन्तु जो यथार्थ मुनिमार्ग है, उसका विरोध न कर।) ऐसे मुनि परमेष्ठीपद में स्थित होते हुए, स्वयं आचार्य भगवान कहते हैं कि – ‘मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ।’

शुद्धोपयोगरूप साधन कहो अथवा वीतरागभावरूप मुनिपना कहो अथवा धर्म कहो। आचार्यदेव कहते हैं कि मैं ही धर्म हूँ अर्थात् मेरा आत्मा ही साक्षात् धर्मरूप से परिणमि हुआ है। देखो ! अनुभवी को केवलज्ञान लेने वाला चारित्र कैसा होता है? उसका अनुभव करके कहता हूँ।”

“यह आत्मा शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव करने वाला धर्मरूप से परिणमित होने वाला हुआ है; जिनवाणी और ज्ञानी का उपदेश ज्ञानी का अंतरंग अभिप्राय उसमें मूल निमित्त है, इसलिए निरन्तर मोह की नास्ति और निष्कम्प स्वभाव की अस्तिरूप ज्ञान हुआ है; इसतरह शब्दब्रह्म की स्वस्ति हो – जयवन्त हो।”

9. बृहद्द्रव्यसंग्रह भाग-1

नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव द्वारा रचित ‘द्रव्यसंग्रह’ की गाथाओं पर सन् 1952 में कानजी स्वामी ने जो प्रवचन किये वे ‘बृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन भाग-1’ के नाम से संग्रहित है। इसमें 1 से 27 गाथाओं पर कानजी स्वामी के प्रवचन हैं। जिसमें षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय का वर्णन है। सर्वप्रथम 1976 में ‘आत्मधर्म’ पत्रिका में हिन्दी भाषा में ये प्रवचन प्रकाशित हुए। यह ग्रन्थ मात्र हिन्दी में ही उपलब्ध है। बृहद्द्रव्यसंग्रह में तीन अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में छह द्रव्यों, दूसरे में सात तत्त्वों और नव पदार्थों तथा तीसरे अधिकार में रत्नत्रय अर्थात् मोक्षमार्ग का वर्णन है। कानजी

स्वामी ने प्रत्येक गाथा को सर्व ओर से छानकर, विराट अर्थों को अपने प्रवचन में स्पष्ट किया है। अनेक न्याय द्वारा और प्राकृत विषय संगत अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा कानजी स्वामी ने 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' के अर्थ गम्भीर सूक्ष्म भावों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाया है। जीव को कैसे भाव सहज बनें तब जीव पुद्गल का स्वतंत्र परिणमन समझा कहा जाये ? कैसे भाव रहें तब आत्मा का यथार्थ स्वरूप गिना जाए ? भूतार्थ ज्ञायक निज ध्रुव तत्त्व का कैसा आश्रय हो तो द्रव्य-दृष्टि यथार्थ परिणामी मानी जाए ? कैसे-कैसे भाव रहें तब स्वावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-वीर्यादि की प्राप्ति हुई कहलाये ? - इत्यादि मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषयों को मनुष्य जीवन में बनते अनेक प्रसंगों के सचेष्ट दृष्टान्तों से ऐसे स्पष्ट किये हैं कि आत्मार्थी को उस विषय का स्पष्ट भावभासन होकर अपूर्व गम्भीर अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं और वह शुभभावरूप बन्ध मार्ग में मोक्षमार्ग की मिथ्याकल्पना छोड़कर शुद्ध भावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को समझ कर सम्यक् पुरुषार्थ में जुड़ता है।

भगवान् सर्वज्ञदेव ने छहों द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जैसे जाने हैं, वैसा ही उपदेश दिया है। छहों द्रव्यों का व्याख्यान स्पष्ट करने के बाद छहों द्रव्यों में हेय कौन है ? और उपादेय कौन है ? यह स्पष्टरूप से बताया गया है -

“प्रत्येक आत्मा पर-पदार्थों से रहित है। आत्मा राग-रहित स्वभाववाला है। ज्ञान और आनन्द उसका स्वरूप है। दया-दानादि शुभभाव, हिंसादि अशुभभाव और योगों से रहित होने के कारण शुद्ध है। सदैव एक है, वह उपादेय है। अतः आत्मा उपादेय है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँचों ही द्रव्य ज्ञान के ज्ञेय तो हैं, परन्तु आश्रय करने योग्य नहीं है। निज शुद्धात्मद्रव्य को छोड़कर शेष सभी द्रव्य हेय हैं।”

इसप्रकार बृहद्द्रव्यसंग्रह के स्वानुभूति दायक गम्भीर भाव हृदय में सीधे उतर जायें - ऐसी असरकारक भाषा में अत्यन्त स्पष्टरूप से कानजी स्वामी ने समझाया है।

10. नय-प्रज्ञापन

आचार्य कुन्दकुन्द रचित प्रवचनसार की अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के परिशिष्ट में 47 नयों की चर्चा की गई है। कानजी स्वामी ने 47 नयों पर विस्तार से प्रवचन किये हैं। ये प्रवचन सर्वप्रथम गुजराती भाषा में सन् 1961 में राजकोट से प्रकाशित हुए तत्पश्चात् इसका हिन्दी अनुवाद 'नय-प्रज्ञापन' नाम से प्रकाशित किया गया। नयवाद के अध्ययन के लिये यह उपयोगी ग्रन्थ है, इसमें गर्भित 47 नय इसप्रकार हैं -

1. द्रव्यनय, 2. पर्याय नय, 3. अस्तित्वनय, 4. नास्तित्व नय, 5. अस्तित्व-नास्तित्व नय, 6. अवक्तव्य नय, 7. अस्तित्व अवक्तव्य नय, 8. नास्तित्व अवक्तव्य नय, 9. अस्तित्वनास्तित्व अवक्तव्यनय, 10. विकल्प नय, 11. अविकल्प नय, 12. नाम नय, 13. स्थापनानय, 14. द्रव्यनय, 15. भावनय, 16. सामान्यनय, 17. विशेषनय, 18. नित्यनय, 19. अनित्य-नय, 20. सर्वगतनय, 21. असर्वगतनय, 22. शून्यनय, 23. अशून्यनय, 24. ज्ञानज्ञेयअद्वैत नय, 25. ज्ञानज्ञेय द्वैतनय, 26. नियत-नय, 27. अनियत नय, 28. स्वभावनय, 29. अस्वभावनय, 30. कालनय, 31. अकालनय, 32. पुरुषाकार नय, 33. दैवनय, 34. ईश्वरनय, 35. अनीश्वरनय, 36. गुणीनय, 37. अगुणीनय, 38. कर्तृनय, 39. अकर्तृनय, 40. भोक्तृनय, 41. अभोक्तृनय, 42. क्रियानय, 43. ज्ञाननय, 44. व्यवहारनय, 45. निश्चयनय, 46. अशुद्धनय, 47. शुद्धनय।

इसमें अनन्तधर्मात्मक आत्मद्रव्य के मुख्य 47 धर्मों का 47 नयों के माध्यम से वर्णन किया गया है। एक-एक नय से एक-एक धर्म का वर्णन है परन्तु सम्पूर्ण प्रमाण और सम्पूर्ण प्रमेय साथ में ही आ जाते हैं।

नयों के समूह के द्वारा आत्मा कैसे जाना जाता है। कानजी स्वामी ने इसका विशद विवेचन किया है -

“यह भगवान आत्मा एकद्रव्य है और इसमें अनन्तधर्म हैं। प्रत्येक आत्मा अनन्तधर्मों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है। आत्मा के अनन्तधर्म चैतन्यसामान्य से व्याप्त हैं अर्थात् अनन्तधर्मों का निवास स्थान एक आत्मद्रव्य है। धर्म अनन्त होते हुए भी उन्हें धारण करनेवाला एक द्रव्य है। यहाँ ऐसा नहीं है कि जगत में जो अनेक आत्माएँ हैं, वे सभी मिलकर एक हैं; परन्तु ऐसा है कि जगत में जो अनन्त आत्माएँ हैं और प्रत्येक आत्मा अनन्तधर्मात्मक है तथा उन अनन्तधर्मों का आधारभूत एकद्रव्य है; क्योंकि अनन्तधर्मों को जानने वाले अनन्तनय हैं, और उनमें व्याप्त रहने वाले श्रुतज्ञानप्रमाण में अनन्तनय हैं और उनमें व्याप्त रहने वाले एक श्रुतज्ञानप्रमाण पूर्वक स्वानुभव से आत्मा जाना जाता है।

एक आत्मवस्तु में अनन्तधर्म हैं और उसे जानने वाला श्रुतज्ञान प्रमाण में अनन्तनय हैं। एक-एक धर्म को जानने वाला एक-एक नय है - इस प्रकार अनन्त धर्मों को जाननेवाले अनन्तनय हैं। जिसप्रकार अनन्तधर्म एक आत्मद्रव्य में समाहित होते हैं, उसीप्रकार अनन्तनय एक श्रुतज्ञान में समाहित होते हैं। जिसप्रकार अपने अनन्तधर्मों में एकद्रव्य व्याप्त रहता है, उसीप्रकार उन धर्मों को जाननेवाले अनन्तनयों में एक श्रुतज्ञान व्याप्त रहता है।”¹

आत्मा कैसा है और वह किस विधि से जानने में आता है - ये दोनों बातें इसमें आ जाती हैं।

आत्मा कैसा है ? आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य से व्याप्त अनन्त-धर्मात्मक एकद्रव्य है।

आत्मा किस विधि से प्राप्त होता है ? आत्मा के अनन्तधर्मों को

जाननेवाले जो अनन्तनय हैं, उनमें व्याप्त श्रुतज्ञानप्रमाण से स्वानुभव से आत्मा जाना जाता है।

अनन्तधर्मात्मक आत्मा को जानकर उसकी रुचिपूर्वक उसमें एकाग्रता करने से ही मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रधर्म प्रगट होता है।

आत्मद्रव्य में अनन्तधर्म हैं और उन अनन्तधर्मों को जाननेवाले अनन्तनय हैं, उन अनन्तनयों में व्यापनेवाले एक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से आत्मा जानने में आता है। सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्रमाण है और उसका एक अंश नय है। प्रमाण सम्पूर्ण वस्तु को जानता है और नय एक-एक धर्म को जानता है। यहाँ तो जो नय जिस धर्म को जानता है, वह नय उस धर्म में व्याप्त हो जाता है - ऐसा कहकर आचार्यदेव नय और नय के विषय में अभेद बताते हैं। जिस धर्म के सन्मुख होकर जो नय जानता है, उस धर्म के साथ वह नय अभेद हो जाता है अर्थात् नय और नय का विषय एक हो जाते हैं।

प्रवचनसार के तीन अधिकारों में वस्तुस्वरूप का विस्तृत वर्णन करने के बाद अब इस अन्तिम परिशिष्ट में आचार्यदेव ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है - "धर्म अनन्त हैं, परन्तु वस्तु एक ही है। नय अनन्त हैं, परन्तु प्रमाण एक ही है।

अनन्तनय एक श्रुतज्ञान प्रमाण में समा जाते हैं, भिन्न नहीं रहते हैं; अनन्तधर्म भी एक वस्तु में समा जाते हैं, भिन्न-भिन्न नहीं रहते हैं। प्रमाण पूर्वक स्वानुभव से ही आत्मद्रव्य स्वयं का प्रमेय होता है।"

11. समयसार नाटक प्रवचन भाग-1

समयसार कलश टीका के आधार पर पं. बनारसीदास द्वारा काव्यमय समयसार नाटक की रचना की गई है। इस ग्रन्थ पर कानजी स्वामी ने सन् 1971 में प्रवचन किये हैं। सर्वप्रथम गुजराती 'आत्मधर्म' में इनका संकलन नागरभाई मोदी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ था; जिसका हिन्दी अनुवाद पं. देवेन्द्रकुमार बिजौलियाँ ने किया, जो 'समयसार नाटक

प्रवचन भाग-1' के रूप में प्रकाशित है। इस भाग में जीव-अजीव द्वार से कर्ता-कर्म क्रियाद्वार तक प्रवचन संकलित हैं। इस ग्रन्थ में कानजी स्वामी ने निजस्वरूप का वैभव एवं सिद्धों की स्तुति करते हुए 51 काव्यों पर प्रवचन प्रारम्भ किये हैं। ग्रन्थ की उत्थानिका एवं मंगलाचरण के साथ प्रवेशद्वार प्रारम्भ हुआ, पश्चात् जीवद्वार जिसमें कानजी स्वामी ने 35 काव्यों पर प्रवचन किये। प्रथम द्वार का संक्षिप्त सार बताते हुए कहा कि "आत्मा चैतन्य सूर्य है, विज्ञानघन है, आनन्दकन्द है, परमदेव है, शुद्ध है, बुद्ध है, निर्विकल्प है, देहातीत है, अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है, सिद्ध समान है, अविनाशी है" - जैसे खान के भीतर स्वर्ण मिट्टी से सहित रहता है; परन्तु सोना मिट्टी से अत्यन्त भिन्न है इस कारण भट्टी में तपाने से शुद्ध सोना मिट्टी से अलग हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् आत्मा शुद्ध है, शक्तिमय है, जहाँ ऐसा माहात्म्य आता है और उपयोग अन्तर्मुख होता है वहाँ मिथ्यात्व का नाश हो जाता है और राग-द्वेष का नाश हो जाता है।¹¹

ऐसा स्वरूप होने पर भी अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है। यह जीव अनादिकाल से निजनिधान के भान बिना दुःखी हो रहा है। सर्वज्ञ कथित वस्तु के भान बिना सम्प्रदाय के बाड़े में रहने वाले भी प्यासे ही चले जाते हैं। इसलिये प्रथम नय, निक्षेप और प्रमाण में द्रव्य-गुण-और पर्याय का स्वरूप समझकर आत्मा के अन्दर जाना-अनुभव करना। इसप्रकार जीवद्वार पूर्ण हुआ।

जीव पदार्थ का स्वरूप दृढ़ करने के लिये अजीवद्वार का वर्णन किया गया है। अजीव तत्त्व जीवतत्त्व से सर्वथा भिन्न है।

"अजीव का लक्षण अचेतन है। अचेतन पदार्थ पुद्गल, नभ, धर्म, अधर्म, काल के नाम से पाँच प्रकार का है। आत्मा के सिवाय एक और पदार्थ शरीर है, यह शरीर जड़ है, आत्मस्वभाव से भिन्न है। इससे

1. समयसार नाटक प्रवचन-1 (कानजी स्वामी), पृ. 237

अहंबुद्धि करना अर्थात् शरीर और शरीर के संबंधी धन, स्त्री, पुत्रादि को अपना मानना मिथ्याज्ञान है, मिथ्यादर्शन है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं कि - “लक्षणभेद द्वारा निजात्मा को स्व और आत्मा के सिवाय समस्त अचेतन पदार्थों को पर जानना ही भेदविज्ञान है। जिसप्रकार राजहंस दूध और पानी को भिन्न कर देता है उसीप्रकार विवेक द्वारा जीव और अजीव को भिन्न-भिन्न करना एवं पुद्गलों में से अहंबुद्धि अथवा राग-द्वेष हटाकर निजस्वरूप में लीन होना चाहिए।”

अजीव द्वार के पश्चात् कर्ता-कर्म क्रियाद्वार में बताया है कि जीव की क्रिया, उसका कर्ता और उसका कार्य क्या है? जड़ की और राग की क्रिया जीव की नहीं है और ज्ञान की क्रिया अजीव की नहीं है। जीव और पुद्गल दोनों का स्वभाव भिन्न है।

भगवान् आत्मा तो अपने ज्ञानभाव और चैतन्य क्रिया का कर्ता है। त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के परिणामन की क्रिया और उसके फलरूप कार्य का जीव कर्ता है, राग का कर्ता नहीं, व्यवहार का कर्ता नहीं और कर्म का कर्ता तो है ही नहीं।

12. प्रवचनरत्नचिन्तामणि भाग 1-2

‘समयसार’ की भाँति कानजी स्वामी ‘नियमसार’ से भी काफी प्रभावित रहे और इस परमागम पर कई बार भाव-विभोर होकर प्रवचन किये। ये प्रवचन अभी तक तीन बार प्रकाशित हो चुके हैं। ‘नियमसार’ की गाथा 1 से 37 तक जीवाजीवाधिकार पर सन् 1972 में गुजराती भाषा में प्रवचन हुए। गुजराती भाषा में सन् 1988 में रमण भाई शाह द्वारा ‘प्रवचनरत्नचिन्तामणि’ नाम से ये संकलित किये गये। हिन्दी अनुवाद पं. देवेन्द्रकुमार बिजौलियाँ ने किया। प्रवचनरत्न-चिन्तामणि भाग-1 में गाथा नं. 1 से 19 तक जीवाधिकार में आत्मा का वर्णन किया गया है, जिसमें गाथा 10 से 15 तक में जीव के असाधारण लक्षण उपयोग को समझाया गया है।

आत्मा का वर्णन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि -

“अहाहा ! भगवान ! सुन प्रभु ! अहा... ! तेरा अस्तित्व क्या है ? तेरी सत्ता क्या है ? और तुझमें क्या होता है ? अहा ! भगवान तू आत्मा चैतन्य वस्तु अनादि-अनन्त है। तुझमें ज्ञान-दर्शन की शक्ति-गुण हैं और वह भी अनादि अनन्त हैं तथा प्रतिसमय अनेक प्रकार के संयोग में, तुझे जो ज्ञान-दर्शन की अर्थात् जानने-देखने की अवस्था होती है, वह तेरे अन्तर के गुण-शक्ति को अनुसरण करके होती है। अहा..हा.. ! तू जहाँ है, वहाँ तेरा आत्मा का अस्तित्व तो त्रिकाली है और तेरे ज्ञान-दर्शन का स्वभाव, गुण, शक्ति भी त्रिकाली है, इसलिए तू जहाँ, जिस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के संयोग में खड़ा है, वहाँ संयोगरूप तो तू हुआ नहीं, क्योंकि निजद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में संयोग का प्रवेश ही नहीं है न ! और भगवान ! उन संयोगों के कारण तेरी वर्तमान जानने की दशा होती है - ऐसा भी नहीं है, परन्तु वर्तमान जानने-देखने के जो परिणामभाव वर्तते हैं, उनका अस्तित्व अन्दर के (ज्ञान-दर्शन) गुण के कारण-अनुसरण करके आया है।”¹¹

20 से 37 तक अजीव अधिकार में जीव के अतिरिक्त पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों का वर्णन एवं जीव द्रव्य से उसकी भिन्नता को स्पष्ट किया गया है। पुद्गल की व्याख्या करते हुए कानजी स्वामी ने अपने उद्गार प्रगट करते हुए कहा है कि -

“अहा.. ! पुद्-पूरण, गल-गलन। इसप्रकार जिसमें (स्वभाव से ही) पूरण-गलन होता है, वह पुद्गल है। उसके दो भेद हैं - स्वभाव पुद्गल और विभाव पुद्गल। यह सब जानकर ‘यह पुद्गल मुझ आत्मा से भिन्न वस्तु है’ - ऐसी श्रद्धा करना चाहिये और इसीलिये यह कथन है।”¹²

1. प्रवचनरत्नचिन्तामणि, पृष्ठ 204

2. समयसार नाटक प्रवचन-1 (कानजी स्वामी), पृ. 443

37वीं गाथा में अजीव के कथन का उपसंहार करते हुए जीव-अजीव आदि द्रव्यों की अशुद्धता-शुद्धता सम्बन्धी विचार करते हुए 6 तथ्य बताये हैं -

1. जीव को स्वजातीय अशुद्धपना नहीं है।
2. जीव को विजातीय अशुद्धपना होता है।
3. पुद्गल को स्वजातीय और विजातीय दोनों अपेक्षा से अशुद्धपना है।
4. धर्मादि चार द्रव्यों में कभी अशुद्धपना नहीं है।
5. विशेष गुणों में अशुद्धपना होता है।
6. सामान्य गुणों में अशुद्धपना नहीं होता।

“.....इसप्रकार जीव और पुद्गल को बन्ध अवस्था में अशुद्धपना होता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इन चारों द्रव्यों को अशुद्धपना नहीं होता। छहों द्रव्यों के अमुक सामान्य गुण तो शुद्ध ही हैं। परन्तु विशेष गुणों में अशुद्धता होती है, वह जीव और पुद्गल को ही होती है, परन्तु धर्मादि चार पदार्थों को विशेष गुण में भी अशुद्धता नहीं है, वे सदा शुद्ध ही होते हैं।”

प्रवचनरत्न चिन्तामणि भाग-2

नियमसार ग्रन्थ की 38 से 55 गाथा तक शुद्धभावाधिकार पर सन् 1979-80 में कानजी स्वामी ने प्रवचन किये। इन प्रवचनों को हेमन्तभाई गाँधी ने ‘प्रवचनरत्नचिन्तामणि भाग-2’ के नाम से संकलित किया। हिन्दी में अनुवाद पं. देवेन्द्रकुमारजी बिजौलियाँ ने किया।

गाथा 38 की टीका पर प्रवचन में हेय-उपादेय तत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं कि -

“पर्याय ! सूक्ष्म बात है भगवान। यह वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आत्मा में जो एक समय की अवस्था/हालत/पर्याय है, उसको जीवत्व कहकर हेय कहा है, क्योंकि वह व्यवहार जीव है। जबकि निश्चय

जीवतत्त्व तो त्रिकाल ज्ञायकभाव है जो कि आनन्दकन्द है और वह उपादेय है, आदरणीय है। उससे सम्यग्दर्शन होता है, सुख की प्राप्ति होती है।”

इसमें 50वीं गाथा में हेय-उपादेय अथवा ग्रहण-त्याग के स्वरूप का कथन स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में कहा कि -

“पूर्व में औदयिक औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ऐसे जो चार भाव कहे थे, वे सब शुद्धनय के बल से हेय हैं। अकेले ज्ञायकभाव के आलम्बन में इन चारों भावों का आलम्बन नहीं है। इसलिये इस अपेक्षा से ये चारों भाव हेय हैं। तात्पर्य यह है कि ये चारों भाव आश्रय करने योग्य नहीं हैं। यद्यपि ज्ञानी को भी शुभराग-दया, दान, व्रत, भक्ति-पूजादि का भाव होता है परन्तु वह आदर करने योग्य नहीं है, क्योंकि वह भाव मलिन है। जब निर्मल भाव को भी हेय कहा है तो फिर मलिनभाव हेय ही हैं।

जो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव हैं, वे निर्मल भाव हैं वे भी हेय हैं, निर्मल ज्ञानमय केवलज्ञान आदिरूप जो अनन्तचतुष्टय की पर्याय प्रगट होती है, वह पर्याय भी निश्चयनय की दृष्टि से हेय है। अरे! अज्ञानी को तो अभी शुभराग छोड़ने योग्य हैं - ऐसा सुनना कठोर लगता है। परन्तु भाई! त्रिकाली आत्मवस्तु के एकरूप रहने वाले चैतन्य स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो ये पर्याय के शुद्ध व अशुद्ध दोनों भाव हेय हैं; छोड़ने योग्य है, निषेध करने योग्य हैं अहा! यह 50वीं गाथा बहुत ऊँची है।

अहा! भगवान् आत्मा एक ही समय में परिपूर्ण प्रभुरूप विराजमान है। परिपूर्ण आनन्द, परिपूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण स्वच्छता, परिपूर्ण श्रद्धा, परिपूर्ण शान्ति, उपशम रस आदि परिपूर्ण भाव से वह भरा पड़ा है। उसके ऐसे त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो बन्ध और मोक्ष की दोनों पर्यायें हेय हैं। अरे! केवलज्ञान और केवलदर्शन भी हेय है, क्योंकि साधक को केवलज्ञान नहीं है और जो पर्याय नहीं है उसका लक्ष्य करने जायेगा तो राग होगा, इसलिये चारों भाव हेय हैं।”

13. पदार्थ विज्ञान

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रणीत 'प्रवचनसार' की 99, 100, 101 गाथाओं पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचन सर्वप्रथम 'सद्गुरुप्रसाद' नामक पत्रिका में वीर नि. सं. 2477 में प्रकाशित हुए जिसका संकलन अमृतभाई नरसीलाल सेठ द्वारा गुजराती भाषा में सन् 1972 में 'सम्यक्प्रभा' नाम से प्रकाशित किये गये। तत्पश्चात् हिन्दी अनुवाद का प्रथम संस्करण 'पदार्थ विज्ञान' नाम से सन् 1989 में प्रकाशित हुआ। ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव नामक पुस्तक में भी परिशिष्ट के रूप में इन प्रवचनों का प्रकाशन हुआ है।

प्रवचनसार की 99वीं गाथा अलौकिक है। इस गाथा में कानजी स्वामी ने वस्तुस्वभाव का रहस्य भर दिया है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त परिणाम द्रव्य का स्वभाव है। और उस स्वभाव में द्रव्य नित्य अवस्थित है। इसलिये द्रव्य सत् है। प्रवचनसार के ज्ञेय अधिकार में कहा है कि - "समस्त ज्ञेय सत् है और समस्त ज्ञेय जैसे हैं, वैसे एक साथ ज्ञान में ज्ञात होते हैं। आत्मा ज्ञान का सागर है और समस्त लोक ज्ञेयों का सागर है। तथा दोनों में मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, कर्त्ता-कर्म या भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध नहीं है। बस इसी में से वीतरागता निकलती है।"¹

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने 100वीं गाथा में आत्मा को उत्पाद-व्यय-ध्रुववाला सिद्ध करते हुए कहा है कि -

"...इसलिए द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रुववाला एक साथ ही मानना युक्तियुक्त है। सारांश यह है कि पूर्व-पूर्व परिणामों के व्यय के साथ पीछे-पीछे के परिणामों के उत्पाद के साथ और अन्वय अपेक्षा से ध्रुव के साथ द्रव्य को अविनाभाववाला मानना। उत्पाद-व्यय और ध्रुव यह तीनों एक साथ निर्विघ्नरूप से द्रव्य में हैं - ऐसा सम्मत करना, निस्संदेहरूप से निश्चित करना। मात्र उत्पाद, मात्र व्यय और ध्रौव्य यह तीनों एक साथ ही द्रव्य का लक्षण है - ऐसा जानना।"¹

1. पदार्थविज्ञान (कानजी स्वामी), पृ. 11

अन्त में कानजी स्वामी ने वस्तुस्वरूप को सिद्ध करते हुए कहा है कि द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न नहीं होता, स्वयं ही नाश को प्राप्त नहीं होता और स्वयं ही ध्रुव नहीं रहता किन्तु उनके अंश का उत्पाद है, अंश का व्यय है और अंश की ध्रुवता है। इसीलिये वे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य अंशों के (पर्यायों के) हैं। और वे पर्यायों द्रव्य की ही हैं। इससे सब एक ही द्रव्य ही हैं।

14. परमार्थ वचनिका प्रवचन

पं. बनारसीदास द्वारा रचित अध्यात्म रस भरपूर 'परमार्थवचनिका' में जीवद्रव्य की अवस्थाओं का विशद विवेचन किया गया है। संसारी जीव को विभिन्न अवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में स्वसत्तावलम्बनशाली ज्ञान का वर्णन इस कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस चिट्ठी में परमार्थ का रहस्य भरा है। अतः इसे 'परमार्थ वचनिका' कहते हैं। इस पर कानजी स्वामी ने गुजराती भाषा में प्रवचन किये जो 'अध्यात्म-सन्देश' के नाम से प्रकाशित हुए। हिन्दी अनुवाद गम्भीरचन्दजी अलीगंज ने 'परमार्थ वचनिका' नाम से किया। इस 'परमार्थ वचनिका' में मुख्यरूप से निम्न बिन्दुओं पर प्रवचन करके मोक्षमार्ग एवं बन्धनमार्ग दोनों को भिन्न बताया गया है -

1. संसारावस्थित जीव की अवस्था
2. जीवद्रव्य की अनन्त अवस्थायें
3. संसारावस्था के तीन व्यवहार
4. आगम-अध्यात्म पद्धति की अनन्तता
5. आगम-अध्यात्म के ज्ञाता
6. ज्ञानी और अज्ञानी
7. सम्यग्दृष्टि द्वारा मोक्ष पद्धति की साधना
8. मोक्षमार्ग की सरस बात
9. ज्ञाता का मिश्र व्यवहार

10. हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप ज्ञाता की चाल
11. अध्यात्म-पद्धतिरूप स्वाश्रित मोक्षमार्ग
12. उपसंहार

कानजी स्वामी ने आगम और अध्यात्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि -

“वस्तु के स्वभाव का अर्थ यहाँ त्रिकाली स्वभाव नहीं समझना चाहिए, किन्तु पर्याय का स्वभाव समझना चाहिए। संसारी जीव की पर्याय में विकार की परम्परा अनादि से चली आई है तथा उसके निमित्तरूप कर्म की परम्परा भी अनादि से चली आई है तथा उसको यहाँ आगमपद्धति कहते हैं। यह आगम पद्धति अशुद्ध है अर्थात् उसमें आत्मा का अधिकार नहीं कहा, आगमयप अशुद्ध भाव और अध्यात्मरूप शुद्ध भाव - इन दोनों भाववाले जीव संसार-अवस्था में सदा होते ही हैं अर्थात् संसारावस्था में इन दोनों भावों को त्रिकालवर्ती कहा है।”¹

15. प्रवचनरत्नाकर भाग 1 से 11

कानजी स्वामी ने अपने पूरे जीवनकाल में आद्योपान्त ‘समयसार’ के ऊपर 19 बार प्रवचन किये। इन प्रवचनों को बहुत समय तक सुरक्षित रखने की दृष्टि से कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट की ओर से 18वीं बार हुए प्रवचनों का प्रकाशन प्रवचन रत्नाकर नाम से प्रकाशित किया। सर्वप्रथम इनका प्रकाशन गुजराती भाषा में किया गया। बाद में प्रवचनरत्नाकर भाग-1 से 11 तक हिन्दी में अनुवाद पं. रतनचन्दजी भारिल्ल ने किया। सम्पूर्ण समयसार में शुद्धनय द्वारा चैतन्यमयी ध्रुव शुद्धात्मा का स्वरूप बताया गया है, क्योंकि वही एक सारभूत पदार्थ है।

प्रवचनरत्नाकर भाग-1

इसमें समयसार गाथा 1 से 25 पर कानजी स्वामी द्वारा किये गये

1. परमार्थवचनिका, पृष्ठ 37

प्रवचनों का अनुवाद है। ये गाथायें अलौकिक हैं। एक-एक गाथा निहाल कर देने वाली है। दृष्टि को बदल देने वाली है। इसमें मुख्यरूप से आत्मा और शरीर के स्वरूप का वर्णन निश्चयनय और व्यवहारनय से किया गया है। देह और आत्मा की भिन्नता की बात विस्तार से समझाई गई है और प्रेरणा दी गई है कि कैसे भी करके इस देह से एकत्व के मोह को छोड़ दें।

22 नं. के कलश में बताया गया है कि हे जगत के जीवो ! अनादि से लेकर आज तक किये गये मोह को अब तो छोड़ो और रसिकजनों को रुचिकर उचित ज्ञान का आस्वादन करो क्योंकि आत्मा इस लोक में किसी भी स्थिति में अनात्मा के साथ तादात्म्य को धारण नहीं करता, पर के साथ एकमेक नहीं होता। इस कलश की महिमा से भावविभोर होकर कानजी स्वामी ने कहा है -

“अहो ! अमृतचन्द्राचार्य के कलश बहुत गम्भीर हैं। इनकी टीका भी बहुत गम्भीर हैं इन्होंने शास्त्रों में कैसा भाव भरा है। जैसे ग्वाला गाय के स्तनों में से दूध सम्भालकर दोहनकर निकालता है; उसीप्रकार शास्त्रों में भरे हुए भावों को तर्क की ताकत लगाकर निकाला है और टीका में भर दिया है।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है (चेतना स्वरूप है) और रागभाव अचेतनस्वरूप हैं। चाहे दया, दान, व्रतादि का विकल्प हो या गुण-गुणी के भेद का विकल्प हो; ये सब विकल्प अचेतन हैं। इनमें ज्ञानस्वभाव की किरण नहीं है। इसलिये उस राग का स्वाद छोड़कर, इस ज्ञानस्वरूप आत्मा को आस्वादो। भगवान आत्मा में आनन्द, सुख का आस्वाद है। अनादि काल से राग का स्वाद लिया, वह दुःख का-आकुलता का स्वाद था, उसमें कुछ नया नहीं है। यदि कुछ नया करना हो तो ज्ञान को आस्वादो - ऐसा कहते हैं।”

परम सुख के कारणभूत आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कानजी स्वामी ने 6वीं गाथा पर प्रवचन करते हुए कहा है -

“आत्मा ज्ञायक ही है, इसमें भेद नहीं है; इससे प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। देखो! स्पष्ट करते हैं कि चैतन्यरस का कंद प्रभु-आत्मा एक ज्ञायक, ज्ञायक ही है, उसमें पर्याय नहीं, प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्थायें नहीं हैं। अहा...हा...! सम्यग्दर्शन की पर्याय ज्ञायक को विषय करती है, किन्तु यह पर्याय ज्ञायक में नहीं है। ज्ञायक पर्याय के भेदरूप नहीं होता। जाननेवाला-जाननेवाला-जाननेवाला, ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव ऐसा ज्ञायक में कोई भेद नहीं है। कोई कहे कि अनेकान्त कहो कि आत्मा ज्ञायक भी है और विकारी भी है। तो यहाँ कहते हैं कि आत्मवस्तु एकान्त ज्ञायक ही है, अभेद है, इससे प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। अहो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जगत के समक्ष परमसत्य जाहिर किया है।”

प्रवचनरत्नाकर भाग-2

गाथा 26 से 68 पर किये गये प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद ‘प्रवचनरत्नाकर भाग-2’ में किया गया है। इस जीवाजीवाधिकार में जीव-अजीव की भिन्नता को बताकर भेद-विज्ञान पूर्वक वीतरागता की सिद्धि करने एवं पर से एकत्व व ममत्व का निषेध कर अपने त्रिकाली भगवान आत्मा में एकत्व व ममत्व स्थापित करने की प्रेरणा दी है। क्योंकि निज भगवान आत्मा में एकत्व-ममत्व का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है यही सच्चा मुक्तिमार्ग है।

इसमें बताया है कि जीव अनादिकालीन पर-पदार्थों में अहंबुद्धि-ममबुद्धि करता है अतः आचार्य ने उसका निराकरण किया है। पर-पदार्थ से अहं बुद्धि तोड़ने के बाद ज्ञानी अपनी आत्मा के बारे में क्या सोचता है। उसकी चिन्तनप्रक्रिया कैसी होती है? इनका उत्तर कानजी स्वामी ने 38वीं गाथा में दिया है। “ज्ञानी ऐसा अनुभव करता है कि ‘मैं शुद्ध हूँ, मैं

शुद्ध हूँ' - ऐसा विकल्प नहीं, ऐसा साक्षात् अनुभव है। अहा..हा..! वह ऐसा जानता है कि मेरा जो सत् का सत्त्व है वह त्रिकाल है, ध्रुव है, नित्य है, अभेद व एकरूप है।''

यद्यपि इस गाथा से रंगभूमि का उपसंहार होता है तथा आगे की गाथाओं में अध्यवसानादि भावों को जिनागम में विभिन्न अपेक्षाओं से जीव कहा गया है। तथापि वे पारमार्थिक जीव नहीं हैं। तो फिर परमार्थ स्वरूप जीव कैसा है उसका लक्षण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप 49वीं गाथा कही गई है। इस गाथा में आत्मा का वास्तविक स्वरूप अत्यन्त अलौकिक ढंग से व्यक्त किया गया है। अरस, अरूप, अगंध, और अस्पर्श पर छह-छह बोल द्वारा समझाया गया है। आत्मा को अशब्द स्वभावी भी सिद्ध किया है। अनिर्दिष्ट संस्थान व अव्यक्त के माध्यम से भी आत्मा को सिद्ध किया है।

इसप्रकार रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द-संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल पर भी स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमानगोचरमात्रता के अभाव के कारण जीव को अलिंगग्रहण कहा जाता है। अन्त में 45वें कलश में भेद-विज्ञान की प्रवृत्ति के द्वारा यह ज्ञाता स्वयं प्रगट होता है। ऐसी महिमा करते हुए स्पष्ट किया है कि "जो ज्ञान की एकाग्रता के अनुभव का अभ्यास करता है, उसका राग आत्मा से भिन्न हो जाता है। आनन्द की दशा प्रगट हो जाती है। ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा अन्तर में अनुभव करना ही ज्ञानरूपी करौंते हैं।"

प्रवचनरत्नाकर भाग-3

इसमें 69 से 91 गाथा तक हुए कानजी स्वामी के प्रवचन समाहित हैं। जिसमें जीव की परद्रव्य सम्बन्धी मान्यताओं का निषेध किया गया है। इस कर्त्ता-कर्म अधिकार में जीव व अजीव द्रव्यों की पर्यायों में जो कर्त्ता-कर्म सम्बन्धी भूल होती है उसका दिग्दर्शन किया गया है - पर्याय

में जो भूल है वही संसार है और इस भूल के मिटने पर भूल का अभाव होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। इस कर्त्ता-कर्म अधिकार में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व बुद्धि का निषेध किया गया है। प्रारम्भिक गाथाओं में बताया गया है कि कर्मबन्ध का मूल कारण कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति है। तत्सम्बन्धी अज्ञान है आत्मा और आस्रवों के बीच भेदज्ञान का अभाव हैं स्वयं को परद्रव्य एवं परभावों का कर्त्ता मानता है। यहाँ यह भी बताया है कि भेद-विज्ञान से बन्ध का निरोध होता है इस बन्ध के निरोध की विधि एवं आस्रवों से निवृत्ति की प्रक्रिया 73 वीं गाथा में बताई है -

“शुद्धनय से ज्ञानी ने आत्मा का ऐसा निश्चय किया कि ‘मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्य के प्रति ममतारहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण वस्तु हूँ’ - ऐसा निश्चय करके जब वह ज्ञानी आत्मा ऐसे अपने स्वरूप में रहता हुआ, उसी के अनुभवरूप होता है; तब क्रोधादि आस्रवों का क्षय करता है। जो अनादि से राग में रहता था, वह अब अपने चैतन्य स्वरूप में रहता हुआ पहले मिथ्यात्व के आस्रव से-महादुःख से निवृत्त होता है।”

अन्त में 91 वीं गाथा में बताया है कि मिथ्यात्वादि भावों का कर्त्ता यद्यपि आत्मा का उपयोग शुद्ध निरंजन भाव है तथापि तीन प्रकार का होता हुआ वह स्वयं उपयोग स्वयं कर्त्ता है, उस भाव का वह कर्त्ता होता है। ‘आत्मा जिस भाव को करता है, वह उसका कर्त्ता होता है। उसके कर्त्ता होने पर पुद्गल अपने आप कर्मरूप परिणमित होता है।

“आत्मा मिथ्यात्वादि विकाररूप स्वयं होता है। विकारभाव का स्वयं कर्त्ता तथा विकारभाव स्वयं कर्म है। विकार का कर्त्ता जड़कर्म तीनकाल में भी नहीं है। जीव जो चतुर्गति में भटकता है, वह अपनी ही भूल से अपने ही कारण भटकता है, कर्म के कारण नहीं। कर्म तो जड़ हैं, परद्रव्य हैं; वह जीव को हैरान नहीं करता। जो ऐसा मानते हैं कि कर्म हैरान करता है, उनका यह मानना यथार्थ नहीं है। जब तक स्वभाव का भान नहीं है, तब तक मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व भाव का कर्त्ता है।”

प्रवचनरत्नाकर भाग-4

इस भाग में समयसार की 92 से 144 गाथाओं पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचनों का अनुवाद है। इन प्रवचनों में कर्त्ता-कर्म सम्बन्धी अज्ञान को मिटाकर सम्यग्दर्शन की प्रायोगिक विधि का वर्णन किया गया है। प्रारम्भ में बताया है कि अज्ञानी जीव कर्मों का कर्त्ता होता है और ज्ञानी जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं होता। 100वीं गाथा में कहा गया है कि भगवान आत्मा पर-पदार्थों, इन्द्रियों, क्रोधादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों का उपादानकर्त्ता तो है ही नहीं, निमित्तकर्त्ता भी नहीं है। उनके करने से भावरूप अपने उपयोग और योग का कर्त्ता कदाचित् अज्ञानी आत्मा को कह सकते हैं। किन्तु ज्ञानी आत्मा तो उनका भी कर्त्ता नहीं होता। 141वीं गाथा में आत्मा के सन्दर्भ में व्यवहारनय और निश्चयनय के पक्ष को स्पष्ट किया गया है। आगे की गाथाओं में बताया गया है कि मैं तो नयपक्ष से पार हूँ, नयविकल्पों से विकल्पातीत हूँ। यही नय पक्ष के त्याग की भावना वाले 23 कलशरूप काव्यों पर मार्मिक प्रवचन किये गये हैं, जिसमें बताया है कि समयसार स्वरूप शुद्धात्मा पक्षातिक्रान्त है एवं पक्षातिक्रान्त का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। 144वीं गाथा कर्त्ताकर्म अधिकार की अन्तिम गाथा है। इसमें पक्षातिक्रान्त सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रकरण का समापन है। कानजी स्वामी के इस गाथा पर प्रवचन इस प्रकार हैं –

“मैं अबद्ध हूँ, एक हूँ” – ऐसे पक्ष के राग को भी जो छोड़ देता है, अर्थात् नयपक्ष के विकल्प से भी जो खण्डित नहीं होता, वह आत्मा समयसार है, क्योंकि भगवान आत्मा सदा ज्ञानानन्दस्वभावी नित्यानन्द प्रभु है, ऐसा जो निश्चयनय का पक्ष है, यह भी आत्मा की शान्ति को भंग करता है। ‘समस्त नयपक्ष द्वारा खण्डित नहीं होने से’ ऐसा जो हेतु कहा है, इसका अर्थ यह है कि अब तक जो पहले नयपक्ष के विकल्पों से खण्डित होता था, वह अब शुद्ध चैतन्यस्वरूप के लक्ष्य से, समस्त नयपक्ष छूट जाने से जिसके समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है, वह आत्म समयसार है।”¹

1. प्रवचन रत्नाकर-4 (कानजी स्वामी), पृ. 357

प्रवचनरत्नाकर भाग-5

समयसार की 145 से 180 तक की गाथाओं पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचन इस ग्रन्थ में समाहित हैं। इसमें पुण्य-पापरूप एवं शुभाशुभ भावरूप परिणतियों को त्याग योग्य बताया है। पुण्य-पाप अधिकार में बताते हैं कि पाप के समान पुण्य भी हेय है; क्योंकि पुण्यभाव व पापभाव दोनों रागमयभाव होने से एक ही हैं। इस अधिकार के मंगलाचरणपरक 100वें कलश में “मोह रज का नाश करने वाले तथा अज्ञान के कारण एक ही कर्म में उत्पन्न हुए पुण्य-पाप या शुभ-अशुभ भाव के भेद (द्वैत) को समाप्त करने वाले सम्यग्ज्ञान को स्मरण किया है।” इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि चाहे तीर्थंकर नामकर्म नामक कर्मप्रकृति को बाँधने वाला शुभभाव हो या नरकगति को बाँधने वाला अशुभभाव हो दोनों ही प्रकार के भाव बन्धनरूप हैं; अतः दुःखरूप ही हैं। ऐसा जानता हुआ सम्यग्ज्ञानी सभी शुभाशुभ भावों को एक कर्मरूप ही मानता है। उनमें द्वैत भाषित नहीं होता।”

जीव के शुभ और अशुभ दोनों ही परिणाम अज्ञानमय हैं। अतः कर्म एक ही हैं। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार किया गया है -

“भगवान ! तेरा स्वरूप तो चिदानन्दस्वरूप है, सदा ही जागृत चैतन्य ज्योतिर्मय है, ज्ञानस्वभावी है और ये शुभाशुभभाव तेरे चैतन्य स्वभाव से विपरीत भाववाले हैं। इसकारण इन दोनों ही भावों को अज्ञानमय कहा जाता है।” अतः स्पष्ट है कि पुण्य भी पाप है। पाप के समान हेय है, त्याज्य है, मुक्ति का कारण मानना अज्ञान है। आस्रव अधिकार में भी बताया है कि पुण्य-पाप दोनों ही भाव आस्रव हैं, बन्ध के कारण हैं, अतः हेय हैं।

अन्त में 122 नं. कलश में भगवान की दिव्यध्वनि का सार बताते हुए कहा है कि जिसमें अपना शुद्धात्मा ही ध्यान का ध्येय बनता है और जो

सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर डालने में समर्थ है, ऐसा शुद्धनय विवेकियों को त्याग करने योग्य नहीं है। शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के त्याग से बन्ध होता है और उसके ग्रहण से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है। इस कलश पर कानजी स्वामी ने आत्मविभोर होकर अपने भावों को इसप्रकार व्याप्त किया है -

“इस कलश में तो मक्खन ही मक्खन भरा है। यहाँ सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि शुद्धनय अर्थात् शुद्धनय का विषयभूत शुद्धतत्त्व त्यागने योग्य नहीं है। परमानन्दमय शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा त्रिकाली उपादेय है, वही तेरी असली सम्पत्ति है। यह शरीर भी धूल-धानी ही है, इसमें भी तेरा चैतन्यस्वरूप नहीं है। अन्तर में विद्यमान पुण्य-पाप का भाव भी तेरी वस्तु नहीं है, क्योंकि ये आस्रव-भाव हैं। इसमें चैतन्य का अंश नहीं है, अतः ये भी जड़ ही हैं। इसप्रकार सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि का सार यह है कि शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा ही एकमात्र उपादेय है। यह किसी भी कारण से छोड़ने योग्य नहीं है तथा जिस राग को अनादि से पर्याय में उपोदय मान रखा है, वह एक क्षण को भी ग्रहण करने योग्य नहीं है।”¹

प्रवचनरत्नाकर भाग-6

समयसार गाथा 181 से 214 पर हुए कानजी स्वामी के ‘प्रवचनरत्नाकर भाग-6’ के नाम से प्रकाशित हैं। इन गाथाओं में आस्रव के अभावपूर्वक संवर निर्जरा प्रगट करने के लिये भेद-विज्ञान भाने की प्रेरणा दी गई है।

संवर अधिकार की प्रारम्भिक गाथाओं में बताया है कि - क्रोधादि भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों के उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा को भिन्न बताया गया है और कहा गया है कि उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा एकमात्र उपयोग का ही कर्ता-भोक्ता होता है। वह इन द्रव्यकर्मों, भावकर्मों व नोकर्मों का कर्ता-भोक्ता नहीं है। इसप्रकार का

1. प्रवचन रत्नाकर-5 (कानजी स्वामी), पृ. 351-352

भेद-विज्ञान ही सम्पूर्ण कर्मों के संवर करने का उपाय है। कर्मबन्ध का निरोधक है।

‘संवर अधिकार में भेदज्ञान की विशेष महिमा बताई है एवं भेदज्ञान की भावना भाने की प्रेरणा देने के लिये तीन कलशरूप काव्य पर कानजी स्वामी ने महत्त्वपूर्ण प्रवचन किये हैं। कलश 131 पर प्रवचन करते हुये कहा है कि “जो भी आजतक बन्धन को प्राप्त हुए हैं वे इसी भेदविज्ञान के अभाव में हुए हैं। केवल भेदविज्ञान के अभाव से अर्थात् राग की एकता बुद्धि सहित परिणमन करने से जीव अनादि से बंधा है तथा जो भी आजतक सिद्ध हुये हैं वे भी भेदविज्ञान से ही हुए हैं। निश्चय से बन्धन में व मुक्त होने में क्रमशः भेदज्ञान का अभाव व भेदज्ञान का सद्भाव ही कारण है।”¹

गाथा 193 से निर्जराधिकार प्रारम्भ होता है। निर्जराधिकार में संवर दशा को प्राप्त सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, आत्मा की आराधना करके विकारी भावरूप भावकर्मों एवं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों की निर्जरा कैसे करते हैं यह बताते हैं – वास्तविक निर्जरा जो निजात्मा के आश्रय से होने वाली शुद्धि की वृद्धि ही है। किन्तु उसके निमित्त से जो सत्ता में विद्यमान कर्मों का अभाव होता है उसे भी निर्जरा कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीवों के दोनों प्रकार की निर्जरा निरन्तर होती ही रहती है।

अन्तिम गाथा 214वीं में कहा है कि पूर्व में कहे गये 16 प्रकार के परजन्य भावों को ज्ञानी नहीं चाहता है इसलिये ज्ञानी के समस्त परद्रव्य के भावों का परिग्रह नहीं है। इस गाथा का भाव इसप्रकार है –

“देखो! ये शरीर-मन-वाणी आदि तो जड़ एवं परद्रव्य हैं ही, इससे भी विशेष बात यहाँ कहते हैं कि अन्तर में जो असंख्यात प्रकार के शुभाशुभभाव होते हैं, वे भी समस्त परद्रव्य के स्वभाव हैं, क्योंकि वे स्वद्रव्यमय नहीं हैं। ज्ञानी उन सभी भावों की इच्छा नहीं रखता।”²

1. प्रवचन रत्नाकर-6 (कानजी स्वामी), पृ. 86-87

2. वही, पृ. 310-311

प्रवचनरत्नाकर भाग-7

समयसार गाथा 215 से 236 पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तर 'प्रवचनरत्नाकर भाग-7' में किया गया है। इन गाथाओं में सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं उसके अष्ट अंगों का विवेचन किया गया है। अष्ट अंगों से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करते हुए नवीन कर्मों के बन्ध को रोक देता है। और अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त हो जाता है।

निर्जरा अधिकार में बताया है कि ज्ञानी के जो भूत-वर्तमान व भविष्य संबंधी कर्मों का उपभोग है, वह परिग्रह नहीं है। ज्ञानी को बन्ध और उपयोग के निमित्त भूत संसार संबंधी और देह संबंधी अध्यवसान के उदय में राग उत्पन्न नहीं होता। सर्वद्रव्यों के प्रति राग छोड़नेवाला ज्ञानी कर्मों के मध्य में रहा हुआ भी कर्म-रज से लिप्त नहीं होता। अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र पदार्थों को भोगे तो भी वह अज्ञानी नहीं होता। इसतरह सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि -

अहा... ! ज्ञानी आनन्द के रसामृत को गटागट पी जाता है। नरक की पीड़ा के संयोग में भी आत्मजनित रस को गटागट पीता है; क्योंकि ज्ञानी के बाहर के संयोगों में एकत्व नहीं है। संयोग व संयोगी भावों से भेदज्ञान को प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष बाह्य में नरकों की पीड़ा में रहते हुये भी अपने अन्दर के निराकुल आनन्द का ही वेदन करता है।

“सम्यक्त्व की महिमा के पश्चात् सम्यक्त्व के आठ अंगों की चर्चा विस्तार से की गई है। सम्यक्त्व के निःशंकित अंग पर प्रवचन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि अहा.. ! सम्यग्दृष्टि की ऐसी कोई अचिन्त्य अलौकिक महिमा है। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस बज्रपात से मेरा नाश हो जायेगा। पर्याय का नाश होना कोई नई बात नहीं है, वह तो विनाशशील ही है। उसका तो उत्पाद-विनाश स्वभाव ही है। उसका नाश

हो तो उससे मुझे क्या ? मैं तो त्रिकाल शुद्ध, अविनाशी ज्ञायक तत्त्व हूँ, मेरा कभी नाश होता ही नहीं है। ऐसी श्रद्धा के कारण ज्ञानी सदा निःशंक-निर्भय रहता है।¹¹

प्रवचनरत्नाकर भाग-8

इसमें समयसार की 237 से 307 गाथा पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद किया गया है। इन गाथाओं में बन्ध एवं उसके अभाव स्वरूप मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। सर्वप्रथम सर्वतत्त्वों को यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान बन्ध को दूर करता हुआ मंगलाचरण प्रगट होता है। मंगलाचरण के पश्चात् 237 से 241 तक की गाथाओं में बताया है कि - अज्ञानी जीव रागादि से लिस होने के कारण बन्ध को प्राप्त होता है। इस बन्ध का कारण क्या है ? इस सन्दर्भ में कहा गया है कि -

“प्रथम तो कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा यह लोक बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्ध भगवन्तों के भी बन्ध का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु ऐसा है नहीं। लोकाग्र में स्थित सिद्धों को वहाँ विद्यमान कर्मरजकणों से बन्ध नहीं होता। कर्मबन्ध तो राग से संयुक्त पुरुष के ही होता है। इसलिये उपयोग में राग का संयुक्तपना ही बन्ध का कारण है।¹²

यहाँ कहते हैं कि जो ऐसे दुःखरूप पुण्यपाप के भावों को छोड़कर अन्दर में अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता। 288-289-290 गाथा में बताया है कि जो जीव बन्ध का छेद नहीं करते, मात्र बन्ध के स्वरूप को जानने में ही संतुष्ट है। वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते। तो मोक्ष की प्राप्ति किसप्रकार होती है ? - इसको कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में स्पष्ट किया है -

“मोक्ष माने ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान् आत्मा, जब दुःख की दशा से भिन्न पड़कर निज आनन्द रसकन्द स्वरूप आत्मा में रहता है तो वही दशा

1. प्रवचन रत्नाकर-7 (कानजी स्वामी), पृ. 105

2. प्रवचन रत्नाकर-8 (कानजी स्वामी), पृ. 17

मोक्ष है। पर्याय में परम आनन्द का लाभ होने का नाम ही मोक्ष है। पूर्ण चैतन्यधन प्रभु आत्मा की सम्यग्दर्शनरूप प्रतीति करना, केवलज्ञान रूप पूर्ण उपलब्धि करना बस इसी का नाम मोक्ष है।¹¹

इसप्रकार राग से, विकार से, आत्मा को भिन्न करना अनुभवना मोक्ष का कारण है। ऐसे आत्मस्वभाव को और विकार करने वाले बन्ध स्वभाव को दोनों जानकर जो बन्ध स्वभाव से विराम ले लेता है। वह बन्ध स्वभाव से छूटता है और मुक्ति प्राप्त करता है।

इस अधिकार के अन्त में कहा गया है कि पुण्य-पाप से मेरा चैतन्यस्वरूप आत्मा भिन्न है - ऐसा जानकर अपनी वस्तु में ज्ञान को एकाग्र करना प्रज्ञाछैनी है और यही मोक्ष का उपाय है।

प्रवचनरत्नाकर भाग-9

समयसार के सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार की 308 से 372 गाथाओं पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद प्रवचनरत्नाकर भाग-9 में किया गया है। जिसमें सर्व पर्यायों से रहित अकारक, अवेदक, ज्ञानस्वभाव का प्रतिपादन एवं क्रमबद्धपर्याय का विशद स्पष्टीकरण किया गया है। इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में भगवान आत्मा के अकर्ता, अभोक्ता सर्वविशुद्धज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। सर्वविशुद्ध ज्ञान आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। मंगलाचरण में आत्मा का स्मरण करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि -

“अहा..! जिस धर्मी जीव की दृष्टि अपने स्वयं के अन्दर विराजमान त्रिकाल, शुद्ध, एक चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा पर पहुँच गई है तथा जिसकी दृष्टि में पर्याय में होने वाले दया, दान, व्रत, भक्ति आदि रागादि भावों का कर्ता-भोक्तापन नहीं रहा है, उस धर्मी जीव के कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली प्रत्येक पर्याय में बन्ध-मोक्ष की रचना नहीं होती

1. प्रवचन रत्नाकर-8 (कानजी स्वामी), पृ. 315

और वह सम्पूर्णरूप से ज्ञान-चेतनारस से भरपूर ज्ञानपुंज भगवान आत्मा को प्रगट कर लेता है।¹¹

356 से 365 तक दस गाथाओं में सेटिका अर्थात् खाड़िया का दृष्टान्त देकर निश्चयनय एवं व्यवहार नय के माध्यम से आत्मा के ज्ञायकभाव का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि आत्मा की ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर्यायों का निश्चय-व्यवहार स्वरूप है। आत्मा परद्रव्य को जानता है यह व्यवहार कथन है और आत्मा अपने को जानता है इस कथन में भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है। निश्चय तो यह है कि ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। 366 से 372 तक की गाथाओं से स्पष्ट है कि ज्ञान व ज्ञेय सर्वथा भिन्न हैं। आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि कोई गुण परद्रव्यों में नहीं है। ऐसा जानने के कारण सम्यग्दृष्टि को विषयों के प्रति राग नहीं होता और राग-द्वेषादि जड़ विषयों में भी नहीं होते। वे मात्र अज्ञानदशा में प्रवर्तमान जीव के परिणाम हैं।

अहा ! जीवों को जो राग-द्वेष-मोहादिभाव उत्पन्न होते हैं, वे अपने शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु, आत्मा के ज्ञान के अभाव से अर्थात् अपने अज्ञान में उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष-मोह परद्रव्य से उत्पन्न नहीं होते तथा अपने स्वद्रव्य से भी उत्पन्न नहीं होते; क्योंकि परद्रव्य अपने स्वभाव से भिन्न हैं। अपना स्वभाव परद्रव्य में है ही नहीं तथा अपना स्वद्रव्य तो सदा ही शुद्ध चैतन्यमय वीतरागभावमय है।

यहाँ यह सिद्ध करना है कि परद्रव्य में अपना राग-द्वेष-मोह नहीं और परद्रव्य से वे उत्पन्न नहीं हों - ऐसा भी नहीं है; बल्कि अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप के भान के अभाव में-अज्ञान से राग-द्वेष-मोह के भाव उत्पन्न होते हैं।

अन्त में कानजी स्वामी कहते हैं कि वह पुण्य-पाप आदि विकारी भावों के होने में अपने उल्टे पुरुषार्थ को न मानकर पर को ही कारण

मानता है। यदि अपने विपरीत पुरुषार्थ को कारण माने तो सम्यक् पुरुषार्थ करके उसे मेट सकता है; किन्तु पर के कराने से ही राग-द्वेष होना माने तब पर तो राग-द्वेष कराते ही रहेंगे; उन्हें आत्मा कैसे मेट सकेगा ? इसलिए ऐसा मानना ही सम्यग्ज्ञान है कि राग-द्वेष आदि स्वयं की भूल से होते हैं और अपनी भूल सुधार कर उन्हें मेटा जा सकता है।

समकृति धर्मीजीवों को भी राग-द्वेष अपनी अस्थिरता के अपराध से होते हैं, कर्मोदय से नहीं - ऐसा यथार्थ मानना चाहिए।

प्रवचनरत्नाकर भाग-10

समयसार की 373 से 415 तक की गाथाओं पर हुए कानजीस्वामी के प्रवचनों का अनुवाद 'प्रवचनरत्नाकर भाग-10' में किया गया है। इसमें ज्ञान की विशुद्धता का परिचय एवं ग्रन्थ की पूर्णता पर प्रकाश डाला गया है। 373 से 382 तक की गाथाओं में बताया है कि बाह्य पर-पदार्थ आत्मा को जानने के लिये नहीं बुलाते। पर-पदार्थ आत्मा से यह नहीं कहते कि तुम मुझे जानो। इसका विवेचन कानजी स्वामी ने दीपक के उदाहरण के माध्यम से किया है -

“घड़े, वस्त्र, पुस्तक, लकड़ी आदि बाह्य पदार्थ दीपक से ऐसा नहीं कहते कि 'तू हमें प्रकाशित कर! अरे! प्रकाशित करना तो दीपक का स्वतंत्र स्वभाव है। दीपक को घट-पटादि प्रकाशित करने के लिये घट-पट की पराधीनता भी नहीं है। भले घट-पट हों या न हों, फिर भी दीपक तो अपने स्वभावानुसार बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करता ही है। उसी प्रकार ज्ञान प्रकाश का पुंज आत्मा देहादि पदार्थों को जानने के लिये अपना स्थान छोड़कर वहाँ नहीं जाता तथा वे देहादि पदार्थ आत्मा से यह नहीं कहते कि 'तू हमें जान। अरे भगवान ! तू स्वयं जानने के स्वभाव वाला है।'”

390 से 404 गाथाओं में समझाते हैं कि - “शास्त्रज्ञान नहीं है
1. प्रवचन रत्नाकर -10 (कानजी स्वामी), पृ. 07-08

क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है। वह जड़ है इसलिये ज्ञान अन्य है, शास्त्र अन्य है। इसी तरह शब्द रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श कर्म, धर्म, अधर्म, काल, आकाश आदि भी ज्ञान नहीं है क्योंकि ये कुछ जानते नहीं हैं। इसलिये ज्ञान अन्य है, शब्दरूप आदि पर पदार्थ अन्य हैं। जीव निरन्तर जानता है, इसलिये जीव ज्ञान-स्वरूप है और ज्ञान ज्ञायक से अव्यतिरिक्त है, अभिन्न है, जुदा नहीं है। इस तरह द्रव्य और गुण में अभेदता सिद्ध की गई है।

अन्त में 415 गाथा में शास्त्र को पूर्ण करते हुए इसकी महिमा एवं शास्त्र के अभ्यास का फल बताते हुए कहा है कि - " भाई! यह तो भव का अभाव करने वाला परम हितकारी शास्त्र है। इस भव का मूल मिथ्यात्व है। शास्त्र पढ़कर निज स्वरूप का निर्णय करना मिथ्यात्व का नाश करने का उपाय है। स्व-स्वरूप का निर्णय करना ही इस समयसार शास्त्र का सार है, प्रयोजन है।"¹

प्रवचनरत्नाकर भाग-11

समयसार ग्रन्थ के परिशिष्ट जिसमें आत्मा की 47 शक्तियों, स्याद्वाद अधिकार एवं साध्य-साधक द्वार पर चर्चा की गई है, इस पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचन 'प्रवचनरत्नाकर भाग-11' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह परिशिष्ट दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को सिद्ध करते हुए 14 प्रकार के एकान्तों का निषेध किया है। तदुपरान्त आत्मवस्तु की उछलती हुई अनन्त शक्तियों में से 47 शक्तियों का विशद विवेचन है। दूसरे भाग में उपाय-उपेय भाव का विवेचन किया गया है। प्रथम अधिकार का नाम स्याद्वाद अधिकार है और दूसरे अधिकार का नाम उपाय-उपेयाधिकार (साध्य-साधकद्वार) है। स्याद्वाद अधिकार में दो बातें विशेषरूप से स्पष्ट की गई हैं। पहली बात तो यह है कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से कोई यह न समझ ले कि आत्मा में अकेला

1. प्रवचन रत्नाकर - 10 (कानजी स्वामी), पृ. 241

ज्ञानगुण ही है, अतः वे स्पष्ट करते हैं कि आत्मा अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड है। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनन्तधर्मों वाला है, अनेकान्तात्मक है और इन सब की सिद्धि स्याद्वाद से होती है। कानजी स्वामी ने स्याद्वाद का अर्थ स्पष्ट किया है -

“स्यात् अर्थात् किसी अपेक्षा से और ‘वाद’ अर्थात् कथन करना। किसी अपेक्षा से कथन करने का नाम स्याद्वाद है। अनेकान्तमय वस्तु को अर्थात् अनन्त धर्मात्मक वस्तु को किसी न किसी अपेक्षा से कहने की शैली को स्याद्वाद कहते हैं।”

इसी बात को स्पष्ट करने की भावना से भगवान् आत्मा में विद्यमान अनन्त शक्तियों से चुनकर 47 शक्तियों का भी प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि अनन्त शक्तियों को गिनना तो सम्भव नहीं है। इन शक्तियों में परस्पर प्रदेश भेद नहीं होने पर भी भाव भेद है। यद्यपि एक शक्ति का दूसरी शक्ति में रूप अवश्य है, जिसके कारण ये सभी शक्तियाँ परस्परानुबिद्ध हैं। उक्त सन्दर्भ में कानजी स्वामी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

“आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नहीं होती, मगर एक शक्ति का रूप अन्य अनन्त शक्तियों में है। ज्ञान है, दर्शन है, वीर्य है, ऐसे ही अनन्तगुणों में ‘है’ पना यह अस्तित्वगुण का रूप है। इसीप्रकार अनन्त शक्तियों का परस्पर एक-दूसरे में रूप है।”

दूसरी बात यह है कि अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के लिये आत्मा को पर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सुखी होने का उपाय भी उसमें ही विद्यमान है और सुखी भी वही होगा। तात्पर्य यह है कि उपाय और उपेयभाव के दोनों ही भाव उसमें विद्यमान हैं। उसे पर की सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। इस अधिकार में पर-द्रव्यों की और उनकी विकारी पर्यायों से भी भिन्न शुद्ध निर्मल पर्याय रूप परिणमित मुक्तिमार्गी और मुक्त भगवान् आत्मा का विवेचन है। तथा

द्रव्य-पर्यायात्मक अनेकान्तस्वरूप आत्मवस्तु को स्याद्वाद शैली से स्पष्ट किया गया है। स्याद्वाद अधिकार में वस्तुव्यवस्था का प्रतिपादन करने के उपरान्त उपाय-उपेयभाव का विवेचन है। यद्यपि आत्मवस्तु ज्ञानमात्र ही है तथापि उसमें उपाय-उपेयभाव विद्यमान रहता ही है, क्योंकि एक होने पर भी आत्मा साधकरूप से और साध्यरूप से स्वयं ही परिणमित होता है।

कानजी स्वामी इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार करते हैं कि -

“देखो ! यहाँ कहते हैं कि यद्यपि भगवान आत्मा त्रिकाल एक ज्ञायक स्वरूप, ज्ञान का पिण्ड, प्रज्ञा-ब्रह्मस्वरूप प्रभु है, तथापि उसकी पर्याय में उपाय-उपेयभाव तो है ही। वस्तु-स्वरूप से आत्मा नित्य ज्ञानमात्र होते हुए भी इसकी पर्याय में साधकपना-मोक्षमार्ग एवं सिद्धपना ऐसे दो भाव हैं ही क्योंकि द्रव्यरूप एक होते हुए भी पर्यायरूप से स्वयं साधकरूप और सिद्धरूप ऐसे दोनों से क्रम से परिणमता है। इसमें साधकरूप परिणमन उपाय है और सिद्धरूप परिणमन उपेय है।”

इसप्रकार समयसार की 415 गाथाओं व 278 कलश तथा उसके परिशिष्ट पर हुए कानजी स्वामी के सम्पूर्ण प्रवचनों का प्रारम्भ में गुजराती भाषा में संकलन किया, तत्पश्चात् हिन्दी में ‘प्रवचनरत्नाकर 1 से 11 भागों’ में अनुवाद किया गया। बाद में इनका अनुशीलन डॉ. हुकमचन्द भारिछ द्वारा ‘समयसार अनुशीलन’ के नाम से 5 भागों में प्रकाशित हुआ है।

16. भेदविज्ञानसार

समयसार की गाथा 390 से 404 पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचन ‘भेदविज्ञानसार’ में प्रकाशित हैं। यह कृति अपने नाम के अनुरूप भेदविज्ञान का उपाय बतलाती है। उसका हिन्दी अनुवाद मगनलाल जैन ने किया।

भेदविज्ञान का अपरम्पार माहात्म्य है और वह अपूर्व है। अनन्तकाल

से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने शास्त्रज्ञान-व्रत-तप-त्याग आदि सब कुछ किया है, किन्तु भेदविज्ञान कभी एक क्षणमात्र भी नहीं किया। कानजीस्वामी ने कहा है कि यदि जीव एक क्षणमात्र भी स्व-पर का भेद-विज्ञान करे तो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। एक क्षणमात्र का भेदविज्ञान अनन्त जन्म-मरण का नाश करता है।

कानजी स्वामी ने भेदज्ञान की प्रेरणा देते हुए कहा है कि “आत्मा के ज्ञान स्वभाव को समस्त पर से भिन्न देखना चाहिये। पूर्णज्ञान स्वभाव है वह मैं हूँ, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भाव मैं नहीं हूँ – ऐसा बार-बार जानकर परोन्मुख होते हुए अपने ज्ञान को स्वभावोन्मुख करके शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिये। मैं चिदानन्द स्वरूप हूँ, रागादि कोई भी भाव मेरे नहीं है। परद्रव्यों में अथवा परद्रव्यों के आश्रित मेरा ज्ञान नहीं है – इसप्रकार पर से भिन्नत्व जानकर वहाँ से ज्ञान हटाकर, आत्मस्वभाव के आश्रय से ज्ञान को एकाग्र करके अनुभव करना।”¹ भेदविज्ञान ही इस जगत में सारभूत है।

17. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन भाग 1 से 4

पं. टोडरमल द्वारा लिखित ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ पर कानजी स्वामी ने प्रवचन किये। जो ‘मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन’ चार भागों में संकलित किये गये हैं। उनके द्वारा दिये गये प्रवचन सोनगढ़ से निकलने वाले ‘सद्गुरु प्रवचन प्रसाद’ में नियमित प्रकाशित होते थे। जिन्हें श्री अमृतभाई नरसीलाल एवं खीमचन्दभाई जे. सेठ लिखकर सम्पादित करते थे। इन गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद पं. देवेन्द्रकुमार बिजौलियाँ ने किया।

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन भाग-1

‘मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन भाग-1’ में कानजी स्वामी द्वारा ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ के पहले से चौथे अध्याय पर हुए प्रवचन समाहित हैं। इस भाग में कानजी स्वामी के सन् 1952 एवं 1954 के प्रवचनों के

1. भेदविज्ञानसार (कानजी स्वामी), पृ. 197

महत्त्वपूर्ण अंशों को अनुवादित किया गया है। पहले अधिकार में पीठबन्ध प्ररूपण के अन्तर्गत पंचपरमेष्ठियों का स्वरूप, अरहन्तादिक से प्रयोजन सिद्धि, वक्ता-श्रोता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की सार्थकता बताई गई है।

“जैसे अन्धे को प्रकाश होने पर भी मार्ग नहीं सूझता। इससे दीपक के मार्ग को प्रगट करने के स्वभाव का अभाव नहीं हुआ। वैसे ही वीतराग की वाणी में मोक्षमार्ग प्रगट करने पर जो मनुष्य ज्ञानरहित, विपरीत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान, विपरीत आग्रह सहित हैं; यथार्थ बात आवे वहाँ कहते हैं कि ‘अकेले निश्चय की बात करते हैं, व्यवहार की बात तो कहते ही नहीं’ – ऐसे विपरीत आग्रह के कारण उन्हें मोक्षमार्ग नहीं सूझता। परन्तु इससे भगवान की वाणी व वीतरागी ग्रन्थों का मोक्षमार्ग को प्रगट करने के स्वभाव का अभाव नहीं होता। इसप्रकार इस ग्रन्थ का ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ नाम सार्थक जानना।”¹

दूसरे अधिकार में संसार अवस्था का स्वरूप जिसमें कर्म-बन्धन का निदान, नवीन बन्ध विचार एवं कर्मबन्धनरूप रोग के निमित्त से होने वाली जीव की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि –

“अज्ञानी जीव अनादि से दुःखी हो रहा है। अज्ञानी को जैसी श्रद्धा है, वैसा पदार्थों का स्वरूप नहीं होता और जैसा पदार्थों का स्वरूप होता है, वैसा वह नहीं मानता। विपरीत रुचि और विपरीत अभिप्राय संसार का कारण है।²

तीसरे अधिकार में संसार दुःख तथा मोक्षसुख का निरूपण किया गया है –

“संसार में दुःख और सिद्धदशा में सुख है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं कि – “दुःख का लक्षण तो आकुलता है।

1. मोक्षमार्गप्रकाशक-1 (कानजी स्वामी), पृ. 92

2. मोक्षमार्गप्रकाशक-1, पृष्ठ 242

आकुलता तो इच्छा से होती है। सिद्ध भगवान के इच्छा भी नहीं है और इच्छा के कारण भी नहीं रहे – इससे वे सर्व दुःखरहित निराकुल अनन्त सुख को अनुभवते हैं। सुख का लक्षण निराकुलपना ही है। संसार में भी किसीप्रकार निराकुल होने पर ही सुख मानते हैं, तो जहाँ सम्पूर्ण निराकुलता हुई वहाँ सम्पूर्ण सुख कैसे नहीं माने ? इसप्रकार सम्यग्दर्शन आदि के साधन से सिद्धपद पाने पर सर्वदुःखों का अभाव होता है और सर्व दुःख प्रगट होता है।⁴⁵

तथा चौथे अधिकार में मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है – ‘‘.....इसप्रकार यह जीव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन – ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो रहा है। इसी परिणमन से अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न कराने वाले कर्मों का सम्बन्ध होता है। ये ही भाव सर्व दुःख के बीज हैं। विपरीत मान्यता और ज्ञानसहित राग-द्वेष ही दुःख के बीज हैं, अन्य कोई नहीं। विपरीत श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि विकल्पों का अभाव करके जीव दुःख से मुक्त हो सकता है।’⁴⁶

मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन भाग-2

‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ के पाँचवें एवं छठवें अधिकार पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचन ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन भाग-2’ में उपलब्ध हैं। इस भाग में पाँचवें अधिकार पर सन् 1952 एवं छठवें अधिकार पर 1954 में हुए प्रवचनों का अनुवाद है। पाँचवें अधिकार में विविधमत समीक्षा के अन्तर्गत वेदान्त, बौद्ध, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि जैनमत के अनुसरण करने वाले नहीं हैं, साथ ही जैनधर्म की समीचीनता एवं प्राचीनता को स्पष्ट किया गया है। अन्यमत के ग्रन्थों की साक्षी से भी जिनमत की उत्तमता बताई है। इसलिये जो अपने हित का इच्छुक हो, वह पक्षपात छोड़कर सच्चे जैनधर्म को अंगीकार करो।

45. मोक्षमार्गप्रकाशक-1, पृष्ठ 333

46. मोक्षमार्गप्रकाशक-1 (कानजी स्वामी), सं.पं. देवेन्द्रकुमार बिजौलियाँ, पृ. 436

छठवें अधिकार में कुगुरु-कुदेव-कुधर्म का प्रतिषेध करते हुए कानजी स्वामी ने प्रवचन में कहा कि -

“जो किसी प्रकार हित के कारण नहीं है, उन्हें भ्रम से हितकारी जानकर सेवन करना देव मूढता है-कुदेव का सेवन है। उनके सेवन से पुण्य का नाश होता है। सम्यग्मिथ्यात्वरूपी पाप की पुष्टि होती है। अनन्तसंसाररूपी दुःख की परम्परा चालू रहती है।”

“अज्ञानी जो कुछ जानता है, मानता है, वह विपरीतरूप ही जानता-मानता है। सुख की प्राप्ति और दुःख के नाश के लिए अन्यमत में माने गये देवों का सेवन करता है।”

“सर्वज्ञ वीतरागदेव को उनके सत्य-स्वरूप को न पहिचानकर उनकी विनय, भक्ति, पूजा करे तो वह शुभराग है, पुण्य है, धर्म नहीं और जो व्यंतरादि की पूजा करे, मान्यता माने उसको किसी न किसी प्रकार की आशा होती ही है। इससे पाप ही होता है। देव को नैवेद्य, लाडू चढ़ावे और कभी कोई व्यंतरदेव आकर चमत्कार बतावे, परन्तु इससे क्या ? कौतूहल मात्र है।” - इसप्रकार व्यंतरादि के पूजने का निषेध किया।

कुधर्म का स्वरूप इसप्रकार बताया गया है - “आत्मा के परिणाम में जो हिंसा के परिणाम होवें वे कषाय हैं। भगवान की भक्ति के दया के परिणाम तथा एकेन्द्रिय आदि को मारने के हिंसा के भाव होवें - वह कषाय है। तीव्र कषाय के परिणामों में पुण्य धर्म मानना कुधर्म है।”

मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन भाग-3

ये प्रवचन सन् 1953 में दिये गये थे। इन प्रवचनों के साथ-साथ उसके कुछ समय पश्चात् दो क्षुल्लकजी महाराज के अनुरोध पर हुए प्रवचनों के मुख्य अंश भी सम्मिलित किये गये हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के सातवें अधिकार पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचन ‘मोक्षमार्ग

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक-2 (कानजी स्वामी), सं.पं. देवेन्द्रकुमार बिजौलियाँ, पृ. 197

2. मोक्षमार्ग प्रकाशक-2, पृष्ठ 258

प्रकाशक प्रवचन भाग-3' में प्रकाशित किये गये हैं। इस अधिकार में बताया गया है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्में और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की मान्यता वाले जीव भी मिथ्यादृष्टि किस प्रकार हैं? यह बात स्पष्ट करते हैं तथा जो जीव वीतराग प्रतिमा को पूजते हैं, नग्न मुनि को मानते हैं, उनके द्वारा कहे हुये शास्त्रों को मानते हैं, ऐसे जैन मतानुयायी ही मिथ्यादृष्टि किसप्रकार हो सकते हैं ? इस अधिकार में कानजी स्वामी ने जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन करते हुए कहा है कि -

“ ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों का स्वरूप कहते हैं - कोई जीव निश्चय को नहीं जानकर मात्र निश्चयाभास के श्रद्धानी बनकर अपने को मोक्षमार्गी मानते हैं, वे निश्चय के स्वरूप को नहीं जानते। वे ‘हमको मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है’ - ऐसा मानते हैं। वे अपनी आत्मा को सिद्ध समान अनुभवते हैं। परन्तु स्वयं प्रत्यक्ष संसारी होने पर भी भ्रम से अपने को वर्तमान में सिद्ध समान मान रहे हैं, वही मिथ्यादृष्टि निश्चयाभासी हैं। जो जैन कुल में जन्म लेकर, समयसारादि शास्त्र पढ़कर भी अपनी कल्पना से पर्याय में होने वाले विकार को नहीं मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं।”¹

निश्चयाभासी जीवों की पाँच प्रकार की भूलों को बताया गया है- “मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ। केवलज्ञानादि सहित हूँ। द्रव्यकर्म-नोकर्म रहित हूँ। परमानन्दमयी हूँ। जन्ममरणादि दुःख मेरे नहीं है।”² आत्मा के वर्तमान शुद्ध अनुभव नहीं होने पर भी भ्रम से ऐसा मानता है शुद्ध अनुभव के अभ्यास के लिये ऐसा चिन्तन करता है और भूल करता रहता है।

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि को भी परिभाषित करते हुए कहा है कि “जब जीव पर का लक्ष्य छोड़कर ज्ञायक स्वभाव का लक्ष्य करता है तब मिथ्यादर्शन का व्यय होकर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। जिसको ऐसा भान नहीं है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।”³ जो कषाय की मंदता से

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक-3 (कानजी स्वामी), पृ. 03

2. वही, पृ. 48

3. वही, पृ. 153

धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। जो व्यवहार से संतुष्ट है और कषाय मंदता से धर्म मानता है व मैं ज्ञायक हूँ, पुण्य रहित हूँ, ऐसी निश्चयदृष्टि नहीं करता और न उसका उद्यमी होता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन भाग-4

मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के आठवें एवं नौवें अधिकार पर दो बार प्रवचन हुए। आठवें अधिकार में चार अनुयोगों की कथन-पद्धति आदि का भाववाही विवेचन तथा नौवें अधिकार में सम्यग्दर्शन को मिथ्यात्व के अभाव की रामबाण औषधि¹ बताया है। कानजी स्वामी के प्रवचनों में उसका विशद स्पष्टीकरण चिरकालीन मिथ्यात्व के बज्र लेप को क्षणभर में विसर्जित कर सम्यक् दिशा व दृष्टि प्रदान करता है। जैनमत में चारों अनुयोगों के समस्त शास्त्र का तात्पर्य जीव को मोक्षमार्ग बतलाने का है-

1. प्रथमानुयोग में तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, आदि महापुरुषों के चरित्र का कथन करके उसमें भी जीवों को मोक्षमार्ग बतलाने का ही आशय है।

2. चरणानुयोग में गृहस्थों तथा मुनियों के धर्माचरण का कथन है।

3. करणानुयोग में गुणस्थान मार्गणास्थान आदि जीव का, कर्मों का तथा त्रिलोकादि का निरूपण है।

4. द्रव्यानुयोग में जीवादि छह द्रव्यों का, सात तत्त्वों का, स्व-पर भेद-ज्ञानादि का वर्णन है। द्रव्य-गुण-पर्याय, निर्विकल्प दशा आदि का वर्णन द्रव्यानुयोग में होता है। चौथे गुणस्थान में भी निर्विकल्प अनुभव दशा होती है। द्रव्यानुयोग में मोक्षमार्ग का प्रधान रूप से उपदेश है।

इसीतरह नौवें अधिकार में सम्यग्दर्शन का भाववाही विवेचन करके सम्यग्दर्शन को मिथ्यात्व के अभाव की रामबाण औषधि बताया गया है

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक-4 (कानजी स्वामी), पृ. 230

– “सात तत्त्वों को ज्यों का त्यों जानकर श्रद्धा करना तत्त्वार्थश्रद्धान है और वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है। बन्ध तत्त्व से धर्म मानने वालों ने बन्ध तत्त्व का भाग छीन लिया है। उसको सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा नहीं है। भगवान ने जीवादि सात तत्त्वों को जिसप्रकार से स्वतंत्र कहा है, उसीप्रकार पहिचान कर ‘यह तत्त्व ऐसे ही हैं, अन्य प्रकार नहीं।’ ऐसी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

18. मूल में भूल

भैया भगवतीदास की कृति ‘ब्रह्मविलास’ और पं. बनारसीदास की ‘बनारसी विलास’ में समागत दोहों पर कानजी स्वामी के जो प्रवचन हुए वह ‘मूल में भूल’ नामक पुस्तक में उपलब्ध है। इसमें कारण-कार्य के सम्बन्ध में निमित्तोपादान संवाद का विवेचन इसकी मूल विषय-वस्तु है।

उपादान निमित्त का यथार्थ ज्ञान करने में जगत के जीवों की गंभीर भूल हो रही है। जब तक जीव उस भूल को नहीं मिटाता है तब तक उसका कल्याण नहीं होता। अनादिकाल से उपादान-निमित्त का झगड़ा चला आ रहा है। उपादान कहता है कि – दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुणों की सावधानी से आत्मा का कल्याणरूपी कार्य होता है। निमित्त कहता है कि शरीरादि की क्रिया करने से अथवा देव-शास्त्र-गुरु और शुभभाव से आत्मा का कल्याण होता है। इस प्रकार दोनों का समाधान वीतराग शासन में सच्चे ज्ञान के द्वारा होता है।

देव-शास्त्र-गुरु मुझसे भिन्न हैं, पाप-पुण्य के भाव भी मैं नहीं हूँ, मैं ज्ञानादि अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ, इसप्रकार अपनी शक्ति की संभाल करता है सो उपादान और उपादान कारण है। यहाँ उपादान और उपादान कारण का भेद बताया है। उपादान त्रिकाली द्रव्य है और उपादान कारण पर्याय है। जो जीव उपादान शक्ति की संभाल कर उपादान कारण को करता है, उसके मुक्तिरूपी कार्य अवश्य प्रगट होता है।

इस सम्बन्ध में कानजी स्वामी ने 42 वें दोहे में कहा है कि “उपादान

शक्ति और निमित्त तो सभी जीवों के होता है, किन्तु जो वीर है वह निजशक्ति को संभाल लेता है और भवसागर को पार करता है।¹¹

आत्मा में शक्ति तो बहुत कुछ है, किन्तु जब स्वयं उस शक्ति की संभाल करे तब श्रद्धा-ज्ञान की स्थिरतारूप मुक्ति का उपाय हो। किन्तु अपनी शक्ति की संभाल किये बिना ही मुक्ति का उपाय नहीं हो सकता। यही बताने के लिए इस संवाद में उपादान और निमित्त की एक-दूसरे के विरुद्ध युक्तियाँ दी गई हैं और सर्वज्ञ भगवान का अन्तिम निर्णय भी दिया गया है।

इसलिये निमित्त का और निमित्त की अपेक्षा से होने वाले भेदों का लक्ष्य छोड़कर मात्र अभेद उपादान को लक्ष्य में लेना ही सम्यग्दर्शन और मोक्ष का उपाय है इसलिये उपादान स्वभाव की ओर ढलना चाहिये।¹²

19. योगसार प्रवचन

योगीन्दुदेव द्वारा रचित योगसार ग्रन्थ पर कानजी स्वामी के प्रवचन गुजराती भाषा में “हूँ परमात्मा हूँ” नाम से प्रकाशित है। इसके बाद हिन्दी अनुवाद ब्र. विमला बहिन जयपुर ने किया जो ‘योगसार प्रवचन’ के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस ग्रन्थ में समयसार के समान शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार, एक ज्ञायकस्वभावी निज भगवान आत्मा के ही गीत गाये गये हैं और उसमें ही जमने-रमने की पावन प्रेरणा दी गई है।

प्रारम्भ में योगसार ग्रन्थ का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि – निज शुद्ध आत्म स्वरूप में योग-जुड़ान करके, सार अर्थात् आत्मा की निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-और रमणता करना ही योगसार है। योगसार तो पर्याय है परन्तु उसका विषय त्रिकाली ध्रुव, शाश्वत, शुद्ध, सत् आत्मा है।¹³

सम्पूर्ण ग्रन्थ में आद्योपान्त देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा की आराधना की बात कही गई है। उनका कहना है कि यदि भगवान

1. मूल में भूल (कानजी स्वामी), पृ. 03

2. वही, पृ. 130

आत्मा की खोज करनी है तो देहदेवल में करो, तन मंदिर में करो, अन्यत्र करने से कोई लाभ होने वाला नहीं है उक्त सन्दर्भ में कानजी स्वामी का कथन है इसप्रकार है -

“ देहदेवल में विराजमान देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा को जानना-पहिचानना ही धर्म है। निज भगवान आत्मा को जाने-पहिचाने बिना कितना ही तप-त्याग करो, कितना ही व्रत-शील-संयम धारण करो; कुछ भी होने वाला नहीं है यदि आत्मकल्याण करना है तो अपनी पूरी शक्ति निज भगवान आत्मा के जानने-पहिचानने में ही लगाओ, अन्यत्र उपयोग भटकाना कुछ भी कार्यकारी नहीं।”¹

निज भगवान आत्मा की आराधना पर इतना अधिक बल देने का कारण यह तो है ही कि वही एकमात्र मुक्ति का मार्ग है, दूसरा कारण यह भी है कि इस जगत में ऐसे बहुत विरल हैं जो निज आत्मा को जानते हैं, आत्मा को जानने की बात ध्यान से सुनते भी हैं, निज आत्मा का ध्यान करनेवालों की विरलता तो और भी अधिक है - गाथा 66 में कानजी स्वामी ने स्वयं ही इसे अपने शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है - “ आत्मज्ञान प्राप्त होना बहुत कठिन है, इसलिए अति अल्प जीव ही आत्मज्ञान का लाभ पा सकते हैं। आत्मतत्त्व की बात कहने वाले तो दुर्लभ हैं, परन्तु उसे सुनने वाले भी दुर्लभ ही हैं। जिसे निमित्त की, व्यवहार की और रागादि की बात रुचती है, उसे आत्मस्वभाव की बात नहीं रुचती।

ध्यान करने वाले जीव जगत में दुर्लभ हैं। राग सहित वीतराग आत्मा की वीतरागी परिणति प्रगट करके उसकी धारणा करना महादुर्लभ है। इस धारणा को स्मृति में लेकर बारंबार अनुभव करने वाले जीव बहुत ही विरले हैं। दिव्यध्वनि में आई हुई यह बात है।²

1. योगसार प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 02

2. वही, पृ. 111

कानजी स्वामी ने इस गन्थ की 108 नं. की अन्तिम गाथा पर अपने भाव व्यक्त किये हैं -

“जिसे चार गतिरूप संसार का भय लगा हो उसके लिये यह रचना है। हे आत्मन् ! तू परमानन्द की मूर्ति है, उसी में स्थिर हो, दृष्टि और ज्ञान तो हुआ है, परन्तु अब उसी में पूर्णरूप से स्थिर हो ऐसे सम्बोधन के लिये यह शास्त्र रचा है।”¹

20. वचनामृत प्रवचन भाग 1 से 3

‘बहिनश्री के वचनामृत’ यह चम्पाबेन की चर्चाओं में से चुने हुए बोलों का संग्रह है, जिसपर कानजी स्वामी ने सन् 1978 में प्रवचन किये जो वचनामृत भाग-1 से 4 भागों में विभक्त है। जिसका गुजराती संकलन ब्र. चन्दुभाई खीमचन्द झोबालिया द्वारा किया गया। वचनामृत प्रवचन भाग 1 से 3 का हिन्दी अनुवाद श्री मगनलाल द्वारा किया गया है।

वचनामृत प्रवचन भाग-1

इसमें वचनामृत नं. 1 से 125 तक कानजी स्वामी ने प्रवचन किये हैं। वचनामृत नं. 28 में कहा है कि भविष्य का चित्रण कैसा करना है - वह तेरे हाथ की बात है, इसलिये कहा है कि -

“बन्ध समय जीव चेतो रे!, उदय समय क्या चिन्त।”²

इस पर कानजी स्वामी ने प्रवचन करते हुए कहा है कि उदय के काल में कैसी चिन्ता ? बन्ध के समय, भाव करते समय, चेतो ना ! फिर तो जो बन्ध हुआ उसका उदय आयेगा सो आयेगा। उस बन्ध के काल में चेतना अर्थात् स्वोन्मुख होकर दर्शन, ज्ञान और चारित्र की दशा प्रगट करना। बन्ध के समय चेतना कि जिससे उसके फलरूप उदय में चिन्ता न हो। फिर तो उसका जो फल आना है वह आयेगा। भविष्य का वह चित्रण अपने हाथ में है.....ऐसा कहते हैं।

1. योगसार प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 218

2. वचनामृत प्रवचन-1 (कानजी स्वामी), पृ. 179

वचनामृत नं. 70 पर प्रवचन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि - बड़ी सरल भाषा ! सब कुछ आत्मा में है अर्थात् जो भी ज्ञान, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता, चैतन्य आदि किसी गुण की या पर्याय की जो तुझे महानता लगती है वह सब आत्मा में है। हाँ, आत्मा का जो कुछ भी है वह आत्मा में है, उसकी पहले श्रद्धा कर ! आत्मा का वीर्य स्थिर हो जाये ऐसी श्रद्धा कर ले।

क्या कहते हैं ? कि - अपना आत्मा ज्ञानस्वरूप है और पर को जाने वह कोई उपाधि नहीं है। 'पर का मैं करता हूँ और पर से मुझमें होता है' ऐसा विपरीत अभिप्राय वह मिथ्यात्व की उपाधि है, परन्तु पर-पदार्थ को जानना वह उपाधि नहीं है। जानना तो तेरा स्वभाव है। जिसप्रकार अपने को जानने का स्वभाव उसीप्रकार पर को भी जाने - ऐसा अपना स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। जिसप्रकार परपदार्थ में राग करने से हानि है, उसीप्रकार उसे जानने में भी हानि है - ऐसा नहीं है। अहा ! ऐसा कैसा उपदेश है।''

वचनामृत प्रवचन भाग-2

वचनामृत 126 से 231 तक हुए प्रवचन 'वचनामृत प्रवचन भाग-2' में संकलित हैं। वचनामृत 160 पर हुए प्रवचन का भाव इसप्रकार है -

जिसप्रकार कमल कीचड़ और पानी से पृथक् रहता है उसी प्रकार तेरा द्रव्य कर्म के बीच रहते हुए भी कर्म से भिन्न ही है।

''कमल कीचड़ और जल के बीच रहते हुए भी उससे भिन्न ही है; उसी प्रकार यह पूर्णानन्दघन चैतन्य प्रभु आत्मा जड़कर्म तथा कर्म के निमित्त से होते शुभाशुभ चिद्विकार उन दोनों से भिन्न ही है।''

आगे 171 वे बोल पर प्रवचन करते हुए कानजी स्वामी ने स्पष्ट किया है कि -

एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकतीं।

क्या कहा ? कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। यह तो दृष्टान्त है उसीप्रकार -

‘चैतन्य की महिमा और संसार की महिमा दो एक साथ नहीं रह सकतीं।’

“अन्तर में भगवान आत्मा जो कि अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय शान्ति एवं आनन्द का सागर है, उसकी महिमा और रागादि विकल्परूप संसार की महिमा-यह दोनों एक साथ नहीं रह सकतीं। जिसे शुभाशुभ राग की तथा उसके कर्तृत्व की महिमा है उसे आनन्द का नाथ एवं विश्व का उदासीन साक्षी ऐसे निज चैतन्यप्रभु की महिमा नहीं है। जिसमें पर का करना-भोगना कुछ है नहीं, मात्र भीतर स्वरूप में स्थित रहना है ऐसे चारित्रवन्त शान्त-शान्त अकषाय स्वभावी निज चैतन्य की महिमा और रागादि संसार की महिमा एक साथ नहीं रह सकतीं।”¹

वचनमृत प्रवचन भाग-3

वचनमृत 232 से 354 तक हुए प्रवचनों का सार वचनमृत प्रवचन भाग-3 में समाहित हैं। इसमें कानजी स्वामी ने गहन रहस्यों का उद्घाटन किया है। 308 वें बोल में कहा है कि - जिसप्रकार स्वर्ण में जंग नहीं लगती, अग्नि को दीमक नहीं लगती। उसीप्रकार ज्ञायक स्वभाव में आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं लगती।

कानजी स्वामी ने 275वें बोल के प्रवचनों में कहा है कि “पंचमकाल है, इसलिए बाहर फेरफार होता है, जिसे आत्मा का कल्याण करना है, उसे काल कहीं बाधक-साधक नहीं है। चौथे काल में भगवान के समवशरण में भी जिसने सम्यग्दर्शन नहीं किया। वह यहाँ पंचमकाल में हो सकता है। अरे ! नरक के नारकी भी सम्यग्दर्शन कर सकते हैं। बाहरी काल या कोई वस्तु भीतर आत्मा का कार्य करने में बाधक नहीं होती।”

1. वचनमृत प्रवचन-2 (कानजी स्वामी), पृ. 141

276वें बोल पर प्रवचन करते हुए कहा है कि - भेदविज्ञान का अभ्यास करना ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। "राग से भिन्न होने का अभ्यास अन्तर में करते रहना, यही इस मनुष्य जीवन का महान कर्तव्य है, यदि भेदज्ञान का अभ्यास नहीं किया तो यह दुर्लभ मनुष्यभव व्यर्थ चला जायेगा। राग से तू पृथक् है, ऐसा अन्तर में भेदज्ञान का अभ्यास रखना, उसी में तेरे मनुष्य जीवन की सार्थकता है।"¹

21. वस्तु विज्ञानसार

कार्तिकेय स्वामी द्वारा रचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 321-322-323 पर कानजी स्वामी ने वीर नि. सं. 2471 में प्रवचन किये जो 'वस्तुविज्ञानसार' में ब्र. हरिलाल जैन ने संकलित किये। इसमें कानजी स्वामी द्वारा समझाये गये महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को बीस विषयों के माध्यम से स्पष्टीकरण किया गया है -

सम्यग्दृष्टि की भावना, सर्वज्ञ के निर्णय में पुरुषार्थ, सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा का फल। द्रव्य-दृष्टि, जड़ व चेतन पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय, उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, सम्यग्दर्शन, कर्तृत्व और ज्ञातृत्व, साधक दशा का स्वरूप, कर्म में उदीरणा इत्यादि प्रकार, मुक्ति की निःसन्देह प्रतिध्वनि, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की मान्यता में अन्तर, अनेकान्त और एकान्त, पाँच समवाय, अस्ति-नास्ति, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, निश्चय-व्यवहार, सर्वज्ञ और आत्मज्ञ, निमित्त की उपस्थिति रहने पर भी कार्य का होना।

सर्वज्ञ के निर्णय में इन सबका निर्णय आ गया है। इसमें अनेक तरह से बारम्बार पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता सिद्ध की है और आत्मा की पहिचान करायी है। जिज्ञासुजन इन प्रवचनों के रहस्य को समझकर सर्वज्ञ का निर्णय कर ज्ञानस्वभावी आत्मा के सन्मुख होकर मोक्ष का सत्य पुरुषार्थ प्रगट कर सकते हैं।

1. वचनमृत प्रवचन-3 (कानजी स्वामी), पृ. 112

321 से 323 गाथा तक की गाथा में कानजी स्वामी ने जैनधर्म का गूढ़ रहस्य खोल दिया है। “जिनेन्द्रदेव के द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप जिसप्रकार है उसी प्रकार स्वयं चिन्तन करता है। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है; यह कोई कल्पना नहीं है, यह धर्म की बात है। जिस काल में जो होने वाली अवस्था सर्वज्ञ भगवान ने देखी है, उस काल में वही अवस्था होती है दूसरी नहीं होती। इस निर्णय में एकान्तवाद या नियतवाद नहीं है, किन्तु सर्वज्ञ की प्रतीतिपूर्वक सच्चा अनेकान्तवाद और ज्ञानस्वभाव की भावना तथा ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ निहित है।”

22. समाधितन्त्र प्रवचन

पूज्यपादाचार्य द्वारा रचित ‘समाधितन्त्र’ ग्रन्थ पर कानजी स्वामी ने गुजराती भाषा में मार्मिक प्रवचन किये हैं। ब्र. हरिलाल द्वारा गुजराती में संकलित इन प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद पं. रतनचन्द भारिल्ल द्वारा किया गया। इसमें श्लोकों का अन्वयार्थ और भावार्थ भी शामिल किया गया है। इस ग्रन्थ में मुख्यरूप से आत्मा की तीन प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। समाधितन्त्र में कानजी स्वामी ने बताया है कि – “समाधितन्त्र चैतन्य स्वरूप में एकाग्रता द्वारा परम उदासीनता के उपदेश का ही दूसरा नाम है। इसमें अनेक प्रकार के दृष्टान्तों से स्पष्ट करके देह व आत्मा की भिन्नता बताई है। उसे जानकर देह में अपनेपन की मान्यता छोड़कर अपने परमोत्कृष्ट आत्मस्वरूप में जो स्थिर होता है वह परम सुख का अनुभव करता है।”

श्लोक नं. 78 में बताया गया है कि “जो व्यवहार में सोता है अर्थात् व्यवहार में रुचि नहीं लेता, वह आत्मा की शोध-खोज में जाग्रत रहता है। आत्मा की उपेक्षा नहीं करता तथा जो व्यवहार में जाग्रत रहता है, रुचिवन्त है, सजग है, वह आत्मा के प्रति रुचिवान नहीं होता, वह

आत्मा की उपेक्षा करता है। आत्मा को जानने-पहिचानने पर उसे उपलब्ध कराने में उद्यमवन्त नहीं होता।¹¹

इस ग्रन्थ के अन्त में चार प्रकार की बुद्धि को समस्त दुःख की जननी बताते हुए कानजी स्वामी ने मार्मिक प्रवचन किये हैं -

“उस बुद्धि को समस्त दुःखों की जननी बताया है जो अपने शरीरादि को स्वात्मा तथा पर के शरीरादि को परमात्मा समझती है - ऐसी दुःखमूलक बुद्धि का परित्याग कर परमात्मा में निष्ठावान होता है वह संसार के बन्धनों से छूटता हुआ केवलज्ञानमय परम सुख को प्राप्त होता है। यह सब जानकर स्व-पर में एकत्व बुद्धि को छोड़ें तथा उत्कृष्ट आत्म स्वरूप में स्थिर हों। देह में आत्मबुद्धि एवं आत्मा में देहबुद्धि ऐसी जो स्व-पर में एकत्व बुद्धि है, वह संसार में दुःख की जननी है। मिथ्याबुद्धि ही संसार में मूल है। उस मिथ्याबुद्धि का त्याग करके देह से भिन्न आत्मा को जानकर उसमें जो स्थिर होता है वह अन्तरात्मा इस संसार के जन्म-मरण से मुक्त होकर परम केवलज्ञान ज्योतिमय सुख को प्राप्त करते हैं।¹²

उपसंहार के रूप में कानजी स्वामी ने ग्रन्थ वांचने के उत्तम फल को स्पष्ट किया है -

“यही आत्मानुभव शास्त्र पढ़ने का फल है। जिसने ऐसा पुरुषार्थ किया है उसने ही वस्तुतः शास्त्र स्वाध्याय का फल प्राप्त किया है। अपना भाव या स्वरूप प्रगट किये बिना मात्र पढ़ लेने से शास्त्र का यथार्थ फल प्राप्त नहीं होता। शास्त्रज्ञान का फल तो परम वीतरागता एवं सुख है।”

23. प्रवचन नवनीत-1

कानजी स्वामी ने आध्यात्मिक जीवनकाल में जिन मूल बिन्दुओं का स्पष्टीकरण किया है उस पर उन्होंने 137 विशेष प्रवचन सन 1978-

1. समाधितंत्र प्रवचन - 388

2. वस्तु विज्ञानसार (कानजी स्वामी), पृ. 324

1979 में किये हैं। जिनको उन्हीं की भावना के अनुसार 'प्रवचन नवनीत' गुजराती भाषा में चार भागों में प्रकाशित किया गया है। हिन्दी अनुवाद प्रवचन नवनीत भाग-1 के नाम से डॉ. पूर्णिमा बहिन भाटिया द्वारा किया गया है। समयसार गाथा 49 के अव्यक्त के बोल पर, समयसार गाथा 306 से 308 आत्मभावना (जयसेनाचार्य की टीका) पर, श्रीमद् राजचन्द्र बोधवचन 108 से 117, समयसार की गाथा 308 से 311 (क्रमबद्ध पर्याय), समयसार गाथा 320 (जयसेनाचार्य टीका) इस तरह कुल 31 प्रवचनों को भाग-1 में समाहित किया गया है।

क्रमबद्ध के सम्बन्ध में प्रवचन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि - "क्रमबद्ध एक के बाद एक पर्याय जब होगी, तो है तो ऐसा ही। जीव में पर्याय क्रमानुसार क्रमवर्ती कहा है। यहाँ 'क्रमनियमित-क्रमबद्ध' कहा है। जिस जीव की जिस समय जो पर्याय होने वाली है वह क्रमबद्ध यानि क्रम में आने वाली है। वह आती है। तथा उस पर्याय का स्वकाल ही वह है, जन्मक्षण वह है, जीव में जिस समय जो पर्याय होने योग्य, आगे पीछे कोई नहीं, यह क्रमबद्ध है।"

320 गाथा में त्रिकाल ध्रुव आत्मस्वभाव कैसा है ? यह बताते हुए कहा है कि -

"प्रभु! त्रिकाली ज्ञायकभावध्रुव है, जो परमस्वभाव है, जो शुद्ध उपादानभूत है, जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है, वह बन्ध-मोक्ष के कारण से रहित है तथा बन्ध व मोक्ष के परिणाम से रहित है। मोक्ष के परिणाम-केवलज्ञानादि, बन्ध के परिणाम-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये (वस्तु में नहीं है)।

योग है वह परिणाम है। वह बन्ध का कारण है और बन्ध-परिणाम ही वास्तविक योग है, वह कम्पन, वस्तु में नहीं है। योग का कम्पन है, वह बन्ध के कारण में है और वह परिणाम स्वयं बन्धरूप है। तो इस परिणाम से तथा परिणाम के कारण से प्रभु तो रहित शून्य है।

अहा...हा... ! जिसमें दृष्टि देनी है अर्थात् जिस पर सम्यक्-दृष्टि देनी है, वह चीज बन्ध-मोक्ष से रहित है तथा बन्ध-मोक्ष की पर्याय से रहित है। परिणाम कहो या पर्याय कहो (एकार्थ है)। इसी गाथा में पारिणामिक भाव का स्वरूप बताते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि -

“वह शुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रित शुद्ध जीवत्व ऐसा जो शक्ति लक्षण (है, वह) किसका ? कि पारिणामिकपने का ! अहाहा ! त्रिकाली पारिणामिक का जो ‘शुद्ध जीवत्व’ ऐसा जो शक्ति लक्षण, स्वभाव लक्षण, सत् का - सत्पने का लक्षण ध्रुव (है)। अहा..हा वह पारिणामिक भाव है।”¹¹

गाथा 49 के अव्यक्त बोल पर प्रवचन करते हुए आत्मा को अव्यक्त बताते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि - यह आत्मा अव्यक्त है, वह ही उपादेय है, अन्तर सम्यग्दृष्टि में यह अव्यक्त जो शुद्धस्वरूप, एक रूप, अभेद है, वहीं जीव है, वही आत्मा है। वह आत्मा ही उपादेय है, अन्तर में आदर करने योग्य है। यह अव्यक्त विशेषण जीव का है। यहाँ भगवान आत्मा को जीव कहा है और उसे अव्यक्त कहकर उसी को जीव कहा है-

“अव्यक्त कहकर उसी को उपादेय कहा है शुद्ध आत्मा अव्यक्त है, भाई अव्यक्त सूक्ष्म प्रभु अन्दर है ! हे जीव तू अव्यक्त हैं, तू इसको जान।”¹²

इसमें अव्यक्त के छह बोलों के अतिरिक्त अन्य विशेषण अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श, अशब्द, अनिर्दिष्ट संस्थान आदि को स्पष्ट किया है।

24. सम्यग्दर्शन भाग-1

कानजी स्वामी के प्रवचन का मुख्य केन्द्रबिन्दु सम्यग्दर्शन, उसका स्वरूप, प्राप्ति की विधि एवं सम्यग्दर्शन का विषय रहा है अतः उनके प्रवचनों में से उक्त विषयों के संकलन रूप प्रवचन सम्यग्दर्शन भाग 1 से 6 में गुजराती भाषा में किये गये हैं। सभी भागों के संकलनकर्ता हरिलाल जैन हैं। सम्यग्दर्शन भाग-1 का हिन्दी अनुवाद मगनलाल जैन ने किया

1. प्रवचन नवनीत-1 (कानजी स्वामी), पृ. 252-253

2. वही, पृ. 10

है। सम्यग्दर्शन को सबसे पहला धर्म बताते हुए स्पष्ट किया है कि सब में बड़े में बड़ा पाप, सबमें बड़े में बड़ा पुण्य और सबमें पहले में पहला धर्म कौन सा है ? मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा पाप है, तीर्थंकर नामकर्म सबसे बड़ा पुण्य है, सम्यग्दर्शन ही सर्वप्रथम धर्म है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान-चारित्रादि तप इत्यादि कोई भी धर्म सच्चा नहीं होता। यह सब धर्म सम्यग्दर्शन होने के बाद ही होते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन ही सर्वधर्म का मूल है।

सम्यग्दर्शन के विषय को स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है –

“सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्ष का परमार्थ कारण हैं पंच महाव्रतादि को अथवा विकल्प को मोक्ष का कारण कहना सो स्थूल व्यवहार है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधक अवस्था को मोक्ष का कारण कहना सो भी व्यवहार है क्योंकि उस साधक अवस्था का भी जब अभाव होता है तब मोक्ष दशा प्रगट होती है अर्थात् वह अभावरूप कारण है इसलिये व्यवहार है।”¹

सम्यग्दर्शन के विषय के पश्चात् सम्यग्दर्शन का स्वरूप और वह कैसे प्रगट होता है – ‘सम्यग्दर्शन अपने आत्मा के श्रद्धागुण की निर्विकारी पर्याय है। अखण्ड आत्मा के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, सम्यग्दर्शन को किसी विकल्प का अवलम्बन नहीं है, किन्तु निर्विकल्प स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्वसुख का कारण है। “मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, बन्ध रहित हूँ” – ऐसा विकल्प करना सो भी शुभराग है, उस शुभराग का अवलम्बन भी सम्यग्दर्शन के नहीं है, उस शुभ विकल्प का उल्लंघन करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं राग और विकल्प रहित निर्मल गुण है उसके किसीप्रकार का अवलम्बन नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण आत्मा का अवलम्बन है, वह सम्पूर्ण आत्मा को स्वीकार करता है।’²

1. सम्यग्दर्शन भाग-1 (कानजी स्वामी), पृ. 149

2. वही, पृष्ठ 240

25. समयसार प्रवचन भाग 1-4

कुन्दकुन्ददेव प्रणीत समयसार ग्रन्थ पर कानजी स्वामी ने गुजराती भाषा में प्रवचन किये। राजकोट में वि. संवत् 1999-2000 में छठवीं बार प्रवचन चल रहे थे तब ट्रस्ट ने इन्हें पुस्तकाकार करने हेतु लिख लेने का प्रबन्ध किया। उन्हीं लेखों में से समयसार प्रवचन गुजराती भाषा में पाँच भागों में प्रकाशित किया गया। इनका हिन्दी अनुवाद चार भागों तक पं. परमेश्वरीदास न्यायतीर्थ द्वारा किया गया है।

समयसार प्रवचन भाग-1

समयसार प्रवचन भाग-1 में समयसार की गाथा 1-12 तक के प्रवचन प्रकाशित हुए हैं। समयसार की प्रारम्भिक भूमिका में मंगलाचरण पूर्वक सिद्धों को नमस्कार करके समयसार ग्रन्थ कहने की प्रतिज्ञा की है। कानजी स्वामी ने समयसार का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि -

“समयसार अर्थात् शुद्धात्मा सर्व पदार्थों में साररूप हैं। सार - द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है।”¹¹

समयसार सुनने की पात्रता का वर्णन करते हुये इस ग्रन्थ में कहा गया है कि- “आत्मा अनन्तकाल में जिस अपूर्व वस्तु को नहीं समझा उसे समझने के लिये विशेष पात्रता चाहिये। संसार-व्यवहार में अनीति का त्याग, इन्द्रिय विषयों की अल्प आसक्ति, आत्मतत्त्व की जिज्ञासा, निरभिमानता, सज्जनता, सत् को समझने का प्रेम इत्यादि सर्वप्रथम चाहिये। चौरासी के बन्धन का दुःख, संसार की अशरणता, पराश्रयता का दुःख इत्यादि का विचार करके परम सत्य की अन्तरंग में तीव्र जिज्ञासा हो उसके पात्रता प्रगट होती है।”¹²

समयसार प्रवचन भाग-2

समयसार प्रवचन भाग-2 में समयसार गाथा 13-33 पर हुए कानजी

1. समयसार प्रवचन-1 (कानजी स्वामी), पृ. 04

2. वही, पृ. 159

स्वामी के प्रवचन उपलब्ध हैं। इन गाथाओं में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप, सम्यग्दर्शन की महिमा और जितेन्द्रिय जिन आदि का स्वरूप बताया गया है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए कहा है कि - “आत्मा ही पूर्ण कल्याण स्वरूप स्वतन्त्र है। उस स्वभाव के लक्ष्य से नवतत्त्व के भेद को छोड़कर निर्मल एकत्व की श्रद्धा में स्थिर होना सो उसे सर्वज्ञ भगवान ने सम्यक्त्व कहा है।”¹

अज्ञानी के स्वरूप को दर्शाते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि जब तक इस आत्मा की ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में ऐसी बुद्धि रहती है कि ‘यह मैं हूँ’ और मुझमें (आत्मा में) यह कर्म-नोकर्म हैं, तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है। जो यह मानता है कि मैं पर का हानि-लाभ कर सकता हूँ और पर मुझे हानि-लाभ कर सकते हैं, वह दो तत्त्वों को एक मानता है। वह स्वतंत्र आत्मा को नहीं मानता। इसलिए मूढ़ है, अविवेकी है।

जितेन्द्रिय जिन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि- “सम्यग्दर्शन अपूर्व वस्तु है, जिसके आत्मा में सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसे आचार्यदेव ने ‘जिन’ कहा है। सम्यग्दृष्टि जीव ‘जिनपुत्र’ है। सम्यग्दर्शन होने से जो जिनेन्द्र के लघुनन्दन हो जाते हैं, वे एक दो भव में अवश्य मुक्ति को प्राप्त होंगे। जो भगवान का सच्चा भक्त है वह अवश्य भगवान होगा। उसे भव की शंका नहीं रहती। द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और परवस्तुओं से अपने आत्मा को पृथक् अनुभव करना सो यही उसका जीतना है।”²

समयसार प्रवचन भाग-3

समयसार प्रवचन भाग-3 में समयसार गाथा 34 से 68 पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचन समाहित हैं। इस ग्रन्थ में प्रत्याख्यान का, ज्ञानी के आत्मसंचेतन का, जीव-अजीव का वर्णन करते हुए अजीव से जीव

1. समयसार प्रवचन-2 (कानजी स्वामी), पृ. 06

2. वही, पृ. 435

की भिन्नता बताई गई है। ज्ञानी के आत्म संचेतन का वर्णन करते हुए कानजी स्वामी ने 38वीं गाथा में कहा है कि—

“दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हुआ आत्मा ऐसा जानता है कि निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है – यह निश्चय है।”¹

50-55 गाथा तक में अजीव से जीव की भिन्नता बताते हुए कहा है कि जीव स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण प्रत्यय, गुणस्थान, मार्गणास्थान, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, उदयस्थान जीवस्थानादि 29 प्रकार के परिणाम जीव के नहीं हैं, ये सभी पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गल परिणामों से उत्पन्न होने के कारण पुद्गलमय हैं परन्तु आत्मा उनसे भिन्न है, आत्मानुभूति से ये परिणाम भिन्न ही हैं।²

समयसार प्रवचन भाग-4

समयसार प्रवचन भाग-4 में समयसार गाथा 69 से 144 पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचनों को प्रकाशित करने के लिये बहिनश्री चम्पाबेन व शान्ताबेन ने अपने हाथ से पक्की कॉपी लिखकर तैयार की। जो वीर नि.सं. 2488 में प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ के कर्त्ता-कर्म अधिकार में मुख्यरूप से राग से कर्त्तापने का निषेध और आस्रवों से आत्मा की भिन्नता का निरूपण किया गया है। कानजी स्वामी ने कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का अन्त कब आयेगा ? इसके उत्तर स्वरूप कहा है कि –

“कर्त्ताकर्म की प्रवृत्तियाँ प्रवाहरूप से सन्तानरूप से अनादि होने पर भी अज्ञान से उत्पन्न हुई हैं; और अज्ञान से उत्पन्न हुई हैं, इसलिये वे दूर हो सकती हैं, वे आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न नहीं हुई हैं इसलिये उनकी निवृत्ति हो सकती है।

1. समयसार प्रवचन-3 (कानजी स्वामी), पृ. 64

2. वही, पृ. 300

कर्त्ता-कर्म की निवृत्ति होने से पौद्गलिक कर्म का अर्थात् नवीन द्रव्यकर्मों का बन्ध भी निवृत्त होता है - ऐसा होने से ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।'¹¹

73वीं गाथा में कहा है कि - "धर्मात्मा-धर्मी जीव ऐसा विचार करता है कि मेरा आत्मा वास्तव में एक ही है, मेरा आत्मा मलिनता रहित बिल्कुल शुद्ध है। मैं आत्मा ममत्वरहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ अर्थात् जानने और देखने से ही मैं परिपूर्ण हूँ, ज्ञाता-दृष्टा और उसमें स्थिरता करने वाला मैं चैतन्य के अनुभव में लीन होता हुआ इन क्रोधादि आस्रवों को क्षय की प्राप्ति कराता हूँ। विपरीत दृष्टि काम, क्रोध, स्नेह, राग यह सब मेरा स्वरूप नहीं है अर्थात् मैं इन सबका नाशक ही हूँ।"¹²

अन्त में पक्षातिक्रान्त ही समयसार है। सम्यग्ज्ञान ही समयसार है - ऐसा नियम से सिद्ध होता है। इसका स्पष्टीकरण कानजी स्वामी ने 144वीं गाथा में किया है -

"जो सर्व नयपक्षों से रहित कहा गया है, वह समयसार है। इसी समयसार को भी केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ऐसी संज्ञा (नाम) मिलती है। नाम पृथक् होने पर भी वस्तु एक ही है।

26. ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव

समयसार ग्रन्थ की गाथा 308 से 311 पर कानजी स्वामी के कुल 13 प्रवचन वीर नि.सं. 2480 में हुए। इन गाथाओं में क्रमबद्धपर्याय का विशिष्ट प्रतिपादन किया गया है। ये गाथा कानजी स्वामी को अत्यन्त प्रिय थी। इन गाथाओं के प्रवचनों को 'ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव' के नाम से प्रकाशित किया गया है। उसका हिन्दी अनुवाद मगनलाल जैन द्वारा किया गया है। इस ग्रन्थ में क्रमबद्धपर्याय का अर्थ स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि -

1. समयसार प्रवचन-4 (कानजी स्वामी), पृ. 25

2. वही, पृ. 46

“छहों द्रव्यों में उनकी त्रिकाल की प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है। जगत में अनन्त जीव हैं और जीव की अपेक्षा अनन्तगुने अजीव हैं; वे सब द्रव्य अपने अपने क्रम-नियमित परिणाम से उत्पन्न होते हैं। जिस समय जिस पर्याय का क्रम है वह एक समय भी आगे-पीछे नहीं हो सकती। जो पर्याय 100 नम्बर की हो वह 99 नम्बर की नहीं हो सकती और 100 नम्बर की पर्याय 101 नम्बर की भी नहीं हो सकती है। इसप्रकार प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है और समस्त द्रव्य क्रमबद्धपर्याय से परिणमित होते हैं। अपने स्वभाव का निर्णय हुआ वहाँ धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञायक हूँ, मैं किसे बदल सकता हूँ ? इसलिये धर्मी के पर को बदलने की बुद्धि नहीं है; राग को भी बदलने की बुद्धि नहीं है, वह राग का भी ज्ञायकरूप से ही रहता है।”

जीव या अजीव प्रत्येक वस्तु में क्रमबद्धपर्याय होती है। उसमें उलटा-सीधी होता ही नहीं है। जीव या अजीव सर्वपदार्थों की त्रिकाल की अवस्थायें क्रमबद्ध होती हैं। आत्मा उनका ज्ञायक होता है। इसप्रकार जो जीव अपने ज्ञायक स्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ करता है, उसी को क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है और वह जीव पर का तथा राग का अकर्ता होकर ज्ञायकभाव का ही कर्ता होता है, ऐसे जीव को ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पुरुषार्थ, स्वकाल आदि पाँचों समवाय एकसाथ आ जाते हैं।

27. अद्वितीय चक्षु

कानजी स्वामी द्वारा प्रवचनसार की 114वीं गाथा पर हुए प्रवचनों का संकलन ‘अद्वितीय चक्षु’ में किया गया है। गुजराती भाषा में संकलन शान्तिलाल चिमनलाल झवेरी द्वारा किया गया है। हिन्दी अनुवाद पं. अभयकुमार ने किया है। इसमें एक ही द्रव्य में अन्यत्व और अनन्यत्व को अविरोधरूप से सिद्ध किया गया है। द्रव्यार्थिकनय से सब द्रव्य हैं और पर्यायार्थिक नय से वह द्रव्य अन्य-अन्य हैं, क्योंकि उस समय तन्मय होने से द्रव्य पर्याय से अनन्य है।

प्रत्येक द्रव्य सामान्यविशेषात्मक है इसलिये आचार्यदेव सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य का स्वरूप बताते हुये कहते हैं कि - “द्रव्य सामान्यपने वैसे का वैसा ही अर्थात् अनन्य है और विशेषपने भिन्न-भिन्न, अन्य-अन्य है। अहा..हा..! वस्तु पर्याय अपेक्षा अन्य-अन्य होते हुये भी द्रव्य अपेक्षा अनन्य है। यद्यपि यहाँ जीवद्रव्य पर अनन्यत्व व अन्यत्व घटित करेंगे, तथापि प्रत्येक द्रव्य सामान्य अर्थात् वही का वही अनन्य है तथा विशेष अर्थात् अन्य-अन्य भी है। द्रव्य के विशेष अर्थात् पर्याय स्वकाल में अन्य-अन्य होते हुये भी उस द्रव्य से अनन्य ही हैं, द्रव्य से भिन्न नहीं है। भाई! यह तो प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप का कथन है।”

28. ज्ञानगोष्ठी

कानजी स्वामी की जीवनचर्या में दो घण्टे के (प्रातः-सायं 1-1 घण्टा) प्रवचन एवं 45 मिनट की तत्त्वचर्चा में एक दिन का भी व्यवधान नहीं आया। कानजी स्वामी से अध्यात्मादि विभिन्न विषयों पर शंका-समाधान के रूप में प्रश्नोत्तर किये जाते थे। इसे ज्ञानगोष्ठी के नाम से सोनगढ़ के मुख्यपत्र ‘आत्मधर्म’ में नियमितरूप से प्रकाशित किया जाता था। बाद में इसका संकलन पुस्तकाकार रूप से प्रकाशित किया गया। कानजी स्वामी द्वारा सन् 1976 से 1984 तक आठ वर्षों में की गई तत्त्वचर्चा का संकलन इस ज्ञानगोष्ठी में किया गया है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक चर्चा को सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है।

‘ज्ञानगोष्ठी’ के अन्तर्गत विभिन्न विषयों का वर्णन किया गया है। प्रत्येक विषय के आधार पर एक-एक अध्याय बनाया गया है। कुल 18 विषयों से सम्बन्धित 18 अध्याय हैं। भगवान् आत्मा, देव-शास्त्र-गुरु, आत्मानुभूति, भेदविज्ञान, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य, क्रमबद्धपर्याय आदि। सम्पूर्ण जिनागम का केन्द्रबिन्दु एवं कानजी स्वामी के प्रवचन की विशिष्ट पहिचान ‘भगवान् आत्मा’ सर्वोत्कृष्ट एवं एकमात्र आश्रयभूत पदार्थ है। प्रथम अध्याय में प्रश्न नं. 15 में बताया गया है कि -

1. अद्वितीय चक्षु (कानजी स्वामी), पृ. 07

प्रश्न - 'भगवान आत्मा आनन्द स्वरूप है'- इसप्रकार आप आत्मा के गुणों का विशद व्याख्यान करते हो, परन्तु वह भगवान आत्मा चला कहाँ गया ? यह तो बतलाइये ।

उत्तर - भगवान जो जहाँ हैं वहीं ही हैं, परन्तु इस भगवान का इस जीव को भान नहीं है। इसलिये दृष्टि में आता नहीं। स्वयं भगवान स्वरूप कारण परमात्मा है। ऐसा जिसको हृदय में जमता है उसी को कारण परमात्मा है। परन्तु जिसको ऐसा जमता ही नहीं, कि 'मैं परमात्मस्वरूप हूँ' उसके लिये कारण परमात्मा कहाँ हैं ? उसको तो राग और अल्पज्ञता ही है। जिसको कारण परमात्मा का विश्वास जमता है, उसी को कार्यरूप में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है।¹¹

भगवान आत्मा का स्वरूप समझने में एकमात्र निमित्तभूत व्यवहार से देव-शास्त्र-गुरु शरणभूत हैं। अतः दूसरा अध्याय देव-शास्त्र-गुरु रखा गया है।

भगवान आत्मा के आश्रय से आत्मानुभूति प्रगट होती है। आत्मानुभूति का उपाय भेदविज्ञान है। आत्मानुभूति को ही भेद-विवक्षा में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहते हैं। इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। इसतरह मोक्षमार्ग से सम्बन्धित आध्यात्मिक विषयों के बाद तत्त्वनिर्णय हेतु विभिन्न विषयों का स्पष्टीकरण इस ज्ञानगोष्ठी में किया गया है। यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, प्रमाण-नय, क्रमबद्धपर्याय, कर्ताकर्म, पुण्य-पाप इत्यादि विषयों का समावेश किया गया है।

प्रश्न 64 - शास्त्र द्वारा आत्मा का ज्ञान होता है या नहीं ?

उत्तर - शास्त्र द्वारा आत्मा का ज्ञान नहीं होता। दिव्यध्वनि से भी आत्मा जानने में नहीं आता - ऐसा परमात्मप्रकाश में कहा है न ! आत्मा तो अपने से ही अपने द्वारा जानने में आता है, तब शास्त्र को निमित्त कहा

1. ज्ञानगोष्ठी (कानजी स्वामी), पृ. 14

जाता है। प्रवचनसार में आता है कि आत्मा के लक्ष्य से शास्त्राभ्यास करो; वहाँ तो निमित्त बतलाया है। शास्त्र-पठन का गुण भिन्न वस्तुभूत आत्मा का ज्ञान करना है। ज्ञानमय आत्मा का अनुभव करना ही शास्त्र-पठन का गुण है, अज्ञानी उसे तो जानता नहीं और मात्र शास्त्र पढ़ता है। परन्तु निज परमात्मा को जाने बिना कर्मबन्धन से छुटकारा मिलनेवाला नहीं। दया, दान, पूजा, व्रत, तप आदि शुभराग तो दूर रहो; किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अकेले शास्त्र-पठन में ही रुक गया और सब कण्ठस्थ कर डाला, तो इससे भी क्या लाभ हुआ ?

प्रश्न 229 - क्या पुण्य और पाप समान हैं ?

उत्तर - जो कोई जीव पुण्य-पाप में भेद मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है और घोर संसार-सागर में डूबेगा - ऐसा प्रवचनसार की 77 गाथा में कहा है। कारण कि पुण्य और पापभाव में अनात्मपना समानरूप से है। व्यवहार से पुण्य और पापभाव में भेद है, वह ज्ञान करने के लिए है; किन्तु परमार्थ से पुण्य-पाप में भेद नहीं है, क्योंकि दोनों में अनात्मपने की अपेक्षा से समानता है।

29. मोक्षमार्ग की किरणें भाग 1-2

कानजी स्वामी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक पर सारगर्भित प्रवचन किये जो तीन भागों में गुजराती भाषा में प्रकाशित किये गये जो 'मोक्षमार्ग की किरणें भाग-1,2,3' नाम से प्रसिद्ध हैं। पर हिन्दी अनुवाद भाग-2 तक ही किया गया है।

मोक्षमार्ग की किरणें भाग-1

पं. टोडरमल द्वारा रचित मोक्षमार्ग-प्रकाशक के नौ अधिकारों में से प्रथम छह अधिकारों पर कानजी स्वामी के सन् 1953 में प्रवचन हुए। उन प्रवचनों का संक्षिप्त सार हिन्दी अनुवादक मगनलाल जैन द्वारा 'मोक्षमार्ग की किरणें' भाग-1 में संकलित हैं। यह कृति कानजी स्वामी ने प्रकाशित होने से पहले स्वयं पढ़ी थी।

शुभराग का स्वरूप एवं उसका क्या प्रयोजन है ? यह बताते हुए कहा है - चारित्रदशा में पंच महाव्रत का शुभराग होता है - ऐसा सत् शास्त्र में कहा हो तथापि वह कथन राग कराने के लिए नहीं है, किन्तु स्वरूप की दृष्टि और स्थिरता सहित अशुभराग से बचने का प्रयोजन है, परन्तु महाव्रत का जो शुभराग रहा, वह तो छोड़ने के लिए ही है। धर्म तो मात्र निश्चय मार्ग रूप ही है। शुभराग के द्वारा धर्म नहीं होता, धर्म तो पुण्य-पाप से रहित मात्र शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणतारूप ही है।

अन्त में जैनदर्शन का सार भेदज्ञान और वीतरागता का वर्णन करते हुए कहा है कि -

“जैनधर्म वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करता है। सत् की सत् रूप से और असत् की असत् रूप से स्थापना करता है, किन्तु सबको समान नहीं कहता।.....जैनदर्शन का मूल भेदविज्ञान है, उसके लिये प्रथम गुण को गुणरूप और अवगुण को अवगुणरूप जानना चाहिये। जहाँ तक गुण को और अवगुण को बराबर न जाने वहाँ तक भेदज्ञान नहीं होते। सम्यक्प्रकार से पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ करके क्रमशः राग-द्वेष को दूर करके वीतरागता प्रगट करना ही जैनधर्म का प्रयोजन है।”¹¹

मोक्षमार्ग की किरणें भाग-2

मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार पर सन् 1953 में कानजी स्वामी ने प्रवचन किये। सबसे पहले ये प्रवचन गुजराती में प्रकाशित हुए, उन्हीं का संक्षिप्त सार मगनलाल जैन ने मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें भाग-2 के नाम से हिन्दी अनुवाद किया। इसमें मुख्य रूप से जैन मतानुयायी मिथ्यादृष्टियों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

“शरीर के कारण आत्मा की अवस्था होती है - ऐसा नहीं है, किन्तु दोनों की अवस्था स्वतन्त्र अपनी-अपनी योग्यता से होती है। उसमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।”¹²

1. मोक्षमार्ग की किरणें-1 (कानजी स्वामी), पृ. 217

2. मोक्षमार्ग की किरणें-2 (कानजी स्वामी), पृ. 37

इस अधिकार में आत्मा और शरीर दोनों की स्वतंत्र अवस्था का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि -

आत्मा में जब ज्ञान की पूर्ण दशा नहीं है, उस समय निमित्तरूप से ज्ञानावरणीय कर्म हैं और आत्मा तथा शरीर का भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; क्योंकि शरीर द्वारा उसी के अनुसार होने वाली अवस्था देखते हैं। शरीर के हलने-चलने के अनुसार आत्मा के प्रदेशों की अवस्था देखते हैं। शरीर के हलने-चलने के अनुसार आत्मा के प्रदेशों की अवस्था होती दिखाई देती है। आत्मा की अवस्था में शरीर का निमित्त तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। शरीर के कारण आत्मा की अवस्था होती है - ऐसा नहीं है, किन्तु दोनों की अवस्था स्वतंत्र अपनी-अपनी योग्यता से होती है। उसमें निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

इसी सातवें अधिकार में बताया गया है कि-“ तत्त्वज्ञानपूर्वक आचरण यह सम्यक्चारित्र है। इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान हो, और फिर चारित्र हो वही सम्यक्चारित्र नाम प्राप्त करता है। जिसके अज्ञान का नाश न हो उसके चारित्र नहीं होता। जो तत्त्वज्ञान न करे उसके सम्यग्दर्शन नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्म लिया इसलिये सम्यग्दृष्टि है - ऐसा नहीं है। दिगम्बर कोई सम्प्रदाय नहीं है किन्तु वस्तु का स्वरूप है। सप्त तत्त्वों के भाव का भासन होना वह तत्त्वज्ञान है।”¹¹

30. अनुभव प्रकाश

दीपचन्द कासलीवाल द्वारा रचित अध्यात्म-विषयक ग्रन्थ अनुभवप्रकाश पर कानजी स्वामी ने सन् 1952 में कुल 67 प्रवचन किये। जिनका संकलन ‘अनुभवप्रकाश’ प्रवचन ग्रन्थ में किया गया है। गुजराती संकलन अमृतभाई नरसीलाल सेठ द्वारा एवं हिन्दी अनुवाद पं. देवेन्द्रकुमार बिजौलियाँ द्वारा किया गया है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है। उसका अनुभव जिस विधि से होता है वह बात इस ग्रन्थ में बताई गई है।

1. मोक्षमार्ग की किरणें-2 (कानजी स्वामी), पृ. 311

इस ग्रन्थ में जीव के भाव, जीव-पुद्गल का स्वतन्त्र परिणमन आत्मा का यथार्थ स्वरूप भूतार्थ ज्ञायक निज ध्रुव तत्त्व का आश्रय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तप, वीर्य आदि मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषयों को भलीभाँति समझाया गया है।

मिश्र अधिकार में बताया है कि सम्यग्दर्शन होने पर तुरन्त ही सर्वथा रागरहित दशा प्रगट हो जाती होगी या राग रह जाता होगा ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि “साधकदशा में ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनों प्रवर्तती हैं। बारहवें गुणस्थान तक दोनों धारायें हैं। 12वें गुणस्थान में राग नहीं है, परन्तु ज्ञान अल्प है, उतनी कर्मधारा है। आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान सम्यक् रूप है। वह ज्ञानधारा है और जितना राग बाकी है, वह कर्मधारा है।”

“निश्चय वस्तुस्वरूप अधिकार में वास्तव में वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा वर्णन करते हैं। वास्तव में वस्तु अनन्त गुणमय है; उनमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रधान हैं। आत्मा में अनन्त गुण होने पर भी उनमें जानना, देखना व परिणमना इन तीन के कारण आत्मा में वेदन अनुभव होता है। यहाँ परिणमना अर्थात् चारित्र की बात है और ज्ञान वह आत्मा है। जाना, देखा और स्थिर हुआ अर्थात् अनुभव हुआ यह अनुभव प्रकाश की बात है। वह अनुभव कैसे हो ? तो कहते हैं कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की एकता होने पर रसास्वाद रूप अनुभव होता है।”

समाधि अधिकार में समाधि के अर्थ को स्पष्ट करते हैं -

“अपने ध्रुव स्वभाव में एकाग्र होकर निजानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति का कारण हैं। राग-द्वेष के आश्रय से वीतरागता नहीं होती। अपने स्वरूप में एकाग्रता करने से ज्ञानभाव होता है और समाधि उत्पन्न होती है, उस समय विकल्प छूट जाते हैं जड़मन को अपने में लीन नहीं करना, ज्ञान पर्याय को अपने में लीन करते हैं, उस कथन को स्वरूप में मन लीन

किया – ऐसा कहते हैं। स्वद्रव्य-गुण-पर्याय में परिणाम लीन होने को समाधि कहते हैं।¹¹

4.2.1.2. चरित्र प्रधान प्रवचन साहित्य

चरणानुयोग की मुख्यता सहित जिन ग्रन्थों पर कानजी स्वामी के प्रवचन हैं, वे सभी चरित्रप्रधान प्रवचन साहित्य के रूप में स्मरण किये जाते हैं। गृहस्थ का सदाचार, श्रावक के व्रत, मुनियों के महाव्रतों का अन्तरंग-बहिरंग स्वरूप चरित्रप्रधान प्रवचन साहित्य के विषय हैं। कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में निम्न प्रवचन साहित्य चरित्रप्रधान प्रवचन साहित्य की श्रेणी में वर्गीकृत किया जा सकता है –

1. अष्टपाहुड प्रवचन भाग-1	2. मुक्ति का मार्ग
3. श्रावकधर्म प्रकाश	4. देशव्रतोद्योतनम्

1. अष्टपाहुड प्रवचन भाग-1

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित अष्टपाहुड में समागत दर्शन पाहुड और सूत्रपाहुड ग्रन्थ पर कानजी स्वामी के सन् 1952 में प्रवचन हुए जिसका 'अष्टपाहुड प्रवचन' के नाम से संकलन किया गया। गुजराती संकलन तो सद्गुरुप्रसाद में उपलब्ध है जिसके आधार से इन प्रवचनों का हिन्दी में अनुवाद पं. देवेन्द्रकुमार बिजौलियाँ ने किया जिसे 'अष्टपाहुड प्रवचन' के नाम से जाना जाता है।

दर्शनपाहुड में सम्यग्दर्शन की महिमा एवं सूत्रपाहुड में जिनागम के द्वादश भेदों का तथा निश्चय-व्यवहाररूप शैली का वर्णन किया गया है। दर्शन पाहुड में 36 गाथायें हैं। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। 'दंसण मूलो धम्मो' इस गम्भीर महासूत्र से प्रारम्भ करके सम्यग्दर्शन की परम महिमा का इस पाहुड शास्त्र में वर्णन किया गया है –

जैन मार्ग में धर्म का यथार्थ प्ररूपण है, उस धर्म का स्वरूप क्या है? चार प्रकार से धर्म का कथन करके उन चारों में निश्चयधर्म एक ही प्रकार

1. मोक्षमार्ग की किरणें-2 (कानजी स्वामी), पृ. 305

का है - वस्तुस्वभाव धर्म, उत्तम क्षमादिक धर्म, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म, जीवदयारूप धर्म। शुद्ध द्रव्य में एकाग्रतारूप निश्चयनय है। उस शुद्ध चेतन द्रव्य में एकाग्रतारूप निश्चय धर्म में उपर्युक्त चारों प्रकार समाहित हो जाते हैं।¹¹

निश्चय व व्यवहारधर्म में अन्तर स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि -

1. निश्चयनय शुद्ध द्रव्य के आश्रय से है। व्यवहारनय पर्याय के आश्रय से है।

2. निश्चयनय में निर्मलपर्याय भी द्रव्य के साथ अभेदरूप है, व्यवहारनय में पर्यायें अनेक भेदरूप हैं।

3. निश्चयनय से धर्म एक ही प्रकार का है, व्यवहारनय से धर्म की प्ररूपणा अनेक प्रकार से है।

सूत्रपाहुड में 27 गाथायें हैं, इसमें जिनसूत्र के अनुसार जीव का आचरण हितरूप है, और जिनसूत्र के विरुद्ध आचरण अहितरूप है तथा जिनसूत्र कथित मुनिलिंगादि तीन लिंगों का संक्षेप में निरूपण किया गया है -

“गाथा 3 में बताया है कि जो पुरुष सूत्र को जानने वाला है, वह संसार का नाश करता है, जैसे सुई डोरा सहित हो तो दृष्टिगोचर होकर मिल जावे, कभी भी नष्ट न हो और डोरे के बिना हो तो दिखे नहीं। उसी प्रकार ज्ञान नहीं हो तो चार गतियों में परिभ्रमण करना पड़ता है और सूत्र का ज्ञान करने से स्वभाव की प्राप्ति होती है और संसार का अभाव होता है।”¹²

गाथा 18 में अल्प परिग्रह ग्रहण करने वालों को क्या दोष लगता है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं - “मुनि बालक की तरह यथाजात

1. अष्टपाहुड प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 31

2. वही, पृ. 232

नग्नदिगम्बर होता है, तथापि जो थोड़ा भी परिग्रह रखता है, उसको भगवान के सूत्र की भी श्रद्धा नहीं है। सर्वज्ञ का फरमान है कि मुनि को एक भी वस्त्र नहीं रखना चाहिये। वस्त्रपात्र की ममता छूटने पर ही मुनिपना होता है। जो एक लंगोटी रखकर भी साधुपद मनाता है उसको सर्वज्ञ भगवान के आगम की श्रद्धा नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है, मिथ्यात्व का फल निगोद है।¹¹

2. मुक्ति का मार्ग

पं. भागचन्दजी छाजेड़ द्वारा रचित 'सत्तास्वरूप' पर कानजी स्वामी के प्रवचन हुए जिनका संकलन ब्र. हरिलाल जैन ने मुक्ति का मार्ग नाम से किया। इसमें अरहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञ की सिद्धि ये दोनों विषय इस 'मुक्ति का मार्ग' में बहुत ही स्पष्ट और सरल भाषा में समझाये गये हैं। इस ग्रन्थ पर कानजी स्वामी ने आठ बार प्रवचन किये हैं। जिनको आठ विषयवार भागों में विभाजित किया गया है -

1. तत्त्वनिर्णय की दुर्लभता, 2. तत्त्वनिर्णय की प्रेरणा, 3. प्रयोजन भूत तत्त्वों का दिग्दर्शन, 4. रोग और वैद्य दोनों को पहिचानो, 5. सर्वज्ञदेव की पहिचान करनी चाहिये, 6. अरहन्तदेव का सच्चा सेवक कैसा होता है?, 7. सर्वज्ञ की सिद्धि, 8. मुक्तिमार्ग का पथिक जैनी।

पहले प्रवचन में तत्त्वनिर्णय की दुर्लभता पर जोर दिया गया है -
 "आगम के यथार्थ अभ्यास का अवसर दुर्लभ है भाई! संसार का परिभ्रमण अनादिकाल का है किन्तु तत्त्व का यथार्थ निर्णय किये बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं हो सकता।"¹²

"तत्त्व निर्णय करना भी एक धर्म है और उसका फल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है, जो पुरुष अपने हित का वांछक है, उसे सर्वप्रथम तत्त्व निर्णय रूप कार्य ही करना चाहिए।

1. अष्टपाहुड़ प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 320

2. मुक्ति का मार्ग (कानजी स्वामी), पृ. 20

अरहन्त के स्वरूप को कानजी स्वामी ने इसप्रकार स्पष्ट किया है – जो एक समय में तीनकाल और तीन लोक को जानता है और जिसके रत्नत्रय की परिपूर्ण शुद्धता प्रकाशित हो गई है। वह वीतराग सर्वज्ञ अरहन्तदेव हैं।”

सर्वज्ञ की सिद्धि को भी कानजी स्वामी ने स्पष्ट करते हुए कहा है – “आत्मा ज्ञानस्वरूप हैं, एक आत्मा से दूसरे आत्मा में अधिक ज्ञान होता है और तीसरे आत्मा में उससे भी अधिक ज्ञान देखने में आता है। इसप्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होते हुए किसी जीव के परिपूर्णज्ञान प्रगट हो जाता है। जिस जीव के परिपूर्ण ज्ञान प्रगट होता है, वह सर्वज्ञ है।”

3. श्रावक धर्म प्रकाश

आचार्य पद्मनन्दि द्वारा विरचित ‘पद्मनन्दि पंचविंशतिका’ पर कानजी स्वामी के तीन बार प्रवचन हुए। ब्र. हरिलाल द्वारा संकलित ‘श्रावकधर्मप्रकाश’ गुजराती प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तर सोनचरण जैन एवं प्रेमचन्द जैन सनावद द्वारा संयुक्तरूप से किया गया। पद्मनन्दि पंचविंशतिका ग्रन्थ का सातवाँ देशव्रतोद्योतन अधिकार कानजी स्वामी का अतिप्रिय अधिकार है।

इस अधिकार में 27 श्लोक हैं अतः प्रत्येक श्लोक के प्रवचन का एक-एक अधिकार बनाया गया है – सर्वज्ञ की श्रद्धा, सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा, सम्यग्ज्ञान की दुर्लभता, श्रावक के छह आवश्यक, श्रावक के बारह व्रत, सत्पात्रदान की प्रमुखता, अणुव्रत की सफलता, मुमुक्षु को मोक्ष ही उपादेय, देशव्रत की आराधना का अन्तिम फल इत्यादि कुल 27 अधिकारों पर मार्मिक विवेचन किया गया है। **मुनिदशा की भावना धर्मी की भावना होती है। परन्तु जिसके ऐसी दशा न हो सके वह देशव्रतरूप श्रावक के धर्म का पालन करता है।** उस श्रावक के भाव कैसे होते हैं, उसको सर्वज्ञ की पहिचान, देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान

आदि भाव कैसे होते हैं, वे इसमें बतलाये गये हैं। निश्चय-व्यवहार का सामंजस्यपूर्ण वर्णन है।

श्रावकधर्म का मतलब है कि गृहस्थाश्रम में सम्यक्त्वपूर्वक धर्म का प्रकाश होकर वृद्धि हो उसका वर्णन है।

देशव्रतरूप श्रावकधर्म का वर्णन करते समय सबसे पहले कानजी स्वामी ने प्रवचन में कहा है कि - 'सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ धर्म का स्वरूप ही सत्य है। इसके सिवाय अन्य का कहा हुआ सत्य नहीं। श्रावक की ऐसी निःशंक श्रद्धा होनी चाहिए; क्योंकि धर्म के मूल प्रणेता सर्वज्ञदेव हैं, जिसे उनका निर्णय नहीं, उसे धर्म का निर्णय नहीं हो सकता।

अन्तिम श्लोक पर प्रवचन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि-
 "जो जीव धर्मी हैं, जिसे आत्मा का भान हैं, जो मोक्षमार्ग की साधना में तत्पर हैं, उसे अणुव्रत-महाव्रत के राग से ऐसा ऊँचा पुण्य बंधता है कि चक्रवर्तीपना, तीर्थंकरपना आदि लोकोत्तर पदवी मिल जाती है। पंच-कल्याणक आदि की कल्याणपरम्परा से प्राप्त होती है और अन्त में राग तोड़कर वह मोक्ष पाता है।"¹

4. देशव्रतोद्योतनम्

आचार्य पद्मनन्दि द्वारा रचित पद्मनन्दि पंचविंशतिका में समागत श्रावकाचार का प्रतिपादक देशव्रतोद्योतनम् अधिकार पर सन् 1955 में कानजी स्वामी ने सारगर्भित प्रवचन किये। जो गुजराती भाषा में गुरुप्रसाद दैनिक पत्रिका में देशव्रतोद्योतनम् नाम से उपलब्ध हैं। इसका अनुवाद पं. वंशीधर शास्त्री द्वारा किया गया। इसमें 27 श्लोक हैं तथा श्रावकधर्म और प्रतिदिन करने योग्य कार्यों का चारित्रिक वर्णन किया गया है। इस अधिकार में बताया गया है कि -

"गृहस्थ दशा में मुनिधर्म नहीं अपनाया जा सके तो गृहस्थाश्रम में किसप्रकार धर्म हो सकता है। जो मुनिधर्म का पालन नहीं कर सकें उन्हें

1. श्रावकधर्म प्रकाश (कानजी स्वामी), पृ. 162

देशव्रत अर्थात् पंचम गुणस्थान का प्रकाश करना चाहिये।'' '' श्रावक को सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि बनने पर श्रावक एकमात्र सर्वज्ञ को ही देव मानता है। अन्य किसी को नहीं। जिसने अपने ज्ञान स्वभाव की महिमा जान ली उसने सर्वज्ञ को मान लिया। सर्वज्ञ देव का बहुमान अपनी आत्मा का बहुमान आये बिना नहीं रहता।

श्रावक को आत्मभानपूर्वक बारहव्रत करने का शुभराग आता है। इसलिये देशव्रती श्रावक बारह व्रतों को धारण करता है।''

4.2.1.3. भक्तिप्रधान प्रवचन साहित्य

आराध्य के प्रति आस्था का परिचय भक्ति अर्थात् पूजा है और जिस साहित्य में इन भावों की अभिव्यक्ति होती है वह भक्ति साहित्य है। मुख्यतः भक्ति साहित्य पद्यप्रधान होता है। कानजी स्वामी का जितना झुकाव आत्मतत्त्व पर था, उतनी ही आस्था आत्मतत्त्व के प्रतिपादक देव-शास्त्र-गुरु के प्रति थी। उक्त मनोवृत्ति के कारण उनकी प्रवचन शैली में जहाँ समयसार के गम्भीर न्याय दृष्टि का विषय त्रिकाली ध्रुव, क्रमबद्धपर्याय जैसे तत्त्वज्ञान के गहनतम तथ्य प्रस्फुटित हुए हैं वहीं भक्तामर स्तोत्र, विषापहार स्तोत्र एवं ऋषभजिन स्तोत्र जैसे भक्ति साहित्य को यथायोग्य स्थान मिला है।

कानजी स्वामी ने अपने प्रवचन साहित्य में निम्न भक्तिप्रधान साहित्य का विश्लेषण किया है -

1. भक्तामर स्तोत्र प्रवचन
2. विषापहार स्तोत्र प्रवचन

1. भक्तामर स्तोत्र प्रवचन

मानतुंग आचार्य द्वारा रचित भक्तामर स्तोत्र पर कानजी स्वामी ने भक्तिविभोर होकर प्रवचन किये हैं, जो सन् 1982 में जैनपथप्रदर्शक में 'कहान सन्देश स्तम्भ' में प्रकाशित हुए थे। गुजराती भाषा में हुए इन

प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद पं. वंशीधर शास्त्री द्वारा किया गया है। बीच में स्वास्थ्य की गड़बड़ी के कारण 32 छन्द के बाद शेष अनुवाद पं. रतनचन्दजी भारिल्ल ने पूरा किया है।

भक्तामर स्तोत्र के 16वें छन्द के ऊपर प्रवचन करते हुए कानजी स्वामी ने जिनेन्द्र भगवान का स्वरूप व महिमा का वर्णन करते हुए कहा है -

“आप निर्दोष और स्वाधीन हैं। लोक में दीपक के लिये तो तेल (स्नेह) बत्ती आदि की आवश्यकता होती है, वैसे आपके केवलज्ञान के लिये रागादिक (स्नेह) की आवश्यकता नहीं है। आपके तो इच्छामात्र का नाश हुआ है तथा जगमगाती केवलज्ञान ज्योति प्रगट हुई है। आपके केवलज्ञान की परम अद्भुत महिमा है आप विशिष्ट प्रकार की अनोखी ज्ञान-ज्योति प्रगट करने वाले अलौकिक ज्योति है।”¹¹

आगे 30वें छंद का विवेचन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि-

“जिसके अंतरंग में चैतन्य स्वभाव का भान नहीं होता है, वह अंतरंग में अभिमान रहित होता है और उसके सच्चे देवादि के प्रति विनयभक्ति आदि का राग होता है, उसके फल में अचिन्त्य पुण्य का बंध होता है।”¹²

2. विषापहार स्तोत्र

धनंजय कवि द्वारा रचित विषापहार स्तोत्र पर कानजी स्वामी ने प्रवचन किये जिसका हिन्दी अनुवाद देवेन्द्रकुमार बिजौलिया ने किया।

विषापहार स्तोत्र के तीसरे काव्य में धनंजय कवि के पुरुषार्थ कैसे उछलता है ? इसका विवेचन करते हुए कहा कि - ‘हे भगवान ! जिसप्रकार छोटे से झरोखे से भी देखा जा सकता है, आँखें छोटी होने पर भी बड़े-

1. भक्तामर स्तोत्र प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 65

2. भक्तामर स्तोत्र प्रवचन, पृष्ठ 107

बड़े हाथियों को देख लेती है उसी प्रकार मेरा ज्ञान भले ही अल्प है तथापि उस अल्प ज्ञान के द्वारा ही मैं आप जैसे सर्वज्ञ की स्तुति करूँगा, अपने परिपूर्ण स्वभाव को देखूँगा, साक्षात्कार करूँगा। छोटे से छिद्र में हाथी दिखता है उसीप्रकार अल्पज्ञान में भी अनन्त शक्तियाँ सम्पन्न सम्पूर्ण आत्मा दिखता है, अनुभव में आता है।¹¹

श्लोक 14 पर मार्मिक प्रवचन करते हुए कहा है कि - अरहन्त अर्थात् विकाररूपी शत्रु को जीतनेवाला ऐसा आत्मा स्वयं ही अरहन्त है, आत्मा ही सिद्ध है, आत्मा ही पुराणपुरुष है। अज्ञानी अनादि से पर को अपना मानकर मर रहा है, जहाँ अन्तर में निज चैतन्य प्रभु का भान हुआ वही मिथ्यात्वरूप विषय उतर जाता है और आत्मा जागृत हो जाता है, यही वास्तव में विषापहार स्तोत्र है। अन्तिम काव्य के प्रवचन में कहा है कि - “हे भगवान! आपकी भक्ति, सुख, धन, सम्पत्ति, विषय एवं कीर्ति इत्यादि फलदायक है और निश्चय भक्ति पूर्णपद की प्राप्तिरूप फल की दायक है। पवित्रता के साथ बंधे हुए पुण्य के फल में मैं आपके समान ही समवशरणादि की प्राप्ति करूँगा - ऐसी मेरी दृढ़ प्रतीति है। इसप्रकार मंगल प्रवचन विषापहार स्तोत्र पर हुए हैं।¹²

4.2.1.4. वैराग्यप्रधान प्रवचन साहित्य

जिनका जीवन वैराग्यमय हो अर्थात् जिनकी चर्चा वैराग्यप्रधान हो तो उनकी चर्चा में वैराग्य का प्रतिपादन न हो ऐसा नहीं हो सकता अर्थात् निःसन्देह ही वैराग्य की प्रधानता होगी। वैराग्य प्रधान साहित्य में संसार की क्षणभंगुरता के साथ-साथ स्त्री-पुत्रादि एवं शरीरादि की अनित्यता, अशरणा का विचार किया जाता है। आत्मा की वैभाविक परिणति से भी भिन्नता की चर्चा अर्थात् वे दुःखदायक हैं, छोड़ने लायक हैं। इसरूप में प्रतिपादन होता है। कानजीस्वामी के वैराग्यमय जीवन में उनकी साहित्य

1. विषापहार स्तोत्र (कानजी स्वामी), पृ. 8

2. वही, पृष्ठ 8

साधना भी वैराग्य से रचित है। उनके साहित्य में पग-पग पर वैराग्य मिलता है जिसका वर्गीकरण निम्नरूप से किया जा सकता है -

अपूर्व अवसर प्रवचन

श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा रचित वैराग्यपोषक काव्यमय अपूर्व अवसर ग्रन्थ में कानजी स्वामी के 13-11-1939 से 06-12-1939 तक हुये प्रवचनों का संकलन है। जिसका हिन्दी अनुवाद ब्र. गुलाबचन्द जैन एवं पं. बंशीधर शास्त्री ने किया। इसमें 21 छन्दों के प्रवचनों को समाहित किया गया है। जिसमें मुनिदशा भाने की भावना व्यक्त की गई है। मुनिदशा का महत्व एवं स्वरूप का भी यथावसर विचार किया गया है। कानजी स्वामी वीतरागी मुनियों के प्रति अगाध भक्ति रखते हैं। कानजी स्वामी के प्रवचन के कुछ अंश इसप्रकार हैं -

ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर प्रवृत्त होने का पुरुषार्थ बढ़ने से क्रमशः शुद्धता की वृद्धि होती है, इस अपेक्षा से जीव की अवस्था में 14 गुणस्थान होते हैं। उनमें से 4 गुणस्थान के विकास की सीढ़ी प्रारम्भ होती है। जैसे महल के ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं, वैसे ही मोक्षरूपी महल में जाने के लिए 14 सीढ़ियाँ हैं, उनमें से प्रथम सम्यग्दर्शन रूप चौथे गुणस्थान से मंगलमय प्रारम्भ होता है। आत्मस्वरूप की जागृति की वृद्धि की भावना के लिए यह भावना है।

पूर्ण शुद्धात्मा स्वरूप सिद्ध परमात्मा जैसा है - ऐसा अपना स्वरूप अपने लक्ष्य में लखकर पूर्णता के लक्ष्य से श्रीमद् आत्मस्वरूप की भावना करते हैं। ऐसी यथार्थ निर्ग्रन्थ दशा, स्वरूप स्थिति का अपूर्व अवसर कब होगा ? - मैं कब अन्तरंग एवं बहिरंग से निर्ग्रन्थ होऊँगा, अर्थात् राग-द्वेष की ग्रन्थि से और बाह्य स्त्री-धनादि से निवृत्त हों - यह भावना भाता है।

“अहो! वह वीतराग दशा धन्य है, वह निर्ग्रन्थ मुनिपद धन्य है, वह पूर्ण दिगम्बर सर्वोत्कृष्ट साधनदशा धन्य है।” इसप्रकार पहली गाथा में

अपूर्व अवसर की बाह्यान्तर निर्ग्रन्थत्व की और सर्वसम्बंधों के बन्धन को तोड़ने की भावना भाई है।¹¹

अपूर्व अवसर काव्य में 12वें छन्द तक सातवें गुणस्थान तक की भावना भाई गई है।

केवलज्ञानी के चार घातिया कर्म कैसे होते हैं ? यह 16 वीं गाथा में बताते हैं -

“तेरहवीं भूमिका में चार अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं, शेष गाथाओं में पूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूप की पूर्ण पवित्र स्थिति को प्राप्त करने के लिये स्वानुभव महा मंगल भावना भायी गयी है।”¹²

4.2.1.5. प्रासंगिक प्रवचन साहित्य

प्रासंगिक प्रवचन साहित्य में वो साहित्य आता है जो पर्व अथवा प्रसंग विशेष पर विवेचित होता है। दशलक्षणी पर्व में दशलक्षण पर व्याख्यान प्रासंगिक प्रवचन साहित्य की श्रेणी में ही आता है। कानजी स्वामी चूंकि गृहस्थ थे, अतः धार्मिक आयोजनों में आना-जाना स्वाभाविक था तथा आयोजनों में तात्कालिक प्रसंगों पर प्रवचन भी स्वाभाविक ही है। उन्हीं के फलस्वरूप प्रासंगिक प्रवचन साहित्य का उद्भव हुआ है। जिसका वर्गीकरण निम्नानुसार है -

1. महामहोत्सव प्रवचन
2. दशलक्षणधर्म

1. महा महोत्सव प्रवचन

कानजी स्वामी ने पंचकल्याणक जैसे महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का महत्त्व अपने प्रवचनों के माध्यम से स्पष्ट किया है। वीर नि.सं. 2476 सोनगढ़, वीर नि. सं. 2475 वीछिया, वीर.नि.सं. 2475 लाठी एवं वी.नि.सं. 2476 राजकोट में हुए पंचकल्याणकों के प्रवचन इस महामहोत्सव प्रवचन में संकलित किये गये हैं।

1. अपूर्व अवसर प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 15

2. वही, छन्द 17

कानजी स्वामी की स्वानुभव रस झरती मंगल वाणी में जैन सिद्धान्तों के गूढ़ रहस्यों के साथ-साथ तीर्थंकरदेव की ओंकार ध्वनि एवं पंच-कल्याणक महोत्सव की महिमा आत्मविभोर मुद्रा आज भी तत्कालीन श्रोताओं की आँखों में झूलती है। पंचकल्याणक से सम्बन्धित कानजी स्वामी के उद्गार इसप्रकार हैं -

“अहो! रत्नकूखधारिणी माता! आप धन्य हैं, छह मास पश्चात् आपकी कोख में जगदोद्धारक, त्रिलोकनाथ, तीर्थंकरदेव आने वाले हैं, आप न केवल भगवान की माता हो बल्कि सारे जगत की माता हो।”

“जन्मकल्याणक के अवसर पर तीर्थंकरों का जन्म शुद्धात्मा के भान सहित ही होता है। जिसे आत्मा का भान हो और पुण्य की भावना न हो, उसे ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है।” पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में दीक्षाकल्याणक के अवसर पर शान्तिनाथ भगवान का छह खण्ड की सम्पदा का संयोग होते हुये भी उन्हें स्वभाव का भान था कि यह संयोग मेरा स्वभाव नहीं है, मैं असंसारी, अशरीरी, अभोगी हूँ, भवतन या भोग मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो भवरहित मुक्त हूँ, मैं शरीर से भिन्न सिद्ध समान हूँ।

“अहो! आज महा वैराग्य का दिवस है, परम उदासीनता का प्रसंग है, आज भगवान वीतराग चारित्र दशा धारण कर रहे हैं - ऐसी चारित्र दशा के बिना इस आत्मा की कभी मुक्ति नहीं हो सकती।”

“केवलज्ञान द्वारा अभेद चैतन्य स्वभाव अनुभव में आने पर वाणी भी अभेद निकलती है, ज्ञान और वाणी का ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि ज्ञान पूर्ण होता है तो वाणी भी अभेद हो जाती है। जीव को केवलज्ञान हुआ हो और वाणी भेद वाली निकले - ऐसा नहीं होता।”

“अहो! भगवान ने पूर्ण सर्वज्ञपद प्राप्त किया है और मेरा स्वभाव भी ऐसा ही है - ऐसे लक्ष्यपूर्वक जो जिनप्रतिमा को जिनतुल्य मानता है, उसके अधिक भव नहीं होते।”¹²

1. महामहोत्सव प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 10

2. वही, पृ. 54

2. दशलक्षण धर्म

वीर नि.सं. 2473 के दशलक्षणपर्व के दिनों में सोनगढ़ में पद्मनन्दि पंचविंशतिका में वर्णित दशधर्मों पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचन 'आत्मधर्म' वर्ष 5 सन् 1950 में प्रकाशित हुए। बाद में उन्हीं प्रवचनों को ब्र. हरिभाई ने गुजराती भाषा में 'दशलक्षण धर्म' नाम से संकलित किया। हिन्दी अनुवाद मगनलाल ने किया। भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव का महान सूत्र है कि 'दंसणमूलो धम्मो' अर्थात् धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। उसके अनुसार इन उत्तमक्षमादि दशधर्मों का मूल भी सम्यग्दर्शन ही है यह बात प्रवचनों में यथार्थ रीति से समझायी गयी है - "वस्तु स्वभावरूप धर्म, उत्तमक्षमादिक दशधर्म, सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र रूप धर्म और जीवरक्षारूप धर्म इन चारों प्रकारों में शुद्ध चेतना रूप धर्म एक ही प्रकार का है।"

यह दशधर्म मुनिदशा में होते हैं, मुनिदशा मोक्षमहल की सीढ़ी है। उसके एक ओर वैराग्यरूपी और दूसरी ओर त्यागरूपी सुन्दर सुदृढ़ काष्ठ लगे हुए हैं तथा दशधर्मरूपी दस विशाल सीढ़ियाँ चढ़ने योग्य हैं अर्थात् इन दस धर्मों का पालन करने जीव मुक्ति प्राप्त करता है तथा यह उत्तमक्षमादि दस धर्म मुनियों के धर्म हैं। किन्तु गृहस्थ श्रावकों के भी सम्यग्दर्शनपूर्वक उत्तमक्षमादि धर्म किसप्रकार हो सकते हैं, इसका विवेचन भी प्रवचन के माध्यम से किया गया है।

4.2.1.6. वचनामृत प्रवचन साहित्य

सूत्र रूप में निबद्ध अथवा संक्षेप रूप में कथित वाक्यावली वचनामृत की श्रेणी में आती है। वचनामृत साहित्य में 'गागर में सागर' की उक्ति चरितार्थ होती है। उक्त संक्षिप्त साहित्य में समाहित गूढ़ रहस्यों को जन सामान्य हेतु सुलभ बनाने के लिये प्रवचन परम्परा का आविर्भाव हुआ। जिसे वचनामृत साहित्य कहा जाता है। कानजी स्वामी ने बहिनश्री द्वारा अभिव्यक्त संक्षिप्त साहित्य के रहस्यों का बोधन प्रवचन साहित्य में किया

है। जिसका वर्गीकरण निम्नरूप में हुआ है -

1. परमागम सार	2. द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर
3. जिणसासनं सव्वं	4. गुरुदेवश्री के वचनामृत
5. प्रवचनरत्नाकर पीयूष	6. अध्यात्म-वैभव भाग-1

1. परमागम सार - कानजी स्वामी के विधि परमागमों एवं अनुभव-प्रकाश, मोक्षमार्गप्रकाशक जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए प्रवचनों में से जिनशासन के रहस्य को उद्घाटन करनेवाले 1008 वचनामृतों का संकलन इस 'परमागम सार' में किया गया है। हिन्दी अनुवाद रमेश चन्द सोगानी, भावनगर द्वारा किया गया। इसमें समाहित वचनामृत इस प्रकार हैं:-

हे भगवान ! आपने जो चैतन्य भण्डार खोल दिया है, उसके सामने कौन ऐसा होगा कि जिसको चक्रवर्ती का वैभव भी तृणवत् न लगे ? अहा...हा ! अन्तर अवलोकन में तो अमृतरस झरता है ओर बाह्य अवलोकन में तो विष-सा अनुभव होता है। 1244।।

निर्मल पर्याय और त्रिकाल द्रव्य का ज्ञान और अनुभव होने पर दृष्टि का आसन तो अव्यक्त पर है, व्यक्त के प्रति उदासीन है। 1332।।

“ज्ञान के अभ्यास से भेदज्ञान होता है व भेदज्ञान के अभ्यास से केवलज्ञान होता है।” 1613।।

“मैं एक समय में ही चिदानन्द परिपूर्ण हूँ.....ऐसी प्रतीति होने के बाद अल्प राग रहता है, जिसे पर के पक्ष में डाल देते हैं।” 11005।।

“जैन कोई सम्प्रदाय नहीं है, गुणस्वरूप जो चैतन्यधन है, उसका जिसने पर्याय में उपादेय कर अनुभव किया उसने राग व अज्ञान को जीता है और वही जैन कहलाता है।” 11008।।

2. द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर

कानजी स्वामी के विविध प्रवचनों में से स्वानुभूति का स्वरूप,

महिमा एवं पात्रता से सम्बन्धित प्रवचनांशों का संकलन द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर में 1161 वचनामृत समाहित हैं। इसका हिन्दी अनुवाद मगनलाल जैन द्वारा किया गया। इसमें उद्धृत वचनामृत बोल इस प्रकार हैं -

- मैं सिद्ध समान ही हूँ तथा अरिहन्त समान ही हूँ - ऐसे विश्वास में शुद्ध अस्तित्व का जोर है। जैसे अरिहन्त-सिद्ध हैं वैसा ही मैं हूँ इसप्रकार दो की समानता में शुद्ध अस्तित्व के विश्वास का बल है।

- शरीर, राग तो आत्मा नहीं है, किन्तु एक समय की शुद्ध पर्याय-क्षायिक पर्याय भी आत्मा नहीं है। वास्तव में तो त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव परमपारिणामिक भाव ही आत्मा है। संवर-निर्जरा मोक्ष पर्याय भी आत्मा नहीं हैं, उपादेय नहीं हैं, उपादेय तो कारण परमात्मा ही है।

- भाई ! एक बार मोह की मिठास को छोड़ दे। जिसप्रकार गुड़ की भेली मिठास से भरपूर है, उसीप्रकार भगवान अमृत की भेली है, वहाँ एक बार मति स्थिर कर। बड़े-बड़े बंगले, उनके फर्नीचर तथा अन्य साधन-सुविधाओं में मति इतनी एकाकार हो गई है कि भाई ! मरते समय वह छोड़ना तुझे कठिन लगेगा। इसलिए वहाँ से मति हटा ले।

- पूर्व काल में जो रामचन्द्रजी आदि महापुरुष और तीर्थंकर आदि हुए वे सब केवलज्ञान से पूर्व मुनिदशा या गृहस्थाश्रम में बारम्बार वस्तु का स्तवन करते थे कि वस्तु ऐसी अचिन्त्य है, पर्याय का सामर्थ्य ऐसा अचिन्त्य है, परमाणु की शक्ति इतनी है, उसकी पर्याय की शक्ति इतनी है - इसप्रकार वस्तु का चिन्तन करते थे और भगवान का भी स्तवन करते थे।

- दूसरों के साथ लड़ना, जीतना और बेचारे दूसरों को अपमानित करना तो कायर का काम है, आत्मा में उतरना शूरवीरता है।

3. जिणसासणं सव्वं

समयसार गाथा 15 में शुद्धात्मा की अनुभूति से सम्पन्न ज्ञानी को जिनशासन कहा गया है। इसी विषय को स्पष्ट करने के लिये कानजी

स्वामी के परमागमसार एवं गुरुदेवश्री के वचनामृत में से उक्त विषय सम्बन्धी वचनामृतों का संकलन शशिकान्त एम. सेठ द्वारा किया गया है। गुरुदेवश्री के वचनामृत एवं परमागमसार में से उद्धृत रत्न इस प्रकार हैं—

– ज्ञानी को भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप व राग आकुलता स्वरूप – ऐसे दोनों भिन्न अर्थ प्रतीत होते हैं। त्रिकाली नित्यानन्द चैतन्यप्रभु ऊपर दृष्टि प्रसरने पर साथ में जो ज्ञान होता है वह, चैतन्य व राग को अत्यन्त भिन्न जानता है। जिसको तत्त्व की दृष्टि हुई है उसी को सम्यग्ज्ञान होता है। जिसको दृष्टि प्राप्त नहीं है उसमें चैतन्य व राग को भिन्न जानने की क्षमता नहीं होती।।49।।

– ज्ञानी को देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, पूजा, प्रभावना वगैरह के जैसे शुभभाव होते हैं, वैसे अज्ञानी को होते ही नहीं।।195।।¹

– आत्मानुभव के बिना सब कुछ शून्य है। लाख कषाय की मन्दता करो या लाख शास्त्र पढ़ो, किन्तु अनुभव बिना सब कुछ व्यर्थ है। यदि कुछ भी न सीखा हो पर अनुभव किया हो तो उसने सब कुछ सीख लिया, उसके बात करना भले ही न आये तो भी वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा।।194।।

– सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने जिस आत्मा को ध्रुव कहा है, उसका जो जीव अवलम्बन ले, उसे उस ध्रुव स्वभाव में से शुद्धता प्रगट होती है। उसको आत्मा शुद्धरूप से उल्लसित हुई – ऐसा कहने में आता है। जैसे अनादि अज्ञानवश पुण्य-पाप भावरूप मैं हूँ ऐसे मिथ्यात्व का अनुभव, दुःख का अनुभव है, वैसे ही ज्ञानी को अतीन्द्रिय आनन्द अमृत का भोजन है।।271।।

4. गुरुदेवश्री के वचनामृत

कानजी स्वामी के देहावसान के पश्चात् उनकी स्मृति में निर्मित 'श्री दिगम्बर जैन पंचमेरु नन्दीश्वर जिनालय' 'गुरुदेवश्री कानजी स्वामी वचनामृत भवन' 'बहिन श्री चम्पाबहिन वचनामृत भवन' में वचनामृत को उत्कीर्ण कराने के उद्देश्य से 'गुरुदेवश्री के वचनामृत' नामक लघु

1. जिणसासर्णं सर्व्वं (कानजी स्वामी), पृ. 11

संकलन संकलित किया गया। यह कानजी स्वामी द्वारा समयसारादि दिगम्बर जैन ग्रन्थों पर हुए प्रवचनों में से चुने गये 287 बोलों का संग्रह है, जिसमें से कुछ बोल इसप्रकार हैं¹—

“जिसे पुण्य की रुचि है उसे जड़ की रुचि है। उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं है। 152 ॥

भगवान ने कहा है कि पर्याय दृष्टि का फल संसार है और द्रव्यदृष्टि का फल वीतरागता, मोक्ष है। 15 ॥

कारण परमात्मा ही वास्तव में नित्य आत्मा है। नित्य का निर्णय करती है, अनित्य पर्याय, किन्तु उसका विषय है कारण परमात्मा। इसलिये वही वास्तव में आत्मा है। पर्याय को अभूतार्थ कहकर व्यवहार कहकर अनात्मा कहा है। 122 ॥

अरे जीव! एक क्षण विचार तो कर! कि संयोग बढ़ने से तेरे आत्मा में क्या बढ़ा? अरे! संयोगों के बढ़ने से आत्मा की वृद्धि मानना वह तो मनुष्य देह को हार जाने जैसा है। भाई! तेरे ज्ञानस्वरूप आत्मा के साथ ये संयोग एकमेक नहीं हैं। इसलिये उनसे भिन्नता की प्रतीति कर। 1208 ॥

5. प्रवचनरत्नाकर पीयूष

कानजी स्वामी के 21 प्रवचन ग्रन्थों में से प्रवचनों के संक्षिप्त सार को वचनामृत के रूप में मन्नूलाल वकील द्वारा संकलित एवं सिद्धायतन द्रोणगिरि से प्रकाशित किया गया है। जिसे प्रवचन रत्नाकर पीयूष नाम से जाना जाता है। इसमें 11 प्रवचन ग्रन्थों को सम्मिलित किया गया है। अद्वितीय चक्षु, नयप्रज्ञापन, वस्तुविज्ञानसार, कारणशुद्धपर्याय, परमार्थ-वचनिका, अध्यात्म-सन्देश, मुक्ति का मार्ग, भेदविज्ञानसार, श्रावक-धर्मप्रकाश, ज्ञानस्वभाव ज्ञेय-स्वभाव, और आत्मप्रसिद्धि। इन ग्रन्थों में उद्धृत वचनामृत इसप्रकार हैं²—

1. गुरुदेवश्री के वचनामृत (कानजी स्वामी), 39-8

2. प्रवचन रत्नाकर पीयूष (कानजी स्वामी), पृ. 268

भाई! यदि मोक्ष की इच्छा है तो बाहर की चमत्कारी, विस्मयकारी वस्तुओं की ओर देखना छोड़ दे तथा अनन्त विस्मयों से भरा भगवान् आत्मा जो तू स्वयं है, तेरे ही देह देवालय में विराजता है; उसमें रुचि कर, रमणता कर; वह एक ही मोक्षमार्ग है।।203।।

अरे! भाई जो कुछ करना है वह सब अन्तरंग में ही करना है, अपने आत्मा में ही करना है और आत्मा में भी क्या करना है, कुछ भी तो नहीं, मात्र आत्मा को जानना है, उसी का श्रद्धान् करना है एवं उसी में स्थिर होना है। इसके सिवाय आत्मा में कुछ नहीं करना है।।237।।

धर्म-ध्यान दो प्रकार का है - एक निश्चय और दूसरा व्यवहार। आत्मा का परम ध्यान निश्चय धर्मध्यान है। धर्म के धारक धर्मी आत्मद्रव्य जहाँ अपने परिपूर्ण स्वभाव में विद्यमान है, उसमें एकाग्रता करना, लीन होना ही निश्चय धर्मध्यान है तथा तत्संबंधी जो शुभ विकल्प है, वह व्यवहार धर्मध्यान है।।261।।

जिसप्रकार दायें के बाद बायाँ और बायें के बाद दायें पैर उठाने का क्रम है, उसीप्रकार जिस समय जो पर्याय होनी हो, उस समय वही पर्याय होती है - ऐसा ही नियम क्रम है, वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है। फिर भी जो पर्यायों को क्रमबद्ध नहीं मानते उनके मत में सर्वज्ञता का ही अभाव ठहरता है अर्थात् वह सर्वज्ञ को ही नहीं जानता।।310।।

6. अध्यात्म वैभव भाग-1

कानजी स्वामी के समयसार ग्रन्थ पर हुए प्रवचनों में से प्रवचन रत्नाकर भाग 1 से 11 में से विषयानुसार वचनामृतों का संकलन गुजराती भाषा में अध्यात्मवैभव भाग 1-2 नाम से किया गया है। अध्यात्म वैभव भाग 1 का हिन्दी अनुवाद पं. राजकुमार शास्त्री, गुना द्वारा किया गया। इसमें भगवान् आत्मा, आत्मानुभूति, शुद्धोपयोग, भेदज्ञान, मोक्षमार्ग रत्नत्रय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य-पाप, देव-शास्त्र-गुरु, धर्म, ध्यान और ध्येय

जैसे कुल 21 विषयों पर वचनामृत का संकलन किया गया है। जिसमें 1357 वचनामृत संकलित हैं। वचनामृत के कुछ अंश इसप्रकार हैं¹ -

शुद्धात्मा का स्वरूप अभिधेय है। अखण्ड आनन्द चैतन्य ध्रुव प्रभु परमात्मस्वरूप ये ध्येय बताने का प्रयोजन है। जानती है पर्याय पर ध्येय त्रिकाली शुद्धात्मा है। त्रिकाल शुद्ध, ध्रुवस्वरूप, एकरूप त्रिकाल जिसमें पर्याय का भी भेद नहीं - ऐसा शुद्धात्मा का स्वरूप अभिधेय है।।1330।।

अहा....! भगवान आत्मा अन्तर में चैतन्यप्रभु आनन्द अमृत का सागर है। इसमें जो राग की वृत्ति उठती है, वह जहर है।।380।।

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देव का देव' यह स्त्री का (देह का) रमण तुझे नहीं होता। भगवान तू तो मोक्षरूपी लक्ष्मी का रमनार देव है, देव का भी देव है, देवाधिदेव है।।117।।

दिशा बदले तो दशा बदल जाती है, पर से हटकर ज्ञान की दिशा स्वतरफ हो, तब सम्यग्ज्ञान होता है। अहा..!! दशा, दशावान तरफ ढले तो ज्ञान सच्चा है, बाकी सब थोथा है, व्यर्थ है।।685।।

अहो ! धर्म की मुद्रा क्या ? तो जैसे चालू नोट पर मुद्रा मुख्य है, वैसे सुन्दर आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द ये धर्म की मुद्रा है और ये मुख्य हैं।।1262।।

4.2.1.7. विविध प्रवचन साहित्य

उक्त विषयों के अतिरिक्त कानजी स्वामी ने अन्य अनेक ग्रन्थों व विषयों पर भी प्रवचन किये हैं -

1. वीतराग विज्ञान प्रवचन भाग 1 से 6
2. अष्ट प्रवचन भाग 1 से 3
3. चैतन्य चमत्कार

1. वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग 1-6

कानजी स्वामी को समयसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों की भाँति

1. अध्यात्म-वैभव-1 (कानजी स्वामी), पृ. 282

छहढाला के छन्द अत्यन्त प्रिय थे और वे अपने दैनिक प्रवचनों में भी उद्धरणों के रूप में छहढाला के छन्दों का उच्चारण अत्यन्त भावपूर्वक करते थे। छहढाला ग्रन्थ पर भी उनके धाराप्रवाहरूप से प्रवचन हुए हैं, जिन्हें वीतराग-विज्ञान नाम से संकलित किया गया है। इसके छह भाग हैं - प्रत्येक भाग में छहढाला की एक-एक ढाल पर प्रवचनों का प्रकाशन है-

वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग - 1

छहढाला की पहली ढाल पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचनों का संकलन वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-1 के नाम से ब्र. हरिलाल द्वारा किया गया। पहली ढाल के प्रवचनों में से दोहन करके अन्त में 201 प्रश्नोत्तर दिये गये हैं, जिससे छहढाला का अभ्यास सरल हो गया है। इसमें मंगलाचरण करते हुए सर्वप्रथम तीनलोक में श्रेष्ठ वीतराग-विज्ञानता को नमस्कार किया गया है तथा मिथ्यात्व एवं अज्ञान के कारण संसार की चारों गति में जो दुःख जीव भोग रहा है, उसका वर्णन पहली ढाल के अन्त में करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं कि -

“संसार में अज्ञानी का सबसे ऊँचा पुण्य-स्थान जो वैमानिक स्वर्ग, उसमें भी सम्यग्दर्शन के बिना दुःख पाता है।” “जीव मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण देव में से मरकर सीधा एकेन्द्रिय में जाता है और महान दुःख पाता है - इसप्रकार निगोद में से निकला हुआ जीव चार गति का भव करके फिर निगोद में चला जाता है और परिवर्तन को पूरा करता है। जीव का यह परिभ्रमण कब मिटे, जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तब।”

वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-2

छहढाला की दूसरी ढाल पर कानजी स्वामी के प्रवचन में आये विषय को और अधिक स्पष्ट करने की अपेक्षा से अन्त में 440 प्रश्नोत्तरों का वर्णन किया गया है, जिससे कृति अधिक महत्वपूर्ण बन गई है। इस ढाल में दुःखों के कारणभूत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप बताकर उन्हें छोड़ने का उपदेश दिया गया है।

“अनादि से अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर जीव ने अपने को पुण्य-पापरूप और शरीररूप ही मान रक्खा है - यह अगृहीत मिथ्यात्व है। अगृहीत अर्थात् किसी के उपदेश से जो नयी ग्रहण नहीं की गई, किन्तु अनादि से चली आई है - ऐसी भूल; उसको नैसर्गिक - मिथ्यादर्शन भी कहते हैं।”

“हे जीव ! तेरा स्वरूप भगवान ने जैसा कहा है वैसा तू जान। इसको जाने बिना तेरी भूल छूटेगी नहीं और भ्रमण मिटेगा नहीं। आत्मज्ञान के बिना बहुत शुभभाव करके जब स्वर्ग में गया तब भी साथ में अगृहीत मिथ्यात्व को लेकर के गया, इस कारण वहाँ भी दुःखी ही हुआ। आत्मा के ज्ञान के बिना कहीं भी सुख का स्वाद नहीं आता।”¹¹

वीतराग विज्ञान भाग-3

छहढाला की तीसरी ढाल पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचन वीतराग-विज्ञान भाग-3 गुजराती भाषा में ब्र. हरिलाल द्वारा संकलित हैं। जिसका हिन्दी अनुवाद मगनलाल द्वारा किया गया। इसमें सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि -

“आत्मा की रुचिरूप यह सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है, भला है, आत्मा की रुचि को सम्यक्त्व कहा अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन का विषय अकेला स्वतत्त्व है, पर से भिन्न अपने स्वतत्त्व को लक्ष्य में लेने से राग से भी भिन्न अनुभव होता है। ऐसे अनुभवपूर्वक आत्मा की श्रद्धा सो निश्चय सम्यग्दर्शन है। इसमें अकेले स्वतत्त्व में दृष्टि है। स्व में लक्ष्य करते ही परद्रव्य और परभावों के साथ एकत्व बुद्धि छूट जाती है, इसप्रकार स्व में स्व बुद्धि रूप आत्मरुचि वही सम्यग्दर्शन है।”¹²

वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-4

छहढाला की चौथी ढाल पर कानजी स्वामी द्वारा किये गये प्रवचनों

1. वीतराग विज्ञान प्रवचन-2 (कानजी स्वामी), पृ. 27

2. वीतराग विज्ञान प्रवचन-3 (कानजी स्वामी), पृ. 40

का संकलन वीतराग-विज्ञान भाग-4 चतुर्थ ढाल में सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बतलाकर उसकी आराधना करने का उपदेश दिया है। सम्यग्ज्ञान कैसा है ? उसका विवेचन कानजी स्वामी के प्रवचनों में किया गया है -

“जो अनन्त धर्म वाले स्व-पर पदार्थों का प्रकाशन करने के लिये सूर्य समान हैं। सम्यग्ज्ञान से स्व-पर सर्व पदार्थों का सच्चा स्वरूप जाना जाता है। अतः सम्यक्त्व के साथ सम्यग्ज्ञान की आराधना करने के लिये कहा गया है।”

“अहो ! जीव को परम सुख का कारण सम्यग्ज्ञान है। अतः उसकी महिमा दौलतरामजी ने बताई है, उस महिमा का विश्लेषण करते हुए कानजी स्वामी ने बताया है कि - “अहो ! जगत में जीव को सम्यग्ज्ञान के समान सुख का कारण कोई नहीं है। जन्म-जरा-मरण के रोग का निवारण करने के लिये यह सम्यग्ज्ञान परम अमृत है। इस अमृत से जन्म-मरण का नाश करके जीव अमरपद को पाता है। आत्मा के सम्यग्ज्ञान में सर्वसमाधान और परम सुख है। वह संसार का सम्पूर्ण विष उतारने वाला उत्कृष्ट अमृत है।”

वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-5

छहढाला की पाँचवीं ढाल पर कानजी स्वामी द्वारा किये गये प्रवचनों का संकलन वीतराग विज्ञान प्रवचन भाग-5 में किया गया है। इसमें बारह भावनाओं का मार्मिक चित्रण किया गया है -

श्रावक की अधिक शुद्धता बढ़ने पर मुनिदशा होती है और वह सकल व्रतों अर्थात् मुनिव्रतों का पालन करता है। मुनि होते समय वैराग्यवर्धक बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करता है - धर्मात्मा श्रावक वैराग्यपूर्वक मुनिदशा की भावना सदा भाते रहते हैं -

“अहो ! मुनियों की तो बात क्या कहें ! मुनिराज तो सकल व्रत के

धारक होते हैं तथा वे मोक्ष का महान पुरुषार्थ करते हैं, इसलिये महान भाग्यवान हैं, संसार, शरीर और भोगों से उदासीन होकर निरन्तर आनन्द दशा में ही झूलते रहते हैं तथा सविकल्प दशा में बारह भावनाओं का चिन्तन करते हैं।¹¹

वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-6

छहढाला की छठवीं ढाल पर हुए कानजी स्वामी के प्रवचन वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-6 में संकलित हैं। इसमें सकलचारित्र का विशद विवेचन किया गया है।

छठवीं ढाल में मोक्षमार्ग के पथिक, महाभाग्यवान महाव्रती, मोह से भिन्न शुद्ध रत्नत्रय के धारक, भवतन और भोगों से विरक्त मुनिराजों का भेदज्ञानमय वीतराग जीवन एवं 28 मूलगुण सहित आचरण का स्वरूप स्पष्ट किया है। कानजी स्वामी कहते हैं -

“अहो! मुनियों को अनुभव के आनन्द की लहर में चैतन्य सुख का महासागर उछलता है। इन्द्र या चक्रवर्ती को भी वैसा आनन्द नहीं है। इसकी महिमा की क्या बात।”

“वीतरागी मुनिराज स्वरूपाचरण द्वारा जब आत्मध्यान में लीन होते हैं, तब ध्यान, ध्याता, ध्येय का भेद नहीं रहता। वहाँ कर्त्ता-कर्म और क्रिया तीनों अभिन्न रूप से आत्मा से ही हैं। शुद्धोपयोग की निश्चल दशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक रूप शोभित होते हैं। उस समय के आनन्द की बात क्या कहना।”¹² मुक्ति के साधक मुनिराज के आचरण के सम्बन्ध में कानजी स्वामी के भाव इसप्रकार हैं - “देह के प्रति उदासीन मुनिराज देह की शोभा के लिये कुछ नहीं करते, क्योंकि उनका आत्मा स्वयं रत्नत्रय से शोभित हो रहा है। उन्हें देह के प्रति ऐसी उदासीनता होती है कि वे स्नान आदि क्रियायें भी नहीं करते हैं।”¹³

1. वीतराग विज्ञान प्रवचन-5 (कानजी स्वामी), पृ. 09

2. वीतराग विज्ञान प्रवचन-6 (कानजी स्वामी), पृ. 79

3. वीतराग विज्ञान प्रवचन-6 (कानजी स्वामी), पृ. 25

2. अष्ट प्रवचन भाग 1-3

सन्त तारण-तरण द्वारा रचित ज्ञान समुच्चयसार, उपदेशशुद्ध सार, श्रावकाचार, ममल पाहुड़ आदि ग्रन्थों के विशिष्ट अंशों पर कानजी स्वामी ने कुल 24 प्रवचन किये हैं। प्रत्येक भाग में आठ-आठ प्रवचनों को संकलित किया गया है। इसमें अनुभूति की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। गुजराती भाषा में ब्र. हरिलाल ने संकलन का कार्य किया है।

अष्ट प्रवचन भाग-1

अष्ट प्रवचन भाग-1 में सम्यक्त्व की विशद एवं सुन्दर व्याख्या कानजी स्वामी ने की है। शुद्धात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन, अनुभूतियों का सुगम चित्रण और अध्यात्मभावों की स्पष्ट झलक इन प्रवचनों में बताई गई है। ज्ञान समुच्चयसार में से 25वीं गाथा में सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन किया गया है।

“मोक्षार्थी को सबसे पहले सम्यग्दर्शन आवश्यक है। बिना सम्यग्दर्शन के मोक्षमार्ग में डग भी नहीं चला जा सकता। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और व्रत, तप सबके सब निःसार हैं, नीरस हैं। इसप्रकार सम्यक्त्व की श्रेष्ठता जानकर उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

और सम्यग्दर्शन किसको होता है, यह बात 26वीं गाथा में बताई गई है - “सम्यक्त्व का प्रकाश किसी विरले जीव को ही होता है। किसी विरले जीव की ही दृष्टि अपने अर्थ के ऊपर प्रयोजनभूत वस्तु स्वभाव के ऊपर जाती है। सम्यग्दर्शन परम अद्भुत रत्न है, किसी निकट मोक्षगामी भव्यजीव को वह प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हुये कानजी स्वामी ने ग्रन्थ के अन्त में बताया है कि सम्यक्त्वी ज्ञानी निःशंकता पूर्वक अपने ज्ञानरूप का रागादि से अत्यन्त भिन्न अनुभव करता है और ज्ञानरूप के अनुभव द्वारा समस्त कर्मों का नाश करके सिद्धपद प्राप्त कर लेता है।”

अष्ट प्रवचन भाग-2

तारण स्वामी द्वारा रचित उपदेश शुद्ध सार के मोक्षमार्ग नामक अधिकार पर कानजी स्वामी ने प्रवचन किये हैं। मोक्षमार्ग का सार, मोक्षमार्ग का मूल सम्यग्दर्शन है। उसका स्वरूप इस अष्टप्रवचन में समझाया गया है। अष्ट प्रवचन के उपरान्त दो परिशिष्ट दिये गये हैं - प्रथम परिशिष्ट में समयसार गाथा 144 पर प्रवचन हैं; जिसमें सम्यक्त्व प्राप्त करने की रीति अनोखे ढंग से समझायी गई है -

“इन्द्रिय और मन से जो परलक्ष्य होता है उसको बदलकर मतिज्ञान को स्व में एकाग्र करने से आत्मा प्रगट प्रसिद्ध होता है अर्थात् अनुभव होता है। आत्मा का प्रगटरूप अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।”¹

दूसरे परिशिष्ट में सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की द्रव्यदृष्टि का रहस्य बताया है-

सर्वज्ञ भगवान के उपदेश में मोक्षमार्ग कहा गया है - उपदेश का सार क्या है? यह बात उपदेश शुद्धसार में 492 गाथा के प्रवचन में कानजी स्वामी ने कहा है कि शुद्ध उपयोग ही मोक्ष जाने का जहाज है - “निर्मल स्वभावी आत्मा स्वयं अपने को तारने वाला है, आत्मा शुद्धोपयोग स्वरूप है, वह स्वयं जहाज के समान है। जिसप्रकार जहाज स्वयं ही तैरकर समुद्र को पार करता है उसी प्रकार शुद्धोपयोगी आत्मा स्वयं के कर्म क्षय करके संसार से पार होता है। शुद्धोपयोग ही कर्मक्षय का कारण है और वही भवसमुद्र से तरने की नौका है।”²

अष्ट प्रवचन भाग-3

ज्ञान समुच्चयसार, उपदेशशुद्धसार ग्रन्थों की अनेक गाथाओं पर 16 प्रवचन हो चुके हैं। अब श्रावकाचार में तारण स्वामी ने श्रावक का धर्म कैसा है ? इसका विशद विवेचन करते हुए कानजी स्वामी ने स्पष्ट किया है - देखो! यहाँ श्रावक को भी स्वात्मचिन्तनरूप निश्चय धर्मध्यान का

1. अष्टपाहुड़ प्रवचन भाग-2 (कानजी स्वामी), पृ. 151

2. वही, पृ. 2

उपदेश दिया गया है। श्रावक के भी कभी-कभी निर्विकल्प ध्यान होता है। श्रावक के ध्यान में स्वात्म चिन्तन करने योग्य है। स्वात्मचिन्तन का बार-बार प्रयोग ही श्रावक का मुख्य निश्चय आचार है।

जैन साधु कैसा होता है ? यह भी श्रावकाचार में कहते हैं -

“जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित शुद्ध संयमी है, जिनरूप धारण करने वाला है और शुद्ध आत्मा के अनुरूप अर्थ को साधता है वही साधु है। अहो! ऐसे वीतरागमार्गी जैन साधु शुद्ध भाव से अपने आत्मा को तो भवसमुद्र से तारते ही हैं किन्तु शुद्धमार्ग के उपदेश से जगत के भव्यजीवों को भी वे तारने वाले हैं।”

2. चैतन्य चमत्कार

सन् 1976 में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने समाज में फैली हुई धारणाओं के निराकरण हेतु मुंबई में कानजी स्वामी से अनेक इण्टरव्यू लिये, जिन्हें आत्मधर्म हिन्दी के सम्पादकीयरूप में प्रकाशित किया गया। फलस्वरूप कानजी स्वामी के उत्तर से समाज में फैली हुई धारणाओं का निराकरण हुआ। उक्त इण्टरव्यू को चैतन्य चमत्कार नाम से प्रकाशित किया गया। चैतन्य चमत्कार में उद्धृत अंश इसप्रकार है -

“हमारे पास तो चैतन्य का चमत्कार है, जादू की लकड़ी का नहीं।”
- यह उत्तर कानजी स्वामी ने उस समय दिया जब उनसे पूछा गया कि हमने सुना है कि आपके पास कोई जादू की लकड़ी का चमत्कार है। आप जिसपर फेर देते हो वह आपका भक्त हो जाता है, निहाल हो जाता है, सम्पन्न हो जाता है। कानजी स्वामी ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा - “हमारे पास तो कोई जादू की लकड़ी नहीं है। हाथ में पसीना आता है उससे शास्त्र खराब न हो जायें इसलिये लकड़ी रखते हैं। हाथ की लकड़ी दिखाते हुये बोले “यह लकड़ी कोई जादू की लकड़ी है। यह

लोगों का कोरा भ्रम है। इसी भ्रम के कारण एक बार तो कोई लकड़ी चुरा ले गया।¹¹ इस तरह से कानजी स्वामी से लिये गये इण्टरव्यू चैतन्य चमत्कार में समाहित हैं।

4.2.2. भाषा की दृष्टि से वर्गीकरण

कानजी स्वामी गुजराती एवं हिन्दी भाषा के ज्ञाता थे। जिससे उनका साहित्य उक्त भाषाद्वय में ही प्रसारित हुआ है।

4.2.2.1 गुजराती भाषा में रचित प्रवचन साहित्य

कानजी स्वामी की मूल भाषा गुजराती है। इसमें उनका प्रवचनसाहित्य सर्वाधिक है। तथा उनके समर्थकों में भी अधिकांश लोग गुजराती जानने वाले थे। अतः इसका विस्तार अधिक है। मोक्षमार्गप्रकाशक, अष्टपाहुड, द्रव्यसंग्रह इन पर कानजी स्वामी ने गुजराती भाषा में प्रवचन किये। पर पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित नहीं हो सके।

इन पर प्रवचन हिन्दी भाषा में मोक्षमार्गप्रकाशक भाग 1 से 4, अष्ट-पाहुड भाग-1, द्रव्यसंग्रह भाग-1 के नाम से संकलित होकर पुस्तकाकार रूप से प्रकाशित हुए हैं।

कानजी स्वामी का संपूर्ण प्रवचन साहित्य गुजराती भाषा में इसप्रकार है-

- अध्यात्म सन्देश
- अध्यात्म रत्नत्रय प्रवचन
- अलिंगग्रहण प्रवचन
- आत्मसिद्धि प्रवचन
- आत्मसम्बोधन
- आत्मभावना
- आत्मप्रसिद्धि प्रवचन
- आत्मवैभव

1. चैतन्य चमत्कार (कानजी स्वामी), पृ. 06

- कारणशुद्धपर्याय
- तत्त्वज्ञानतरंगिणी
- दिव्यध्वनिसार भाग-1, 2
- नयप्रज्ञापन प्रवचन
- नाटक समयसार प्रवचन भाग-1
- नियमसार प्रवचन भाग-1, 2
- प्रवचन पीयूष
- निमित्तोपादान विवेचन
- पदार्थ विज्ञान
- परमात्मप्रकाशप्रवचन
- परमार्थवचनिका प्रवचन
- प्रवचनरत्नचिन्तामणिभाग-1, 2
- प्रवचनरत्नाकर भाग-1 से 11
- पंचास्तिकाय प्रवचन भाग-1 से 2
- ज्ञान चक्षु
- प्रवचनसुधा भाग-1, 2
- भेदविज्ञानसार
- मोक्षमार्ग की किरणें भाग 1 से 3
- मूल में भूल
- योगसार प्रवचन
- वचनामृत प्रवचनभाग-1 से 4
- वस्तुविज्ञानसार
- समाधितन्त्र-प्रवचन
- समयसार प्रवचन भाग 1 से 5
- ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव

- कलशामृत प्रवचन भाग 1 से 3
- प्रवचन नवनीत 1 से 4
- सम्यग्दर्शन भाग 1 से 6
- प्रवचनरत्नाकर भाग 1 से 5
- श्री प्रवचनसार प्रवचनों
- ध्येयपूर्वक ज्ञेय
- ज्ञायकभाव प्रवचन
- अनुभवप्रकाश प्रवचन
- वचनामृत रहस्य
- समयसार दोहन
- अद्वितीय चक्षु
- ज्ञानगोष्ठी
- इष्टोपदेश प्रवचन
- मुक्ति का मार्ग
- श्रावक धर्मप्रकाश
- देशव्रतोद्योतन प्रवचन
- पंचकल्याणक प्रवचन
- भक्तामर प्रवचन
- विषापहार स्तोत्र प्रवचन
- जिनमहिमा स्तोत्र प्रवचन
- ऋषभ जिनस्तोत्र प्रवचन
- अपूर्व अवसर प्रवचन
- कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग 1-2
- वैराग्य भावना प्रवचन
- महामहोत्सव प्रवचन

- दशलक्षण धर्म
- परमागमसार
- परम पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत (राजकोट)
- दृष्टिनां निधान
- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर
- भगवान आत्मा
- विधि विज्ञान
- जिणसासणं सव्वं
- प्रवचन सागर के अनमोल मोती
- अध्यात्म झरना भाग 1 से 4
- गुरुदेवश्री के वचनामृत (सोनगढ़)
- पर्याय और योग्यता
- उपासकाध्ययन
- गुरुवाणी
- अध्यात्म वैभव भाग-1, 2
- वीतराग विज्ञान प्रवचन भाग 1 से 6
- आत्मस्वभाव का गुरुगम रहस्य
- अष्टप्रवचन भाग 1 से 3
- चैतन्य चमत्कार

4.2.2.2. अनूदित प्रवचन साहित्य

कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित प्रवचन साहित्य का विविध भाषाओं में अनुवाद किया गया है, जो अनुदित साहित्य के रूप में परिभाषित किया जाता है। कानजी स्वामी का प्रवचन साहित्य मूल रूप में गुजराती अथवा हिन्दी भाषा में है। परन्तु गुजराती का हिन्दी, मराठी एवं अंग्रेजी में, हिन्दी का गुजराती, मराठी एवं अंग्रेजी में अनुवाद किया गया है।

हिन्दी भाषा में अनूदित प्रवचन साहित्य

हिन्दी भाषी लोगों की तत्त्व जिज्ञासा के कारण कानजी स्वामी का प्रवचन साहित्य हिन्दी में भी उपलब्ध होता है, जिसका वर्गीकरण निम्नानुसार है-

- अध्यात्म सन्देश
- अध्यात्म रत्नत्रय प्रवचन
- अलिंगग्रहण प्रवचन
- आत्मसिद्धि प्रवचन
- आत्मप्रसिद्धि प्रवचन
- कारणशुद्धपर्याय
- दिव्यध्वनिसार भाग -1, 2
- बृहद्द्रव्यसंग्रह प्रवचन भाग-1
- नयप्रज्ञापन प्रवचन
- नाटक समयसार प्रवचनभाग-1
- निमित्तोपादान विवेचन
- पदार्थविज्ञान
- परमार्थवचनिका प्रवचन
- प्रवचनरत्नचिन्तामणि भाग-1, 2
- प्रवचनरत्नाकर भाग-1 से 11
- भेदविज्ञानसार
- मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन भाग-1 से 4
- मोक्षमार्ग की किरणें भाग 1 से 2
- मूल में भूल
- योगसार प्रवचन

- वचनामृत प्रवचनभाग-1 से 3
- वस्तुविज्ञानसार
- समाधितन्त्र-प्रवचन
- समयसार प्रवचन भाग 1 से 4
- ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव
- प्रवचन नवनीत 1
- सम्यग्दर्शन भाग 1
- अनुभवप्रकाश प्रवचन
- अद्वितीय चक्षु
- ज्ञानगोष्ठी
- अष्टपाहुड़ प्रवचन भाग-1
- मुक्ति का मार्ग
- श्रावक धर्मप्रकाश
- देशव्रतोद्योतन प्रवचन
- भक्तामर प्रवचन
- विषापहार स्तोत्र प्रवचन
- अपूर्व अवसर प्रवचन
- महा-महोत्सव प्रवचन
- दशलक्षण धर्म
- परमागम सार
- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर
- गुरुदेवश्री के वचनामृत (सोनगढ़)

- प्रवचन रत्नाकर पीयूष
- अध्यात्म वैभव भाग-1
- वीतराग विज्ञान प्रवचन भाग 1 से 6
- अष्ट प्रवचन भाग 1 से 3
- चैतन्य चमत्कार

● मराठी भाषा में अनूदित प्रवचन साहित्य

- मुक्ति का मार्ग
- श्रावक धर्मप्रकाश
- भक्तामर प्रवचन

● अंग्रेजी भाषा में अनूदित प्रवचन साहित्य

- गुरुदेवश्री के वचनामृत

4.2.3. शैली की दृष्टि से वर्गीकरण

कानजी स्वामी ने जैन सिद्धान्तों को समझाने के लिये विविध शैलियों का प्रयोग किया। उनके समक्ष एक ओर निरक्षर व्यक्ति श्रोता के रूप में थे तो दूसरी ओर अन्य लौकिक शिक्षा प्राप्त तथा जिनागम के ज्ञाता भी थे। सभी को विषय-वस्तु समझ में आ सके इसलिये उन्होंने विस्तार एवं संक्षेप रुचि वाले जीवों को ध्यान में रखकर जो विविध शैलियों का प्रयोग किया है, उससे सम्बन्धित प्रवचन साहित्य इसप्रकार है -

4.2.3.1. विषय मीमांसक प्रवचन साहित्य

जैनदर्शन के गहन सिद्धान्तों को समझाने के लिये उन्होंने मीमांसात्मक शैली का प्रयोग किया। शास्त्रों में लिखित, सूत्र, गाथा या टीका के प्रत्येक शब्द की उन्होंने मीमांसा करके, क्लिष्ट माने जाने वाले विषयों को सर्व-सुगम कर दिया। मीमांसात्मक शैली के आधार पर उनके प्रवचन साहित्य का वर्गीकरण इसप्रकार किया जा सकता है -

- कारणशुद्धपर्याय
- अपूर्व अवसर
- दशलक्षणधर्म
- नय प्रज्ञापन
- निमित्तोपादान विवेचन
- पदार्थ विज्ञान
- पंचकल्याणक प्रवचन
- ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव
- अलिंगग्रहणप्रवचन

4.2.3.2. सूत्रात्मक प्रवचन साहित्य

सूत्र साहित्य से तात्पर्य है संक्षिप्त, भावगार्भीय एवं विषयपूर्णता से सम्पन्न साहित्य। सूत्र साहित्य में निष्कर्ष की तरह सम्पूर्ण साहित्य का निचोड़ संक्षिप्त शब्दावली में किया गया है। कानजी स्वामी गम्भीर व्यक्तित्व के धनी थे। अतः उनकी भाषा में गम्भीरता तथा संक्षिप्तता का होना भी सहज है। उक्त आधार पर उनके प्रवचन साहित्य का वर्गीकरण इस तरह कर सकते हैं –

- मोक्षमार्ग की किरणें 1 से 2
- अष्ट प्रवचन 1 से 3
- निमित्तोपादान विवेचन
- ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव
- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर

4.2.3.3. भाष्यात्मक प्रवचन साहित्य

भाष्य शैली वह शैली है, जिसमें सूक्ष्मांश का स्थूल रूप से व्याख्यान

किया जाता है। भाष्य विधा में वह विवेचन शामिल हैं जिसमें श्रोताओं के बुद्धि अनुसार विवेचन होता है। भाष्य शैली दीर्घ रूप से होती है। जिसमें विवेचन के समस्त तत्त्वों का समावेश होता है। कानजी स्वामी की प्रवचन शैली में भाष्य शैली के आधार से व्याख्यान किया गया है। जिसका वर्गीकरण निम्नानुसार है -

- वीतराग विज्ञान प्रवचन भाग 1 से 6
- मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन भाग 1 से 4
- समयसार प्रवचन भाग 1 से 4
- समाधितन्त्र प्रवचन
- अनुभव प्रकाश प्रवचन
- दिव्यध्वनि सार भाग 1,2

4.2.3.4. टीकात्मक प्रवचन साहित्य

भाष्य की तरह टीका शैली भी लघु अंश का विस्तार रूप से विवेचन करती है। इसमें पाँच बिन्दुओं के आधार से विषय-वस्तु विवेचित होती है। वे बिन्दु हैं - शब्दार्थ, मतार्थ, नयार्थ, आगमार्थ एवं भावार्थ।

इन पाँच बिन्दुओं का टीका साहित्य में क्रमिक विवेचन होता है। कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में भी टीका शैली का व्यवस्थित प्रयोग है। जिसको निम्न रूप से वर्गीकृत कर सकते हैं -

- प्रवचन रत्नाकर भाग-1 से 11
- प्रवचनरत्न चिन्तामणिभाग 1 से 2
- अष्टपाहुड प्रवचन भाग-1
- बृहद्ब्रह्मसंग्रह प्रवचन भाग-1
- नाटक समयसार प्रवचन

- मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन भाग 1 से 4
- विषापहार विवेचन
- आत्मसिद्धि प्रवचन

4.2.3.5. उपदेशात्मक प्रवचन साहित्य

जीवों को सच्चे मार्ग पर लाने के लिये उन्हें उपदेश की आवश्यकता होती है। जिसकी पूर्ति उपदेशात्मक शैली से होती है।

उपदेशात्मक शैली में व्यक्तियों के अन्दर जोश का संचार किया जाता है। जिससे वह योग्यमार्ग पर चल सके। उपदेश शैली में भावना प्रधान होती है तथा मुख्यता चारित्र के सम्बन्ध में उपदेश दिया जाता है। कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में उपदेश शैली का लगभग प्रत्येक प्रवचन में प्रयोग किया गया है। परन्तु आचरण प्रधान ग्रन्थों में यह शैली विशेष रूप से परिभाषित हुई है। जिसका स्पष्टीकरण निम्नरूप में किया जा सकता है।

- श्रावक धर्म प्रकाश
- मुक्ति का मार्ग

4.2.3.6. प्रश्नोत्तरात्मक प्रवचन साहित्य

शंका समाधानमयी यह प्रश्नोत्तरात्मक शैली सबसे ज्यादा प्रभावकारी होती है। इस शैली में प्रश्न को या तो स्वयं प्रस्तुत किया जाता है अथवा श्रोता वर्ग के द्वारा जिसका उत्तर वक्ता प्रदान करता है। प्रश्नोत्तर शैली में जिज्ञासु की विषय से सम्बन्धित शंका का समाधान होने से विषय की स्पष्टता अधिक होती है। कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में यह शैली लगभग प्रत्येक ग्रन्थ पर उपलब्ध है, जिसका वर्गीकरण निम्नरूप में किया जा सकता है -

- ज्ञान गोष्ठी

4.3 निष्कर्ष

‘ज्ञात से अज्ञात की ओर’ गमन करनेवाली यह ‘प्रवचन कला’ गुरुदेव के व्यक्तित्व से अभिन्न-सी प्रतीत होती है। 45 वर्षों तक अविरल प्रवाह इस बात का सूचक है कि कानजी स्वामी ने प्रवचन साहित्य के समस्त पहलुओं को अपनी शैली से सुशोभित किया है। विषय की दृष्टि से कृत वर्गीकरण उनकी प्रवचन-कला को उन समस्त विषयों से जोड़ देता है जो जिनागम में स्वीकृत है। चाहे अध्यात्ममय प्रवचन साहित्य हो अथवा चारित्रप्रधान साहित्य। सब कुछ कानजी स्वामी की व्याख्यान परम्परा से स्पर्शित है।

भाषाओं का विकास तथा संवर्धन भी उनकी प्रवचन साहित्य की ही देन है। गुजराती मूल के व्यक्ति ने यदि हिन्दी भाषियों को अपना दीवाना बना दिया हो तो भाषा के प्रति उसके अधिकार को सहज ही अनुमानित किया जा सकता है। शैली में विविधता का होना प्रवचन साहित्य की विविधता का सूचक है। सम्पूर्ण तथ्य को निष्कर्ष के रूप में सूत्रात्मक शैली में प्रतिपादन, गूढ़ विषय को भाष्य के रूप में व्याख्यान, मतार्थ, नयार्थ, भावार्थादि से सम्पन्न टीकात्मक विवेचन, उनकी प्रतिपादन क्षमता का बोधन कराती है। संसार सागर के क्लेशों से संतप्त व्यक्ति को सार्थक उपदेशरूप निर्वचन उनके प्रवचन साहित्य की अनूठी विशेषता है। जिज्ञासु जीवों की शंकाओं का समाधान उनके प्रवचन साहित्य के गंभीरतम तथा सजग पहलू को उजागर करते हैं।

इस तरह कानजी स्वामी का प्रवचन साहित्य एक योग्य श्रोता के कल्याण के लिये योग्य निमित्त के रूप में अवतरित हुआ है। जो अध्यात्म यहाँ पर उपलब्ध है, वैसा अन्य प्रवचन साहित्य में दृष्टव्य नहीं है।



कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का दार्शनिक मूल्यांकन

5.1. भारतीय दार्शनिक साहित्य की परम्परा

भारतीय भूमि प्रारम्भ से ही समस्त प्राणियों को संसार-ताप से मुक्त करने का मार्ग बताती आई है और बताती रहेगी। संसार-ताप को मिटाने वाली भारतीय दार्शनिक साहित्य परम्परा उसमें मूल कारण है। उस साहित्य की कुछ विशेषतायें भी हैं जो उसे पाश्चात्य दर्शन से भिन्न घोषित करती हैं, अर्थात् पाश्चात्य दर्शन के सिमटे हुए दृष्टिकोण को अलग करते हुए एक अलग ही प्रकार का महान दर्शन घोषित करती है।

भारतीय दार्शनिक साहित्य की परम्परा एवं विशेषताओं का उल्लेख करने के पहले 'दर्शन' शब्द की उपयोगिता व उसके अर्थ को समझना आवश्यक है -

● 'दर्शन' की उपयोगिता

इस संसार में आकर जीवन संग्राम में अपने को विजयी बनाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। मनुष्य विवेक प्रधान जीव होने के कारण प्रत्येक अनुष्ठान के अवसर पर अपनी विचारशक्ति का उपयोग करता है। निखिल मानवीय कार्य विधानों की आधारशिला मानवीय विचार हैं अर्थात् विचारों के अनुरूप ही मनुष्य की कार्यप्रणाली निश्चित होती है तथा उसी के अनुरूप उसे फल की उपलब्धि होती है। इस तरह प्रत्येक मनुष्य का अपना विचार होता है, जिसे उसका दर्शन कहा जाता है। 'दर्शन' हमारे जीवन के साथ अनुस्यूत है। यदि कोई मनुष्य दर्शन को अपने से अलग करना चाहे तो उसका जीवन पशु-तुल्य जीवन होगा तथा पशुओं के साथ आहार, भय, निद्रा, मैथुन के विषय में समानता होने पर

भी मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी विचार सामर्थ्य। जो उसे पशुता से मुक्त करती है। अतः दर्शन की मनुष्य के जीवन में बड़ी ही महत्ता है।

● 'दर्शन' शब्द का अर्थ

'दर्शन' शब्द इस बात का भान कराता है कि हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? इस दृश्यमान जगत का सच्चा स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई है? इसकी सृष्टि का कारण कौन है? यह चेतन है या अचेतन? इस संसार में हमारे लिये कौन से कार्य करणीय हैं? जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिये कौन-सा सुन्दर मार्ग है? आदि प्रश्नों का उत्तर देना 'दर्शन' का प्रधान ध्येय है। 'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है-

“दृश्यते अनेन इति दर्शनं”¹ अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाये, उसी का नाम दर्शन है अथवा ऐसा कहें कि ऊपर कहे गये समस्त प्रश्नों का समुचित समाधान करना 'दर्शन' का ही कार्य है। 'दर्शन' को 'शास्त्र' संज्ञा से भी जाना जाता है।

● परम्परा

वैदिक साहित्य भारतीय साहित्य का प्राचीनतम साहित्य है। जिसे अपौरुषेय के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके बाद का युग दार्शनिक युग कहलाता है। जो पौरुषेय विद्या के रूप में विश्रुत है। दार्शनिक युग में क्रियात्मक पक्ष को गौण एवं विचारात्मक पक्ष को मुख्य रखा गया है। दर्शन क्रियाकाण्ड के अन्धेरे में अध्यात्म का प्रकाश-स्त्रोत कहा जाता है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा का आविर्भाव इतिहासकारों ने उपनिषद विद्या से स्वीकार किया है, क्योंकि उपनिषद परम्परा में विचारात्मक पहलू को मुख्यता दी गई है। भारतीय दर्शनों को वेद-समर्थक एवं वेद-निन्दक के दृष्टिकोण से क्रमशः आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन के रूप में स्वीकार किया गया है तथा नास्तिक दर्शन में बौद्ध, जैन, चार्वाक दर्शन को स्थान दिया गया है।

1. भारतीय दर्शन, पृ. 3

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं जिन्होंने 'न्यायसूत्र' ग्रन्थ की रचना की है। न्याय दर्शन में षोडश पदार्थ तथा छह अर्थों को स्वीकार किया गया है। प्रत्यक्षानुमानोपमान-शब्दरूप चार प्रमाणों की विवेचना की गई है।

वैशेषिक दर्शन सप्त अर्थों को स्वीकार करने के कारण न्याय से पृथक् है शेष प्रमाणादि मीमांसा न्यायवत् ही है। इसके प्रवर्तक कणाद हैं, जिन्होंने 'वैशेषिक सूत्र' ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

सांख्य दर्शन महर्षि कपिल की अनुपम सृष्टि है जिसे उन्होंने 'सांख्य-सूत्र' के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। प्रकृति-पुरुषमय 25 तत्त्वों से सहित सांख्य-सृष्टि है। यह निरीश्वरवादी दर्शन प्रत्यक्षानुमानशब्दरूप प्रमाणत्रय को स्वीकार करता है।

योग दर्शन ईश्वर तत्त्व की प्रधानता के कारण 26 तत्त्व से सम्पन्न है। शेष व्यवस्था सांख्यवत है। इसके प्रवर्तक महर्षि पातंजलि हैं। जिन्होंने 'योगसूत्र' की रचना की है।

मीमांसा दर्शन कर्म की प्रमुखता से सम्पन्न है। इस दर्शन का प्रणयन जैमिनी आचार्य ने किया था। उन्होंने 'मीमांसा सूत्र' के माध्यम से विवेचना की है।

आस्तिक दर्शनों में अन्तिम ज्ञानमीमांसामय यह वेदान्त दर्शन है जिसका आविर्भाव आचार्य बादरायण व्यास द्वारा 'ब्रह्मसूत्र' के रूप में हुआ था। उक्त समस्त आस्तिक दर्शन वैदिक परम्परा के समर्थक थे।

नास्तिक दर्शनों में बौद्धदर्शन को क्षणिकवाद के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध को माना जाता है। सुत्तविनय, अभिधम्मपिटक आदि इस दर्शन के शास्त्र हैं जो आर्यसत्य, अहिंसादि के विवेचन में समर्पित है।

चार्वाक दर्शन भोगदर्शनवाद के रूप में प्रसिद्ध है। इसके प्रवर्तक

च्यवणऋषि माने जाते हैं। इसमें परलोकादि मान्यता को अस्वीकार कर भूतचैतन्यवाद को स्वीकार किया है।

जैनदर्शन का प्रादुर्भाव तो अनिर्णीत है क्योंकि यह वैचारिक शृंखला अनादि अनन्त है, परन्तु इस युग में प्रवर्तन का श्रेय आदिनाथ से महावीर पर्यन्त तीर्थंकरों को, अन्य अर्हन्तों को, गणधरों को, आचार्यों को एवं मनीषी वर्ग को जाता है। दर्शन के रूप में व्यवस्थित विवेचना का भी विशेष श्रेय आचार्य समन्तभद्र को जाता है जिन्हें 'न्यायप्रवर्तक' भी कहा जाता है। जैनदर्शन के प्रतिपाद्य विषय सर्वज्ञ, प्रमाण, प्रमेय, अनेकान्त-स्याद्वाद स्वीकृत किये गये हैं। उन समस्त विषयों का सर्ववर्धन तथा संरक्षण ग्रन्थ-लेखन तथा ग्रन्थ-विवेचन शैली के माध्यम से हुआ है। ग्रन्थ-लेखन तो एक स्थायी एवं व्यवस्थित साधन है, परन्तु ग्रन्थ विवेचन भी तात्कालिक लाभ हेतु सर्वोपरि है। ग्रन्थ-वाचन को प्रवचन शब्द के रूप में भी उल्लिखित किया गया है अर्थात् प्रवचन भी उसके विकास का एक साधन है।

5.2. भारतीय दर्शनों का वैशिष्ट्य -

भारतीय दर्शनों के अपने सिद्धान्त और विशेषताएँ रही हैं, यही भारतीय दर्शनधारा का वैशिष्ट्य है; जो संक्षिप्त में इसप्रकार है -

1. भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह ऐहिक एवं पारलौकिक सुख की प्राप्ति अर्थात् चार पुरुषार्थों को स्वीकार करता है।

2. भारतीय दर्शन में चार्वाक-दर्शन के अतिरिक्त सभी दर्शनों का ध्येय अध्यात्मपरक है।

3. भारतीय दर्शन की चरम परिणति मोक्ष की प्राप्ति में होती है।

4. उपनिषद् इस दर्शन साहित्य के उपजीव्य ग्रन्थ हैं।

5. भारतीय दर्शन का उद्देश्य जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करना है।

6. सिद्धान्त और व्यवहार का समन्वय इस दर्शन की मौलिक विशेषता है।

7. भारतीय दर्शन सर्वथा आशावादी दर्शन है।

8. भारतीय दर्शन विद्या और अविद्या पर विस्तार से विचार करता है।

9. भारतीय दर्शन समन्वयप्रधान है। विभिन्न विचारों धर्मों एवं जीवन के व्यवहारों का एकमात्र लक्ष्य ब्रह्म ही है।

10. भारतीय दर्शन परलोक व पुनर्जन्म पर विश्वास करता है।

11. भारतीय दर्शन में व्यवहारिक ज्ञान के लिये प्रमाणों के महत्त्व को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है।

12. भारतीय दर्शन की धारा ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त, नारदीय सूक्त हिरण्यगर्भ आदि सूक्तों से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है।

13. भारतीय दर्शन अपनी विवेचनात्मकता के लिये प्रसिद्ध है। परम्परा से प्रसिद्ध ऐतिहासिक जनश्रुतियाँ इसमें व्याघात नहीं करती।

भारतीय दार्शनिक साहित्य में उपर्युक्त सभी विशेषताओं का समावेश हुआ है।

5.3. जैनदर्शन साहित्य की प्रवचन परम्परा

जैनदर्शन में उपदेश की परम्परा तीर्थंकरों आचार्यों एवं चिन्तकों की सदियों से रही है। जैनकथा साहित्य में मुनिराजों एवं गृहस्थ धर्मात्माओं द्वारा भव्य जीवों को उपदेश प्रदान करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। "इसी परम्परा के अन्तर्गत वि. की 18वीं शताब्दी में हुए पं. टोडरमल जयपुर निवासी की प्रवचन सभाओं में व्याख्यान सुनने हजार-बारह सौ स्त्री-पुरुष प्रतिदिन आते थे" - ऐसा प्रमाण मिलता है।

पं. बनारसीदास, भैया भगवतीदास, पं. सदासुखदास, पं. भूधरदास

इत्यादि मनीषियों की शास्त्र-सभाओं और प्रवचन सभाओं के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। उस समय 'सैलियों' का प्रचलन था। जिसके माध्यम से लोग तत्त्वज्ञान प्राप्त करते थे।¹ जिसे आज की भाषा में 'प्रवचन सभा' कहा जाता है। ये 'सैलियाँ' सम्पूर्ण भारतवर्ष में यत्र-तत्र थीं। आगरा की सैली महाकवि बनारसीदास तथा जयपुर की सैली पं. टोडरमल के नाम से प्रसिद्ध थी।

19वीं शताब्दी के श्रीमद् रायचन्द्र बवाणिया गुजरात में अपने शिष्यों के बीच में प्रवचन करते एवं सत्संग करते थे। उनके प्रवचनों का संकलन व्याख्यानसार भाग-1, व्याख्यानसार भाग- 2 उपदेशछाया उपदेश नोंध के रूप में 'श्रीमद् रायचन्द्र' ग्रन्थ नाम से प्रकाशित हैं और इनके स्वतन्त्र संकलन भी सत्श्रुत प्रभावक मण्डल अगास (गुज.) से प्रकाशित हो चुके हैं। उसी धारा में क्षुल्लक श्री गणेशप्रसाद वर्णी एवं तत् शिष्य सहजानन्द वर्णी, द्वारा समयसारादि आध्यात्मिक, दार्शनिक, चारित्रिक ग्रन्थों पर किये गये प्रवचन सैकड़ों की संख्या में श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला बनारस एवं सहजानन्द वर्णी शास्त्रमाला मेरठ से प्रकाशित हैं एवं हो रहे हैं। इसके अलावा अनेक जैन एवं जैनेत्तर दार्शनिकों के प्रवचन संग्रह देश की विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से प्रकाशित हो चुके हैं और हो रहे हैं।

इसी क्रम में कानजी स्वामी के आध्यात्मिक, दार्शनिक, चारित्रिक भक्ति एवं वैराग्य प्रधान बहुमुखी प्रवचनों को स्टेनो पद्धति द्वारा लिखवाकर पुस्तकाकार रूप से प्रकाशित कराया जाता रहा है एवं बाद में आधुनिक तकनीकों के प्रयोग से सभी प्रवचन रिकार्डिंग कराये जाते रहे हैं, जिनके प्रकाशन का प्रवाह अभी भी चल रहा है और चलता रहेगा। उनके द्वारा जिन ग्रन्थों पर प्रवचन किये गये उनमें से बहुभाग प्रकाशन के उपरान्त भी बहुत से प्रवचन अप्रकाशित हैं, जो कैसेट्स एवं अब सी.डी. में सुरक्षित हैं।

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. 21

कानजी स्वामी के पश्चात् अध्यात्म की परम्परा में उनके अनन्य शिष्य पं. लालचन्दभाई मोदी, बाबू जुगलकिशोर 'युगल', डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, शशिकान्त मनसुखलाल सेठ इत्यादि आध्यात्मिक विवेचकों के भी प्रवचन प्रकाशित हुए हैं। यह धारा अभी भी अविरल रूप से प्रवाहमान है।

5.4. कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य के मूल दार्शनिक सिद्धांत

दर्शन अपने विषयों का विवेचन अपनी शैली में करता है। चूँकि दर्शन विचार प्रधान है। अतः यह समस्त वस्तु व्यवस्था को तार्किकता के रूप में व्याख्यापित करता है। दर्शनों में विषयों को तत्त्व के आधार पर, कर्म के आधार पर एवं आचरण के आधार पर मीमांसित किया जाता है।

भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का एक विशिष्ट एवं निराला ही स्थान है। इसके आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, समदर्शिता, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्त वस्तुतः मौलिक व बेजोड़ हैं। इसका मुख्य उद्देश्य प्राणीमात्र को सम्यग्दृष्टित्व प्रदान कर सुखी बनाना और उसकी दीन-हीन दशा का अन्त कर परमात्मत्व की ओर ले जाना है। इसलिये अध्यात्म विद्या को इसमें प्रमुख स्थान भी दिया गया है।

अनादिकालीन तीर्थकरों की परम्परा में वर्तमान चौबीसी के अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर हुए। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर, श्रुतकेवली जम्बूस्वामी आदि हुए तथा आचार्य परम्परा में कुन्दकुन्द आचार्य आदि अनेक आचार्य एवं अनेक विद्वान हुए। आचार्यों और विद्वानों की इसी कड़ी में कानजी स्वामी हुए, जिन्होंने जैनदर्शन के मूल सिद्धान्तों का गहन रुचि व लगन के साथ अध्ययन किया और उन्हें यथार्थ बुद्धिपूर्वक समझकर षट्खण्डागम से लेकर समयसार आदि अनेक मूलग्रन्थों पर प्रवचन देकर अनेकान्त, स्याद्वाद, वस्तुस्वातन्त्र्य, निमित्तोपादान, निश्चय-व्यवहार आदि जैनदर्शन के आधारभूत दार्शनिक बिन्दुओं को आगम और युक्तिसंगत व्याख्या करके उनके स्वरूप को स्पष्ट किया है।

5.4.1. तत्त्व-मीमांसा

समस्त दर्शनों ने अपनी बुद्धिप्रमाण तत्त्वों को परिभाषित किया है जिनका विश्लेषण तत्त्व-मीमांसा के अन्तर्गत किया जाता है।

तत्त्व अर्थात् वस्तु या पदार्थ और उनके सम्बन्ध में विचार करना ही तत्त्व-मीमांसा है। तत्त्व-मीमांसा में सभी दृश्य-अदृश्य पदार्थ आते हैं, जो ज्ञान से सिद्ध हों। जैनदर्शन ने छह द्रव्य, सात तत्त्व एवं नवपदार्थों को स्वीकार किया है। इन सात तत्त्वों के ही अन्दर समस्त वस्तुव्यवस्था समाहित हो जाती है। कानजी स्वामी ने अपने प्रवचन साहित्य में इन तत्त्वों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। जिनकी विवेचना निम्न प्रकार है -

1. सात तत्त्व

आत्मा संसार में कर्म से बंधा है तथा यह कर्मों से छुटकारा पाना चाहता है। परन्तु वे उपाय कौन से हैं, जिनसे वह छूट सकता है ? इन मूलभूत प्रश्नों के परिशोधन हेतु भारतीय दर्शनों ने तत्त्व-मीमांसा को प्रादुर्भूत किया है। तत्त्व-मीमांसा के अन्तर्गत जैनदर्शन ने सप्त तत्त्वों को विवेचित किया है, क्योंकि तत्त्वज्ञान बिना मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता है और न ही मोक्ष की साधना की जा सकती है। उसी तत्त्व को समझाते हुए कानजी स्वामी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन' में कहा है- 'तत्' शब्द है, वह 'यत्' शब्द की अपेक्षा सहित है। इसलिये जिसका प्रकरण हो उसको 'तत्' कहते हैं और उसका जो भाव अर्थात् स्वरूप है उसको तत्त्व कहते हैं क्योंकि कहा गया है कि - तस्य भावं तत्त्वं।¹ अर्थात् जिसका जो भाव है वही उसका तत्त्व है।

सात प्रकार के तत्त्व इसप्रकार हैं - जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।² इन सातों तत्त्वों में आत्मा अर्थात् जीव तत्त्व मूल है। सामान्य रूप से तो जीव और अजीव दो ही तत्त्व हैं। आस्रवादिक

1. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-4 (कानजीस्वामी), पृ. 232

2. अष्टपाहुड़ प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 54

तो जीव अजीव के ही विशेष हैं। “संक्षेप में जीव के कर्मबन्ध पुद्गलों का आना आस्रव है, कर्मों का बंधना बंध है, आस्रव का रुकना संवर है, कर्मबन्ध का झड़ना निर्जरा है, सम्पूर्ण कर्मों का नाश होना मोक्ष है। जीवों को सुख का निमित्त पुण्य है और दुःख का निमित्त पाप है। ऐसे सात तत्त्व और नव पदार्थ हैं, इनका आगम अनुसार श्रद्धान करने वाले सम्यग्दृष्टि होते हैं।”

मूलरूप से दो ही तत्त्व हैं तो फिर प्रश्न उठता है कि इन्हें पृथक्-पृथक् रूप से क्यों कहा गया है? इसे स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि जीव-अजीव को जाने बिना अपने-पराये का भेदज्ञान नहीं हो सकता? भेदविज्ञान बिना मोक्ष नहीं हो सकता? अतः दोनों की जानकारी के लिये दोनों का कथन आवश्यक है। मोक्ष तो सब जीवों का प्रयोजन है। उसे पहिचाने बिना, हितरूप माने बिना उसका उपाय नहीं कर सकते। अतः उसका कथन भी आवश्यक है। मोक्ष के प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं, अतः उनका जानना आवश्यक है। वे संवर और निर्जरा, आस्रव व बन्ध के अभावपूर्वक होते हैं, अतः उन्हें भी जानना आवश्यक है।

सप्त तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप क्या है? कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में सात तत्त्वों को यथा स्थान परिभाषित किया है। जिनका संक्षेप से पृथक्-पृथक् विवेचन इसप्रकार है -

● जीव-अजीव तत्त्व

जीव चेतना स्वरूप है और चेतना ज्ञान-दर्शनमयी है। ऐसे ज्ञानदर्शन-स्वभावी आत्मा को जीवतत्त्व कहते हैं। जीव तत्त्व में ज्ञान-दर्शन-सुखादि अनन्त गुण होते हैं। जिसमें ज्ञान नहीं है ऐसे पुद्गलादि द्रव्य अजीव तत्त्व हैं। ‘छहढाला प्रवचन’ में कहा है कि -

“चेतनवन्त तत्त्व सो जीव है और चेतनता से रहित तत्त्व सो अजीव

है। जीव और शरीरादि अजीव अनादि से संयोगरूप से सम्बन्धित हैं अतः यह आत्मा अज्ञानता के कारण इन्हें भिन्न-भिन्न नहीं पहिचान पाता है। वास्तव में देखा जाये तो शरीर में रहने वाला तो ज्ञाता है वह जीव है, शरीर अजीव है। वह जीव से भिन्न वस्तु है। आत्मा असंयोगी ज्ञान-आनन्द की मूर्ति है। वही जीव है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये अजीव तत्त्व हैं।¹¹

● आस्रव तत्त्व

जीव और अजीव तत्त्व के बाद कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में आस्रव एवं बंध तत्त्व को स्पष्ट किया है -

“मन-वचन-काय के योग तथा मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय सहित मलिन उपयोग ये कर्म के आस्रव के कारण हैं। ये आस्रव भाव आत्मा को दुःख के कारण हैं। अतः त्याग करने योग्य हैं। ये आस्रव भाव मिथ्यात्व तथा पुण्य-पाप के विकारी भाव हैं। इसके दो भेद हैं - द्रव्यास्रव और भावास्रव ये दोनों ही छोड़ने योग्य हैं। आत्मा के जिन मोह-राग-द्वेषरूप भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, उन भावों को भावास्रव कहते हैं और जो कर्म आते हैं उन्हें द्रव्यास्रव कहते हैं। भावास्रव व द्रव्यास्रव के अतिरिक्त आस्रव के अन्य पाँच भेद हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।”

● बन्ध तत्त्व

पुण्य और पाप दोनों बन्धन हैं। पाप की अपेक्षा से पुण्य ठीक है, किन्तु धर्म, पुण्य से अलग वस्तु है। जिस भाव से बन्ध होता है उस भाव से आत्मा का अबन्ध स्वभावरूप धर्म नहीं होता। इसप्रकार दो पदार्थों के विशिष्ट संबंध को बन्ध कहते हैं और राग द्वेष भावों का निमित्त पाकर कर्मों का आत्म प्रदेशों के साथ दूध पानी की तरह एकमेक हो जाना बंध

है। इसके भी दो भेद हैं - द्रव्यबंध और भावबंध। आत्मा का अज्ञान, मोह-राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विभावभावों में रुक जाना भावबन्ध है और उसके निमित्त से पुद्गल का आत्म-प्रदेशों का स्वयं कर्मरूप बंधना द्रव्य बन्ध है। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग इन भेदों से बन्ध चार प्रकार का है। अतः आस्रव बंध के कारण रूप इन भावों को छोड़ना चाहिये। “जो इन (आस्रव बन्ध) दोनों को छोड़कर आत्मा को जानता है वह मोक्ष को पाता है।”¹

● संवर-निर्जरातत्त्व

कानजी स्वामी ने संवर-निर्जरा का स्वरूप इसप्रकार प्रगट किया है-

“आत्मा के किस भाव से नया आस्रव-बन्ध रुकता है और किस भाव से पूर्व के पुण्य-पाप का आंशिक अभाव होता है? इसका बराबर निर्णय करना चाहिये। आत्मभान के बिना यथार्थ संवर-निर्जरा नहीं हो सकती। लोग मानते हैं कि खाना-पीना छोड़ दिया, इसलिये तप हो गया और निर्जरा हो गई, और उपवास करके शरीर को सुखा लिया, इसलिये धर्म हो गया, किन्तु ऐसा नहीं है। धर्म स्वरूप आत्मा की पहिचान हुये बिना धर्म एवं संवर-निर्जरा नहीं हो सकती। आत्मभान के बिना कर्मों की तो नहीं काल की निर्जरा होती है अर्थात् समय व्यर्थ जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव से ही संवर निर्जरा होती है, इसलिये कहा है कि आस्रवों का रुकना संवर हैं। संवर दो प्रकार का होता है। द्रव्य संवर और भाव संवर। “अशुद्धता टालकर शुद्धदशा प्रगट होना वह भाव संवर है। और कर्म का आना रुक जाना वह द्रव्य संवर है।”² वह संवर तीन गुप्ति, पाँच समिति, दसधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय और पांच चारित्र इन छह कारणों से होता है।

1. योगसार, गाथा-32

2. अष्टपाहुड प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 230

तप के द्वारा कर्मों का आत्मा से क्रम-क्रम से अलग होना (झड़ जाना) निर्जरा है। इसके भी दो भेद हैं - द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा।
 “आत्मा के जो शुद्ध कर्मों के झड़ने में हेतु हैं वे भाव ही भाव निर्जरा हैं और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का झड़ना द्रव्य निर्जरा हैं।”¹¹ मोक्षशास्त्र में बताया है कि ‘इच्छाओं का निरोध करना ही तप है।’¹² और तप से निर्जरा होती है। यह मोक्ष का कारण है।

● मोक्ष तत्त्व

बंध के समस्त कारणों का अभाव होने पर तथा सम्पूर्ण संचित कर्मों की निर्जरा होने से समस्त कर्मों का समूल अभाव होना ही मोक्ष है -
 “स्थिर सुखमय अर्थात् ध्रुव शाश्वत सुख से भरपूर और सकल कर्म से रहित ऐसी जीव की अवस्था सो मोक्ष ही है। वही शिवपद है।”¹³ यह भी दो प्रकार का है - पूर्ण दशा भाव मोक्ष तत्त्व है और सम्पूर्णपने कर्मों का खिर जाना द्रव्य मोक्ष तत्त्व है। मोक्ष प्राप्त करने के जो उपाय हैं वे ही संवर निर्जरा हैं। इस प्रकार संवर-निर्जरा कारण हैं और मोक्ष कार्य है।

मोक्ष के साधक होने से संवर निर्जरा मोक्षमार्ग है उपादेय तत्त्व है। आस्रव बंध संसारमार्ग होने से हेय तत्त्व है आश्रय करने की अपेक्षा से शुद्ध जीव तत्त्व परम उपादेय है एवं इसके अतिरिक्त समस्त जीव-अजीव ज्ञेय हैं अर्थात् मात्र जानने योग्य है।

2. छह द्रव्य

विश्व का प्रत्येक द्रव्यपूर्ण स्वतन्त्र है, वह स्वयं परिणमनशील है। इस विश्व में छह द्रव्य पाये जाते हैं। इन्हीं छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहा गया है। यह विश्व अनादि अनन्त है, स्वयंसिद्ध है। इसका कभी नाश नहीं होता मात्र परिवर्तन होता है। इसको इस तरह स्पष्ट किया गया है-

1. अष्टपाहुड़ प्रवचन, पृष्ठ 230

2. द्रव्यसंग्रह, गाथा 36

3. वीतराग विज्ञान प्रवचन-3 (कानजी स्वामी), पृ. 107

“प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहकर अपने अनन्त धर्मों के चक्र का चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं, परमाणु हो कि आत्मा हो, आकाश हो कि काल हो, प्रत्येक द्रव्य अपने में विद्यमान अनन्त गुण समूह का चुम्बन करता है। द्रव्य अपने गुण-पर्यायों को छूता है परन्तु पर से अड़ता नहीं है।”¹

द्रव्य का लक्षण सत् है वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है। उत्पाद-व्यय परिवर्तनशीलता का नाम है और ध्रौव्य नित्यता का। द्रव्य, गुण और पर्ययवान होता है। जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों और समस्त पर्यायों में रहे उसे गुण कहते हैं तथा गुणों में होने वाले प्रतिसमय के परिणमन को पर्याय कहते हैं। इस जगत में छह द्रव्य हैं² जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्यों के स्वरूप को कानजी स्वामी ने बड़ी ही सरलता से स्पष्ट किया है -

● जीव द्रव्य

जीव द्रव्य को ही आत्मा कहते हैं। जो उपयोग लक्षण वाला है। ज्ञानदर्शनस्वभावी है। उपयोग अर्थात् चैतन्य-परिणति। चैतन्य ही जीव का असाधारण गुण है। इसी गुण के कारण वह समस्त जड़ द्रव्यों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। जीव द्रव्य संसारी और मुक्त दो प्रकारों में विभाजित होकर भी मूल स्वभाव से समान गुण और समान शक्तिवाला है। “जीव उपयोग स्वरूप है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेह परिमाण वाला है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।”

इस परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने जीवद्रव्य के 9 विशेषण बताए हैं -

1. जीने वाला	2. उपयोगवान है	3. अमूर्तिक है
4. कर्त्ता है	5. भोक्ता है	6. संसारी है

1. प्रवचन रत्नाकर -1 (कानजी स्वामी), पृ. 60

2. आत्मधर्म, अंक 4, सं. 2002, पृ. 67

7. शरीर-प्रमाण आकारधारी है 8. सिद्ध भी हो सकता है

9. स्वभाव से अग्नि-शिखा के समान ऊपर जाने वाला है।

जो गुण उस एक ही द्रव्य में पाये जायें उन्हें विशेष गुण कहते हैं। जीव द्रव्य का ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य सम्यक्त्व चारित्र आदि विशेष गुण हैं।

● पुद्गल द्रव्य

पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गंध और स्पर्श ये विशेष गुण पाये जाते हैं। इसके दो विभाग हैं¹ - परमाणु और स्कन्ध। अविभागी पुद्गल के खण्ड को परमाणु कहते हैं। दो या अनेक परमाणुओं के मिलने पर जो वर्गणा बनती है उसको स्कन्ध कहते हैं।

प्रत्येक परमाणु में स्वभाव से एकरस, एक रूप, एक गंध और स्पर्श होते हैं। लाल, पीला, नीला, सफे और काला इन पाँचों रूपों में से कोई एक रूप परमाणु में होता है, जो बदलता रहता है। तीखा, कड़वा, कषायला, खट्टा और मीठा इन पाँच रसों में से कोई एक रस होता है, जो परिवर्तित होता रहता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध इन दो गन्धों में से एक गन्ध परमाणु में होती है। शीत-उष्ण में से कोई एक, स्निग्ध और रुक्ष में से कोई एक - इसतरह दो स्पर्श प्रत्येक परमाणु में अवश्य होते हैं। शेष मृदु, कर्कश, हल्का और भारी - ये चार स्पर्श स्कन्ध अवस्था में होते हैं।

● धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य

“जो गमन करते हुए जीवों और पुद्गलों को गमन करने में सहायक हों उसे धर्मद्रव्य कहते हैं अर्थात् जीव और पुद्गल गति करते हैं उसमें धर्मद्रव्य उदासीन निमित्त है। और जो ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को रुकने में सहायक हों उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं”² अर्थात् जीव और

1. आत्मधर्म, अंक 4, सं. 2002, पृ. 68

2. वही, पृ. 71

पुद्गल गति करते हुए स्वयं रुक जाते हैं तो अधर्म द्रव्य उसमें उदासीन निमित्त है। धर्म-अधर्म द्रव्य अमूर्तिक, निष्क्रिय, अखण्ड लोकाकाश प्रमाण है। यह धर्म और अधर्म पुण्य और पाप के पर्यायवाची नहीं है। बल्कि स्वतन्त्र द्रव्य हैं। इनके असंख्यातप्रदेश हैं अतः बहुप्रदेशी होने के कारण 'अस्तिकाय' कहलाते हैं - इसी कारण धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के रूप में भी इनका उल्लेख मिलता है।

आकाश द्रव्य

“जो समस्त जीवों और पुद्गलों को रहने के लिये जगह देता है वह आकाश द्रव्य कहलाता है।” यह आकाश द्रव्य दो प्रकार का है - लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश हैं। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशों में है शेष अनन्त में अलोक है - जहाँ केवल आकाश ही आकाश है। जगह देना ही इसका असाधारण गुण है। आकाश भी अन्य द्रव्यों की भाँति उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।

काल द्रव्य

जो समस्त द्रव्यों के परिणमन में निमित्त हो उसे काल द्रव्य कहते हैं। इसका लक्षण वर्तना है। यह स्वयं परिवर्तन करते हुये अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी होता है और समस्त लोकाकाश में घड़ी, घण्टा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारों में निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्यों की तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला है और अमूर्तिक है। जो द्रव्य एक से अधिक प्रदेश रखते हैं वे अस्तिकाय कहलाते हैं। कालद्रव्य का एक ही प्रदेश होता है, इसलिये अस्तिकाय नहीं है। काल द्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश अस्तिकाय हैं। जीव को छोड़कर बाकी पांच द्रव्य अजीव द्रव्य हैं।

जीव और पुद्गल का संयोग ही संसारी आत्मा की अवस्थायें हैं।

सर्व पुद्गल का ही विस्तार है। यदि पुद्गल को निकाल दिया जाये तो हर एक जीव शुद्ध दिखेगा। अतः शुद्ध निश्चयनय से सभी जीव शुद्ध ही हैं। संसार में जीव और पुद्गल अपनी शक्ति से चार काम करते हैं। चलना, ठहरना, अवकाश पाना और बदलना। हर एक काम उपादान और निमित्त दो कारणों से होता है। जैसे सोने की अंगूठी का उपादान कारण सोना है, परन्तु निमित्तकारण सुनार व उसके यन्त्र आदि हैं। इसीतरह इन चार कामों के उपादान कारण जीव, पुद्गल हैं। तब निमित्तकारण अन्य चारों द्रव्य हैं। गमन में सहकारी, धर्मद्रव्य है, ठहरने में अधर्म द्रव्य है, अवकाश पाने में सहकारी, आकाशद्रव्य है और बदलने में सहकारी कालद्रव्य है।

यद्यपि ये छहों द्रव्य एक ही स्थान पर रहते हैं तथापि मूल स्वभाव में भिन्न-भिन्न बने रहते हैं। कभी मिलते नहीं हैं, न कभी छह के सात होते हैं और न कभी पाँच। इस तरह सारा जगत चिदचिदात्मक है। जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य उससे भी अनन्त हैं, धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य एक-एक हैं। धर्म और अधर्म का वर्णन एकमात्र जैनदर्शन में ही है अन्य दर्शनों में नहीं। लोक में धर्म अधर्म शब्द दर्शन, मत-सिद्धान्त, आचार, पुण्य-पाप आदि के अर्थ में प्रचलित है। परन्तु जैनदर्शन में ये दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं जो सम्पूर्ण लोक में तिल में तेल की भाँति व्याप्त हैं। जैनदर्शन में धर्म, अधर्म आकाश और काल द्रव्यों का प्रतिपादन जीव और पुद्गल के अनुपात में बहुत कम हुआ है। कारण कि जीव तत्त्व के प्रतिपादन और उपदेश से ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

3. आत्मा-परमात्मा

सम्पूर्ण जिनवाणी (द्वादशांग) का केन्द्र-बिन्दु निज भगवान आत्मा है अर्थात् शुद्ध स्वरूप को जाने बिना स्थायी सुख और आनन्द की प्राप्ति असंभव है, इसलिये कानजी स्वामी ने अपने 45 वर्षीय आध्यात्मिक प्रवचनों में अविरल रूप से एक आत्मा पर मुख्यतया प्रकाश डाला है।

उन्होंने आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ज्ञानस्वभावी जीव तत्त्व को आत्मा कहते हैं।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ में भी आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है कि - पुरुष अर्थात् आत्मा चेतना स्वरूप है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित है, गुण और पर्याय सहित हैं तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त हैं।

आत्मा तो त्रिकाल एकरूप ही है। तीन भेद पर्याय अपेक्षा से किये गये हैं। आत्मा का स्वरूप एक समय में परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसकी तीन प्रकार की अवस्थायें हैं¹—

1. बहिरात्मा 2. अन्तरात्मा, 3. परमात्मा

बहिरात्मा

बहिरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में कहा है कि - “जो अपने अन्तरंग चेतन स्वरूप को भूलकर बाह्य में शरीर और जीव को एक मान रहा है वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। वह तत्त्वों में मूढ़ है।” छहढाला में भी स्पष्ट किया गया है कि -

‘देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुथा है।’

जो शरीर और आत्मा को एक मानते हैं वे बहिरात्मा हैं और वे बहिरात्मा यथार्थ तत्त्वों से अज्ञान अर्थात् तत्त्वमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं।²

‘आत्म-भावना’ में बहिरात्मा को इसप्रकार स्पष्ट किया गया है—
“बाह्य शरीरादि पदार्थों को आत्मा मानता है वह बहिरात्मा है। ये शरीरादि जड़ पदार्थ प्रगटपने आत्मा से भिन्न हैं। ये कोई भी पदार्थ आत्मा के नहीं हैं, आत्मा से बाहर ही हैं। लेकिन इनको जो अपना मानता है वह जीव बहिरात्मा है।”³

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में टीकाकार पं. सदासुखदासजी लिखते हैं

1. आत्मभावना (कानजी स्वामी), पृ. 28
2. वीतराग विज्ञान प्रवचन-3 (कानजी स्वामी), पृ. 60
3. वीतराग विज्ञान प्रवचन-3 (कानजी स्वामी), पृ. 32

कि - “ तिन में जाकैं बाह्य शरीरादिक पुद्गल की पर्यायनि में आत्मबुद्धि है सो बहिरात्मा है।” ऐसे बहिरात्मा जीव अनन्त हैं, परन्तु यह बहिरात्मपना जीव का सच्चा स्वरूप नहीं है। अतः उसे छोड़कर जीव स्वयं अन्तरात्मा और परमात्मा हो सकता है। बहिरात्मा संसारमार्गी होने से बहिरात्मपना सर्वथा हेय है।

अन्तरात्मा

कानजी स्वामी ने अन्तरात्मा के स्वरूप को इसप्रकार बताया है - “ अन्तरंग में देहादि से भिन्न आत्मस्वरूप को जानता है वह अन्तरात्मा है।”¹¹ और “ राग-द्वेषादि दोषों तथा चैतन्यस्वरूप आत्मा के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति रहित है वह अन्तरात्मा है। जो राग-द्वेष को विभावरूप जानता है और अपने चैतन्यस्वभाव को स्वभावरूप जानता है जिसे रागादि में आत्मा की भ्रान्ति नहीं होती और मलिनता से भिन्न अपने स्वभाव को जो निःशंकपने जानता है। वह अन्तरात्मा है।”¹²

निर्विकल्प शुद्ध परमात्मा का स्वरूप अभी पर्याय में प्रगट नहीं, फिर भी मैं परमात्म स्वरूप ही हूँ - ऐसा जिसने श्रद्धा, ज्ञान और ध्यान में निश्चित किया है उसको वर्तमान में निर्मल पर्याय की अपेक्षा अन्तरात्मा कहने में आता है।”¹³

“ जो आत्मा इस कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को नहीं करता किन्तु वह जानता है वह अन्तरात्मा है।”¹⁴

अन्तरात्मा तीन प्रकार के होते हैं - अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित उत्कृष्ट शुद्धोपयोगी क्षीणकषायमुनि (12वें गुणस्थानवर्ती) उत्तम अन्तरात्मा हैं।

1. वीतराग विज्ञान प्रवचन-3 (कानजी स्वामी), पृ. 61

2. आत्मभावना (कानजी स्वामी), पृ. 32

3. योगसार प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 11

4. समयसार आचार्य कुन्दकुन्द, गाथार्थ 75

अविरत सम्यग्दृष्टि (चौथे गुणस्थानवर्ती) जघन्य अन्तरात्मा है।

उक्त दोनों की मध्यदशावर्ती देशव्रती श्रावक और मुनिराज (पाँचवें से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती) मध्यम अन्तरात्मा हैं।

अन्तरात्मा मुक्तिमार्ग का पोषक है, अतः अन्तरात्मपन कथंचित् उपादेय है।

परमात्मा

कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि - “परमात्मा अतिनिर्मल है, जिसकी पूर्ण पवित्र दशा प्रगट हो गई वह परमात्मा है। आत्मा में जो त्रिकाल शुद्ध स्वभाव पड़ा है, उसमें एकाग्रता करने से पूर्ण निर्मल दशा प्रगट होती है। जब पूर्ण निर्मल दशा प्रगट हो जाती है तब राग का अंश भी नहीं रहता। एक समय में तीन लोक और तीन काल के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक साथ जान सके ऐसी अद्भुत शक्ति प्रगट हो जाती है। उसकी पूर्ण दशा प्रगट होने का नाम ही परमात्मा है।”

मोह-राग-द्वेष के भाव रहित परमात्मा होते हैं। अन्तरात्मा को पर में एकत्व-बुद्धि न होने से दृष्टि में तो राग-द्वेष छूटे गये हैं, परन्तु स्थिरता द्वारा अभी पूर्ण राग-द्वेष नहीं छूटे हैं। पर परमात्मा को वे भी छूट गये हैं। आठ कर्मों के रजकणों को और पुण्य-पाप के मलिनभावों को परमात्मा ने छोड़ दिया है।”

जिन्होंने शुद्धात्मा के ध्यानरूप शुद्धोपयोग के द्वारा घातिकर्मों को दूर करके केवलज्ञानरूप परमपद प्रगट किया है। वे परमात्मा हैं। वे लोकाकाश को प्रत्यक्ष जानने वाले हैं ऐसे परमात्मा दो प्रकार के हैं - 1. सकल परमात्मा 2. निकल परमात्मा। अरहन्त परमात्मा शरीर सहित होने से सकल परमात्मा कहलाते हैं। ऐसे अनेकों अरहन्त भगवान विदेह क्षेत्र में इस समय विद्यमान हैं और वे सदैव होते रहेंगे। तेरहवें और चौदहवें

गुणस्थानों में विराजमान अरहन्त परमात्मा हैं। निकल परमात्मा के शरीर नहीं होता। वे ज्ञान शरीरी हैं। अष्ट कर्मों से रहित हैं और गुणस्थानों से पार देहातीत सिद्ध परमात्मा हैं चारों गति से मुक्त जीव ऐसे सिद्ध परमात्मा अनंत हैं। अरहंत और सिद्ध परमात्मा आत्मा के अनंत सुख का अनुभव करते हैं।

परमात्मपन अतीन्द्रिय सुखमय होने से सर्वथा उपादेय है। अतः सबको पुरुषार्थपूर्वक बहिरात्मपन छोड़कर अन्तरात्मा बनकर परमात्मा बनने की भावना करनी चाहिये। आत्मा तो ज्ञानादि अनन्त शक्तियों का पिण्ड, अनादिनिधन, असंख्यात प्रदेशी, अमूर्तिक उपयोगमयी वस्तु हैं। जिसका विशद विवेचन कानजी स्वामी के प्रवचनों में सर्वत्र हुआ है।

5.4.2. ज्ञान-मीमांसा

दार्शनिक पृष्ठभूमि में सर्वाधिक महत्त्व यदि किसी का है तो वह है ज्ञान। समस्त दर्शनों में ज्ञान सम्पन्न आत्मा की परिकल्पना की है। जो ज्ञान के माध्यम से ज्ञेयरूप जगत का अवलोकन करती है। ज्ञान के माध्यम से ही जगत के उन तत्त्वों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है जिनसे विश्व-व्यवस्था संचालित होती है।

ज्ञानमीमांसा में ज्ञान का प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति एवं प्रमाता के रूप में अध्ययन किया जाता है। **प्रमाण** - प्रमाण के रूप में ज्ञान को साधन के रूप में, **प्रमेय** - प्रमेय के माध्यम से ज्ञेय के निर्धारण के रूप में अथवा स्वयं कर्म के रूप में, **प्रमिति** - प्रमिति के रूप में ज्ञान क्रिया के रूप में तथा **प्रमाता** - प्रमाता के रूप में ज्ञान ज्ञाता के रूप में उपस्थित होता है।

उक्त मीमांसा जैनदर्शन में न्याय मीमांसा के रूप में परिभाषित है। जिसमें प्रमाण, नय एवं निक्षेप का निर्णय किया जाता है। कानजी स्वामी ने इस मीमांसा को अपने प्रवचन साहित्य में स्थान दिया है, जिसकी विवेचना इसप्रकार है -

1. प्रमाण

दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि प्रमाण-

मीमांसा प्रत्येक दर्शन का विषय रहा है। जिसे ज्ञानमीमांसा में समाहित किया गया है। चैतन्य आत्मा का गुण है जो निराकार अवस्था में दर्शन और साकार अवस्था में ज्ञान कहलाता है। अनन्त गुणों में यह ऐसा असाधारण गुण है जिससे आत्मा लक्षित होता है। जिससे वस्तु तत्त्व का निर्णय किया जाता है, सम्यक् रूप से जाना जाता है। ऐसा स्व-पर को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है। अतः स्व-पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान प्रमाण है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को प्रमाण द्वारा ही जाना जाता है। प्रमाण वस्तु के सर्वदेश को ग्रहण करता है। समस्त वस्तुयें प्रमाण का विषय हैं। प्रमाण सच्चा ज्ञान है। “सम्यग्दर्शन सहित जो सम्यग्ज्ञान है वह प्रमाण है।”

प्रमाण शब्द ‘प्र’ उपसर्ग पूर्वक ‘मा’ धातु से ‘ल्युट’ प्रत्यय जुड़ने पर बना है। “प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्” अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो उस द्वारा का नाम प्रमाण है। प्रमाण के साधकतम करण (साधन) को प्रमाण कहते हैं, क्योंकि जाननेरूप क्रिया ज्ञानगुण की पर्याय है। इस दृष्टि से उसमें साधकतम करण ज्ञान ही होता है।

जिस ज्ञान का प्रतिभास पदार्थ के ठीक उसी रूप में मिल जाये, जिस रूप में उसका बोध हुआ है, वह ज्ञान प्रमाण कहा जाता है; अन्य प्रमाणाभास।

प्रमाण के भेद – प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्विवाद रूप से जैनदर्शन में स्वीकृत हैं।

● प्रत्यक्ष प्रमाण

इन्द्रियों और मन के अवलम्बन के बिना आत्मा अपने स्पष्ट ज्ञान से एकदेश या सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष जाने वह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है। सकल प्रत्यक्ष और देश प्रत्यक्ष।

● सकल प्रत्यक्ष

केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है क्योंकि केवलज्ञान अलोकाकाश सहित

तीनलोक व तीनकालवर्ती सर्व पदार्थों व उनके समस्त गुण तथा अपेक्षित धर्मों को प्रत्येक समय में स्पष्ट और एकसाथ जानता है। केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। अतएव क्षायिक है, इन्द्रियातीत है व अविनश्वर है। केवलज्ञान होने पर वह सदा बना रहता है। केवलज्ञान होने पर शेष ज्ञान नहीं रहते। अतः किसी जीव को मात्र एक ज्ञान हो सकता है तो वह केवलज्ञान ही है। केवलज्ञान एक ही प्रकार का है। केवलज्ञान की महिमा बताते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि -

“अहो! यह केवलज्ञान की अद्भुत महिमा है। इसकी पहिचान करते ही जीव को ज्ञानस्वभाव की प्रतीति सहित अतीन्द्रिय सुख के वेदन से भरपूर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।”¹¹

‘प्रवचनसार’ के प्रवचनों में भी केवलज्ञान की बहुत महिमा गाई है-

“अरे! केवलज्ञान की महिमा की तो बात क्या! तीनों काल में सदा विषम, सर्वक्षेत्र के अनेक प्रकार के समस्त पदार्थों को जिनदेव का ज्ञान एकसाथ जानता है। अहो! ज्ञान का माहात्म्य”¹²

● देश प्रत्यक्ष

जो द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुये बिना सहायता के जानते हैं वे अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं। देश प्रत्यक्ष को कानजी स्वामी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है -

“उनके द्वारा जीव मर्यादित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को इन्द्रियों और मन के बिना प्रत्यक्ष और स्पष्ट जानता है। परन्तु वे सीमित विषय को ही जानते हैं, इसलिये देशप्रत्यक्ष हैं।”¹³

इन्द्रियों और मन के निमित्त बिना तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुये रूपी पदार्थ के स्पष्ट ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञान देशावधि, परमावधि व सर्वावधि ऐसे तीन प्रकार का है।

1. वीतराग विज्ञान प्रवचन-4 (कानजी स्वामी), पृ. 35

2. दिव्यध्वनिसार -1 (कानजी स्वामी), पृ. 405

3. वीतराग विज्ञान प्रवचन-4 (कानजी स्वामी), पृ. 35

इन्द्रियों और मन के बिना तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुये दूसरे के मन में स्थित रूपी विषय के स्पष्ट ज्ञान होने को मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। मनःपर्ययज्ञान, ऋजुमति व विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन तीनों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

● परोक्ष प्रमाण

“आद्ये परोक्षम्” आगम में शेष दो मति एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहा गया है। स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध मतिज्ञान की ही पर्यायें हैं; अतः सामान्य से स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध और श्रुत (आगम) को परोक्ष ज्ञान माना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने परोक्ष प्रमाण के सन्दर्भ में लिखा है कि पदार्थ विषयक जो ज्ञान इन्द्रियादि पर की सहायता से होता है, वह परोक्ष प्रमाण है। जो पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को नाना गुणों तथा पर्यायों से युक्त रूप में नहीं देखता या नहीं जानता, वह ज्ञान परोक्ष है। परोक्ष प्रमाण को कानजी स्वामी ने भी स्पष्ट किया है –

“जो ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है वह परोक्ष प्रमाण है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।”¹

परोक्ष प्रमाण क्यों कहा? इसका उत्तर कानजी स्वामी ने ‘अध्यात्म-सन्देश’ में दिया है-“मति-श्रुतज्ञान स्व-सन्मुख होकर आत्मा को साधते हैं, परन्तु उस ज्ञान में केवलज्ञान की तरह आत्म-प्रदेश साक्षात् प्रत्यक्ष जानने में नहीं आते, इसलिये उसको परोक्ष प्रमाण कहा है।”² जैनदर्शन में इन्द्रिय ज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहा गया है।

परोक्ष प्रमाण पाँच प्रकार का कहा गया है – स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इनमें प्रथम चार भेद मतिज्ञान के हैं और आगम श्रुतज्ञान का भेद है। इसके अलावा मतिज्ञान के अन्य चार भेद अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा भी जिनागम में स्वीकृत होते हैं।

1. वीतराग विज्ञान प्रवचन-4 (कानजी स्वामी), पृ. 34

2. अध्यात्म सन्देश (कानजी स्वामी), पृ. 78

“स्मृति अर्थात् पूर्व में देखी हुई वस्तु के साथ वर्तमान वस्तु का मिलान करना। तर्क अर्थात् ज्ञान में साधन-साध्य का सम्बन्ध जान लेना। अनुमान अर्थात् हेतु से जो जाना, इसके अनुसार साध्य वस्तु का ज्ञान करना। आगम अनुसार जो ज्ञान हो उसे आगमज्ञान कहते हैं। अथवा आस की आज्ञा का उल्लंघन न करनेवाला, दृष्ट और इष्ट का अभिरोधक, तत्त्वोपदेशक, सबका हित करने वाला और कुमार्ग के निराकरणकर्त्ता को शास्त्र या आगम कहा गया है।”

ये पाँचों प्रत्यक्ष या परोक्ष ज्ञान अपने से ही होते हैं, पर से ज्ञान नहीं होता। परोक्ष ज्ञान भी कहीं इन्द्रिय या मन से नहीं होता। जानन स्वभावी आत्मा अपने स्वभाव से ही ऐसी अवस्थारूप परिणमता है। जैसे मिठास स्वभाव वाला गुड़ कभी मिठास के बिना नहीं होता और न इसकी मिठास पर में से आती है, वैसे ज्ञानस्वभावी आत्मा कभी ज्ञान के बिना नहीं होता और न इसका ज्ञान पर से आता है। ज्ञान से पर चीज ज्ञात होती है, परन्तु ज्ञान कहीं पर में जाकर नहीं जानता और पर में से ज्ञान नहीं आता।

इसप्रकार जैनदर्शन में भारतीय दर्शनों की आधारशिला ज्ञानमीमांसा वाले प्रमाण की चर्चा प्रत्यक्ष व परोक्ष के माध्यम से हुई है।

2. नय

अधिगम के उपायों में प्रमाण के साथ नय का भी निर्देश किया गया है। प्रमाण वस्तु के पूर्वरूप को ग्रहण करता है और नय प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को जानता है।

श्रुत प्रमाण का एक अंश नय है। जहाँ श्रुत प्रमाण नहीं होता, वहाँ नय नहीं होता, जहाँ नय होता है वहाँ श्रुतप्रमाण होता ही है। प्रमाण सर्वग्राही होता है और नय अंशग्राही। नय प्रमाण के ही भेद हैं।

नय प्रमाण हैं या अप्रमाण ? इसका समाधान करते हुए कहा है कि घड़े से भरे हुए समुद्र के जल को न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही। उसीप्रकार नय प्रमाण से उत्पन्न होते हैं, अतः नय प्रमाणात्मक

होकर भी अंशग्राही हैं, इसलिए पूर्ण प्रमाण नहीं कहे जा सकते और अप्रमाण तो हो ही नहीं सकते। अतः जैसे घड़े का जल समुद्रैकदेश है असमुद्र नहीं। उसीतरह नय भी प्रमाणैकदेश है अप्रमाण नहीं। नय द्वारा ग्रहण की जाने वाली वस्तु भी न तो पूर्ण वस्तु कही जाती है और न अवस्तु, किन्तु 'वस्त्वेकदेश' ही हो सकती है। फिर भी जैनदर्शन में उन्हें प्रमाण से भिन्न माना गया है, क्योंकि नय प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश वस्तु को ही ग्रहण करते हैं। नयों को श्रुतप्रमाण का भेद बताते हुए जैनागम में कहा गया है कि -

“जिसप्रकार बिखरे हुए मोतियों को एकसूत्र में पिरो देने से मोतियों का सुन्दर हार बन जाता है, उसीप्रकार भिन्न-भिन्न नयों को स्याद्वादरूपी सूत्र में पिरो देने से सम्पूर्ण नय श्रुतप्रमाण कहे जाते हैं।” अतः जैनदर्शन की प्रमाण व्यवस्था में नयों का वर्णन न हो तो जैनदर्शन का प्रमाण-वर्णन अधूरा ही है।

दूसरी बात जिनागम का रहस्य जानने के लिये भी नयों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक हैं; क्योंकि समस्त जिनागम नय रूप कथनों में ही निबद्ध है, अतः नयों के सही स्वरूप को समझे बिना अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

प्रमाण तो सभी दर्शन स्वीकार करते हैं; अतः उनकी चर्चा तो सब दर्शनों में मिलेगी, किन्तु 'नयविभाग' जैनदर्शन के अलावा अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। 'नयविभाग' जैनदर्शन की अनुपम देन है, वस्तु स्वरूप के कथन करने का एक तरीका है, जिससे वस्तुस्वरूप यथार्थ समझ में आता है तथा समुचित रूप से कहा भी जा सकता है।

प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में अर्थात् सामान्य या विशेष में वस्तु के निश्चय को नय कहते हैं। अतः नयों की प्रवृत्ति प्रमाण द्वारा जाने हुए पदार्थ के एक अंश में ही होती है। अनन्त धर्मात्मक पदार्थ के कोई एक धर्म को अथवा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्म युगलों में से कोई एक धर्म को नय अपना विषय बनाता है। वस्तु के

किस धर्म को विषय बनाया जाये, यह ज्ञानी वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है। ज्ञानी वक्ता जिसको विषय बनाता है, उसे विवक्षित कहते हैं। नयों के कथन में विवक्षित धर्म मुख्य होता है और अन्य धर्म गौण रहते हैं। नय गौण धर्मों को निराकरण नहीं करता, मात्र उनके संबंध में मौन रहता है। नय ज्ञानात्मक भी होते हैं और वचनात्मक भी होते हैं।

नयों का कथन सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं; क्योंकि वे वस्तु के अंशनिरूपक हैं। नयों के कथन में यदि अपेक्षा न लगाई जावे तो जो बात वस्तु के अंश के बारे में कही जा रही है, उसे सम्पूर्ण वस्तु के बारे में समझ लिया जा सकता है, जो कि सत्य नहीं होगा। जैसे यदि कहें 'आत्मा अनित्य है', यह कथन पर्याय की अपेक्षा तो सत्य है, पर यदि इसे द्रव्य-पर्यायात्मक आत्मवस्तु के बारे में समझ लिया जाये तो सत्य नहीं होगा क्योंकि द्रव्यपर्यायात्मक आत्मवस्तु तो नित्यानित्यात्मक है। इसलिये सापेक्षनय ही सम्यक्नय होते हैं, निरपेक्ष नहीं।

जिन नयों के प्रयोग में उक्त तथ्य न पाये जावें, वस्तुतः वे नय नहीं ; नयाभास हैं।

अनन्तधर्मात्मक होने के कारण वस्तु बड़ी जटिल है; अतः नयचक्र भी उतना ही जटिल है जितनी कि उसकी विषयभूत अनन्तधर्मात्मक वस्तु। वस्तु को एकसाथ जाना जा सकता है, पर एक साथ कहना कठिन है। अतः उसके एक-एक धर्म का क्रमपूर्वक निरूपण किया जाता है। कौन धर्म पहले और कौन धर्म बाद में कहा जाय, इसका कोई नियम नहीं है। ज्ञानी वक्ता अपने अभिप्रायानुसार जब एक धर्म का कथन करता है, उस समय अन्य धर्म कथन में गौण रहते हैं, निषिद्ध नहीं, अतः ज्ञाता अथवा वक्ता के अभिप्राय को 'नय' कहा जाता है।¹

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहा जाता है।²

1. आलाप पद्धति, श्लोक 03

2. स्याद्वाद मंजरी, श्लोक 28

जैन वाङ्मय में नय-विभाजन की तीन धारयें हैं –

1. आध्यात्मिक (आगमिक), 2. शास्त्रीय (दार्शनिक), 3. स्वतन्त्र सामान्यतः नय तीन प्रकार के कहे गये हैं – ज्ञाननय, शब्दनय और अर्थनय। ज्ञाननय की मुख्यता से ज्ञाता के अभिप्राय को और शब्दनय की मुख्यता से वक्ता के अभिप्राय को जैनागम में नय कहा गया है।

जितने वचन विकल्प हैं, उतने ही नय सम्भव हैं; अतः नय अनन्त हो सकते हैं।¹ क्योंकि प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ अनन्त हैं, अतः प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर नय अनन्त विकल्परूप हो जाते हैं। मुख्य, गौण विवक्षा के कारण वक्ता के अभिप्राय भी अनेक प्रकार के होते हैं, इसकारण भी नय अनेक प्रकार के होते हैं। नयों के उन भेद-प्रभेदों में जाना यहाँ सम्भव नहीं है, तथापि जिनागम के मर्म को समझने के लिये मूल नयों का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। मूलनय चार हैं

1. द्रव्यार्थिकनय	2. पर्यायार्थिकनय
3. व्यवहारनय	4. निश्चयनय।

दार्शनिक धारा में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक मूल नय माने गये हैं जिन्हें द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक भी कहा जाता है।²

जिसप्रकार अद्वैतवाद में पारमार्थिक और व्यावहारिक दो रूप में और शून्यवाद या विज्ञानवाद में परमार्थ और सांवृत्त दो रूप में और उपनिषदों में सूक्ष्म और स्थूल दो रूप में तत्त्व के वर्णन की पद्धति देखी जाती है, उसीप्रकार जैन अध्यात्म में निश्चय और व्यवहार इन दोनों प्रकारों को अपनाया गया है। अन्तर इतना है कि अध्यात्म का निश्चयनय वास्तविक स्थिति को उपादान के आधार से पकड़ता है, वह अन्य पदार्थों के अस्तित्व का निषेध नहीं करता। जबकि वेदान्त या विज्ञानाद्वैत का

1. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा- 892

2. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गाथा-182-183

3. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ. 1/33

परमार्थ अन्य पदार्थों के अस्तित्व को समाप्त कर देता है। बुद्धि की धर्मदेशना को परमार्थ सत्य और लोक संवृत्ति सत्य इन दो रूप से घटाने का भी प्रयत्न हुआ है।

मूलनयों का संक्षिप्त परिचय इसप्रकार है -

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय

ज्ञान के जिस अंश का प्रयोजन पर्याय को गौण करके द्रव्य को जानना हो उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। यह द्रव्य के सामान्यांश को ग्रहण करता है।

ज्ञान के जिस अंश का प्रयोजन द्रव्य को गौण करके पर्याय को जानना हो उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। यह द्रव्य के विशेषांश को ग्रहण करता है।

दोनों नयों की सफलता पर कानजी स्वामी के विचार द्रष्टव्य हैं -

“जीव का स्वरूप दो नयों से बराबर ज्ञात होता है। अकेले द्रव्यार्थिकनय या अकेले पर्यायार्थिकनय से ज्ञात नहीं होता, इसलिये दोनों नयों का उपदेश ग्रहण करने योग्य है।

एकान्तद्रव्य को ही स्वीकार करे और पर्याय को स्वीकार न करे तो पर्याय के बिना द्रव्य का स्वीकार किसने किया ? काहे में किया ? और मात्र पर्याय को ही स्वीकार करे, द्रव्य को स्वीकार न करे तो पर्याय कहाँ दृष्टि लगाकर एकाग्र होगी ? इसलिए दोनों नयों का उपदेश स्वीकार करने योग्य है।

द्रव्य पर्याय की संधि का अर्थ क्या ? पर्याय को पृथक् करके लक्ष में न लेते हुए, अन्तर्मुख करके द्रव्य के साथ एकाकार करना अर्थात् द्रव्य-पर्याय के भेद का विकल्प तोड़कर एकतारूप निर्विकल्प अनुभव करना ही द्रव्य-पर्याय की सन्धि है - वही दोनों नयों की सफलता है।

पर्याय को जानते हुये उसी के विकल्प में रुक जाये तो वह नय की सफलता नहीं है, उसीप्रकार द्रव्य को जानते हुए यदि उसी में एकाग्रता न

करे तो वह भी नय की सफलता नहीं है, द्रव्य-पर्याय दोनों को जानकर दोनों के विकल्प तोड़कर पर्याय को द्रव्य में अन्तर्लीन, अभेद, एकाकार करके अनुभव करने में ही दोनों नयों की सफलता है।¹¹

प्रत्येक वस्तु में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार चीजें होती हैं। वस्तु द्रव्य की अपेक्षा सामान्य-विशेषात्मक, काल की अपेक्षा नित्यानित्यात्मक, भाव की अपेक्षा एकानेकात्मक और क्षेत्र की अपेक्षा भेदा-भेदात्मक है। इसप्रकार एक-एक के दो-दो भेद होकर वस्तु की कुल आठ विशेषताएँ हैं अर्थात् वस्तु एक भी है, अनेक भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है, भेद भी है, अभेद भी है, सामान्य भी है और विशेष भी है।

उक्त आठ विशेषताओं से युक्त वस्तु प्रमाण की वस्तु है। इसमें से विशेष, भेद, अनित्य और अनेक - ये पर्यायार्थिक नय के विषय हैं तथा सामान्य, अभेद, नित्य और एक - ये द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं।

यद्यपि वस्तु तो एक है, लेकिन उसकी ये चार विशेषतायें हैं। ये चार होने से भेद हो गया इसलिये ये 'चारपना' पर्यायार्थिकनय का विषय है और इन चारों का अभेद द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

इसप्रकार जैनदर्शन में द्रव्यभेद, गुणभेद, प्रदेशभेद और कालभेद को तो पर्यायार्थिकनय के विषय में शामिल किया है तथा द्रव्य का अभेद, प्रदेश का अभेद, गुण का अभेद और काल का अभेद को द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा गया है।

पर्यायार्थिकनय का विषय भेद विकल्प का जनक होने से दृष्टि का विषय नहीं हो सकता है तथा द्रव्यार्थिक नय का विषय अभेद निर्विकल्पता का जनक होने से दृष्टि का विषय है।

दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को जानकर उसमें जमना-रमना ही सच्चा सुख प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

1. आत्मधर्म अंक 182(16 जून वर्ष 1960), पृ. 62

● व्यवहारनय

व्यवहारनय का विषय भेद है, अतः व्यवहारनय वस्तु के अशुद्ध (संयोगी) स्वरूप का कथन करता है। एक द्रव्य के भाव को दूसरे द्रव्य का बताना, एक द्रव्य की परिणति को दूसरे द्रव्य की बताना, दो द्रव्यों के कारण-कार्यादिक में भी किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करना – ये सब उपचरित कथन हैं। जीव व शरीर के संयोग को देखकर उन्हें एक कहना व्यवहारनय का कथन है, जैसे-जीव व देह एक हैं। कानजी स्वामी के शब्दों में – “इस द्रव्य के भाव को उपचार से अन्यद्रव्य के भाव-स्वरूप निरूपण करना व्यवहारनय है।” इसप्रकार स्पष्ट है कि व्यवहारनय पराश्रित कथन ही करता है। अतः व्यवहारनय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, हेय है, क्योंकि वह वस्तु के असत्य स्वरूप का कथन करता है।¹¹

यद्यपि व्यवहारनय कथनभेद कथन करने के कारण असत्यार्थ है, हेय है तथापि सत्य की प्रतीति में निमित्त है, निश्चय का प्रतिपादक है; अतः प्रारम्भिक भूमिका में इसकी उपयोगिता है, जिसप्रकार म्लेच्छ भाषा के बिना म्लेच्छ को समझाना सम्भव नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय को समझाना सम्भव नहीं है, अतः जिनवाणी में व्यवहार का कथन आया है। म्लेच्छ को समझाने के लिये भले ही म्लेच्छ भाषा का आश्रय लेना पड़े पर म्लेच्छ हो जाना ठीक नहीं¹² इसीप्रकार निश्चय का प्रतिपादक होने से भले ही व्यवहार से कथन हो पर उसका अनुकरण करना तो ठीक नहीं है। तथापि यदि निश्चय को न जाननेवाला व्यक्ति व्यवहार को ही निश्चय मान ले तो उसके लिये यह उपदेश नहीं है, जैसे-जिसने शेर को नहीं जाना है, उसे बिल्ली के माध्यम से शेर को समझाया जाता है; किन्तु यदि बिल्ली के माध्यम से समझाये जाने पर वह बिल्ली को ही शेर मान ले तो वह गलती ही करेगा। उसीप्रकार व्यवहार के द्वारा प्रतिपादन किये जाने पर व्यवहार को ही निश्चय मान लें तो वह वस्तु का सत्य स्वरूप नहीं समझ सकेगा।

1. मोक्षमार्ग की किरणें-2 (कानजी स्वामी), पृ. 358

“निश्चयनय की मुख्यता से पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर दृष्टि हटाने के प्रयोजन से उन्हें असत्यार्थ कहा है। नयों का कथन जहाँ जैसा हो वैसा समझना चाहिये यदि ठीक तरह से न समझोगे तो विपरीतता हो जायेगी।”¹¹

“जिनवाणी स्याद्वादरूप है, अपेक्षा से कथन करने वाली है। अतः जहाँ जो अपेक्षा हो वही समझना चाहिये। प्रयोजनवश शुद्धनय को मुख्य करके सत्यार्थ कहा है और व्यवहारनय को गौण करके असत्यार्थ कहा है।”¹²

व्यवहारनय मात्र दूसरों को ही समझाने के लिये उपयोगी नहीं है, वरन् जब तक स्वयं निश्चय द्वारा वर्णित वस्तु को न पहिचान सके तब तक व्यवहार द्वारा वस्तु को स्वयं समझना भी उपयोगी है। व्यवहार को उपचारमात्र मानकर उसके द्वारा मूलभूत वस्तु का निर्णय करना उपयोगी है पर व्यवहार को निश्चय के समान सत्य समझना उपयुक्त नहीं है।

● निश्चयनय

सच्चे निरूपण को निश्चयनय कहते हैं। निश्चयनय को शुद्ध नय भी कहते हैं। निश्चयनय का विषय अभेद है। निश्चयनय वस्तु के शुद्धस्वरूप का यथावत् निरूपण करता है, असंयोगी कथन करता है, प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र कथन करता है, अर्थात् जिस द्रव्य का जो भाव होता है उसे उसरूप ही निरूपण करता है, द्रव्य की परिणति को भी उस ही की कहता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है, अतः निश्चयनय स्वाश्रित कथन ही करता है इसलिये यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, उपादेय है।

कानजी स्वामी के निश्चयनय से सम्बन्धित भाव इसप्रकार हैं –

“एक ही वस्तु के भाव को उसी स्वरूप से निरूपण करना निश्चय नय है।”¹³

1. आत्मधर्म, अंक 03, (वर्ष 1936), पृ. 36

2. प्रवचनरत्नाकर भाग-1 (कानजी स्वामी), पृ. 48

3. मोक्षमार्ग की किरणें-2 (कानजी स्वामी), पृ. 358

“निश्चयनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, वह वस्तु के सत्य स्वरूप का उद्घाटन करता है।”¹

निश्चय-व्यवहार की विषय-वस्तु और कथनशैली में मात्र भेद ही नहीं, अपितु विरोध दिखाई देता है; क्योंकि जिस विषयवस्तु को निश्चयनय अभेद, अखण्ड कहता है, व्यवहार उसी में भेद बताने लगता है और जिन दो वस्तुओं को व्यवहार एक बताता है, निश्चय के अनुसार वे कदापि एक नहीं हो सकती हैं। जैसे-व्यवहारनय कहता है जीव और देह एक ही हैं और निश्चयनय कहता है कि जीव और देह कदापि एक नहीं हो सकते।

व्यवहार मात्र एक अखण्ड वस्तु में भेद ही नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में अभेद भी स्थापित करता है। इसीप्रकार निश्चय मात्र एक अखण्ड वस्तु में भेदों का निषेध कर अखण्डता की ही स्थापना नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में व्यवहार द्वारा प्रयोजनवश स्थापित एकता का खण्डन भी करता है।

इसप्रकार निश्चयनय का कार्य पर से भिन्नत्व व निज में अभिन्नत्व स्थापित करना है तथा व्यवहार का कार्य अभेदवस्तु को भेद करके समझाने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संयोग व तन्निमित्तक संयोगी भावों का ज्ञान कराना है। निश्चय का कार्य अभिन्न कर्ता-कर्म आदि षट्कारक के साथ-साथ कर्ता-कर्म के भेद का निषेध भी है तथा व्यवहार का कार्य जहाँ एक ओर कर्ता-कर्म का भेद करना है, वहीं दूसरी ओर भिन्न-भिन्न द्रव्यों के बीच कर्ता-कर्म का सम्बन्ध बताना भी है। अतः स्पष्ट है कि व्यवहार का प्रतिषेध करना ही निश्चयनय का वाच्य है। व्यवहारनय निषेध्य है और निश्चय उनका निषेधक है।

व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक है, उसके बिना निश्चयनय का प्रतिपादन सम्भव भी नहीं है; क्योंकि व्यवहारनय अभेद अखण्ड वस्तु में भेद करके भी समझाता तो अभेद अखण्ड को ही है, संयोग से भी समझाता असंयोगी

तत्त्व को ही है, अतः व्यवहार-निश्चय का प्रतिपादक है। तथा निश्चय का काम व्यवहार का निषेध करना है; निषेध करके अभेद, अखण्ड, असंयोगी तत्त्व की ओर ले जाना है।

अतः स्पष्ट है कि व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिये व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिये व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

जिसप्रकार साबुन लगाये बिना कपड़ा साफ नहीं होता और साबुन लगा रहने पर भी कपड़ा साफ नहीं होता; साबुन लगाकर धोने से कपड़ा साफ होता है। साबुन लगाया ही धोने के लिये जाता है, उसकी सार्थकता भी लगाकर धो डालने में है। उसीप्रकार व्यवहार की सार्थकता भी उसके निषेध में है। व्यवहार के बिना निश्चय समझा नहीं जा सकता और व्यवहार को छोड़े बिना निश्चय पाया नहीं जा सकता। निश्चय को समझने के लिये व्यवहार को अपनाना होगा और निश्चय को पाने के लिये व्यवहार को छोड़ना ही होगा।

यद्यपि व्यवहारनय निषेध्य है और निश्चयनय निषेधक हैं; तथापि जैनदर्शन में पक्ष तो दोनों नयों का ही छुड़ाया है; क्योंकि उनके अनुसार उक्त नयवाद शुद्धात्म-तत्त्व की खोज या प्रतिपादन काल में ही चलता है, अनुभूति के काल में नहीं। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा का आश्रय लेना आवश्यक है। नयपक्षातीत जीव शुद्धात्मा का अनुभव करता हुआ दोनों नयों के कथन को जानता ही है, नय पक्ष को किञ्चित् भी ग्रहण नहीं करता।

3. अनेकान्त

कानजी स्वामी के प्रवचनों का मूल दार्शनिक सिद्धान्त/विषय अनेकान्त व स्याद्वाद रहा है। अनेकान्त जैनदर्शन का हृदय है। समस्त जैन वाङ्मय

अनेकान्त के आधार पर वर्णित है। उसके बिना जैनदर्शन को समझ पाना दुष्कर है। अनेकान्त दृष्टि एक ऐसी दृष्टि है जो वस्तुतत्त्व को समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करती है। इसलिये उपलब्ध आगमों में वस्तु तत्त्व के प्रतिपादन में अनेकान्त दृष्टि का आश्रय लिया गया है। अतः स्पष्ट है कि अनन्तधर्मात्मक वस्तु ही अनेकान्त है अथवा **एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का युगपत् प्रकाशित होना अनेकान्त है।** जैसे जो वस्तु नित्य है वही अनित्य है, जो सत् है वही असत् है आदि।

आचार्य अमृतचन्द्र 'आत्मख्याति' टीका में लिखते हैं -

“स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला अरहन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) कहता है कि अनेकान्त स्वभाववाली होने से अनेकान्तात्मक है, जो वस्तु तत् है, वही अतत् है। जो नित्य है, वही अनित्य है। इसप्रकार एक वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों पर प्रकाशित होना अनेकान्त है।”

अनेकान्त की परिभाषा को कानजी स्वामी ने इसप्रकार स्पष्ट किया है-

“एक वस्तु में वस्तुपने को निपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना वह अनेकान्त है। वस्तु स्वपने है और परपने नहीं यह अनेकान्त है।”¹

“प्रत्येक वस्तु अनेकान्तरूप से निश्चित होती है। एकवस्तु में वस्तुपने को उत्पन्न करने वाली अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।”²

‘अनेकान्त’ अनेक और अन्त इन दोनों शब्दों के मेल से निष्पन्न है। अनेक का अर्थ एक से अधिक होता है। एक से अधिक या दो से अधिक

1. दिव्यध्वनिसार-1 (कानजी स्वामी), पृ. 171

2. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव (कानजी स्वामी), पृ. 229

अनन्त भी हो सकता है तथा अन्त का अर्थ धर्म, अंश या गुण किया जा सकता है।

“प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान हैं अतः जहाँ अनेक का अर्थ अनन्त होगा वहाँ अन्त का अर्थ गुण लेना चाहिये। इस व्याख्या के अनुसार अनन्त गुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है। लेकिन जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जायेगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में विद्यमान होना अनेकान्त है”¹ – इसप्रकार प्रत्येक वस्तु अनेक गुणों व धर्मों से युक्त है।

यद्यपि ‘धर्म’ शब्द का सामान्य अर्थ गुण होता है। शक्ति आदि नामों से भी उसे अभिहित किया जाता है। तथापि गुण और धर्म में कुछ अन्तर है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं जिन्हें गुण या धर्म कहते हैं। उनमें से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं उन्हें धर्म कहते हैं। जैसे – नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सत्-असत्, भिन्नता-अभिन्नता आदि। जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं निरपेक्ष हैं उन्हें गुण कहते हैं। जैसे आत्मा के ज्ञान-दर्शन सुख आदि पुद्गल के रूप, रस, गंध वर्ण आदि।²

जैनदर्शन के अनेकान्त की यह विशेषता है कि उसमें विभिन्न अपेक्षाओं से परस्पर विरोधी धर्म भी एकसाथ रह सकते हैं। इसमें एकान्तवादियों का दृढ़ग्रह है कि एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म कैसे रह सकते हैं? जो भावरूप हैं; वह अभावरूप कैसे हो सकते हैं? तथा अभाव भावरूप कैसे हो सकता है? इसी को जैनागम में अनेकान्त दृष्टि से सरल तरीके से समाधान करते हुए कहा है कि – परस्पर विरोधी दिखने वाले धर्मों के साथ रहने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि वस्तु में अनन्त धर्म पाये जाते हैं। इसलिये प्रत्येक धर्मों का अर्थ भिन्न-भिन्न होते हुये भी विवक्षित या

1. अनेकान्त व स्याद्वाद, पृ. 05

2. तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृ. 143

अर्पित धर्म की दृष्टि से उनका मुख्य रूप से अविविधित या अनर्पित की दृष्टि से गौणरूप में रहने में कोई आपत्ति नहीं है।

अनेकान्तवाद में अनेकान्त को स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनय साधनः।

अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।¹

यह सत्य है कि जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है, तथापि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी माने तो यह भी एकान्त हो जायेगा। अतः जैनदर्शन में अनेकान्त में अनेकान्त को स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन न सर्वथा एकान्तवादी है न अनेकान्तवादी। वह कथंचित् एकान्तवादी और कथंचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त में अनेकान्त है।

“जैनदर्शन में एकान्त भी दो प्रकार का है और अनेकान्त भी दो प्रकार का है। यथा – सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त, सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। निरपेक्ष नय मिथ्या एकान्त हैं और सापेक्ष नय सम्यक् एकान्त। सापेक्ष नयों का समूह अर्थात् श्रुतप्रमाण सम्यक् अनेकान्त है और निरपेक्ष नयों का समूह अर्थात् प्रमाणाभास मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक् एकान्त नय है और सम्यक् अनेकान्त प्रमाण।”²

अनेकान्तवाद सर्वनयात्मक है। जिसप्रकार बिखरे हुए मोतियों को एक सूत्र में पिरो देने से मोतियों का सुन्दर हार बन जाता है, उसीप्रकार भिन्न-भिन्न नयों को स्याद्वादरूपी सूत्र में पिरो देने से सम्पूर्ण नय श्रुत प्रमाण कहे जाते हैं।

“अनेकान्त में सम्पूर्ण सम्यक् एकान्तों का विलास है, उसमें एकान्तों के विरोध को समाप्त करने की सामर्थ्य है।³ क्योंकि विरोध वस्तु में नहीं

1. स्वयंभू स्तोत्र, श्लोक 103

2. राजवार्तिक, अ. 1, पृ. 35

3. पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्लोक 02

अज्ञान में है। जैसे- “एक हाथी को अनेक जन्मांध व्यक्ति छूकर जानने का यत्न करें और जिसके हाथ में हाथी का पैर आ जाये वह हाथी को खम्भे के समान, पेट पर हाथ फेरने वाला दीवाल के समान, कान को पकड़ने वाला सूप के समान और सूँड़ को पकड़ने वाला केले के स्तम्भ के समान कहे तो वह सम्पूर्ण हाथी के बारे में सही नहीं होगा। क्योंकि अंश को पकड़कर सर्वांश कहा गया है। यदि अंश का कथन किया जाये तो गलत नहीं होगा। जैसे यह कहा जाये कि हाथी का पैर खम्भे के समान है, कान सूप के समान हैं, पेट दीवाल के समान है तो कोई असत्य नहीं, क्योंकि यह कथन सापेक्ष है और सापेक्ष नय सत्य होते हैं अकेला पैर हाथी नहीं, इसीप्रकार अकेला अंगी को व्यक्ति नहीं कह सकते हैं।”¹¹

इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि सम्यक् एकान्तों का समूह ही सम्यक् अनेकान्त हैं। इसप्रकार सम्यक् अनेकान्त में कथंचित् एकान्त व कथंचित् अनेकान्त को गर्भित किया गया है। अतः जैनदर्शन का अनेकान्त सिद्धान्त वस्तुतत्त्व के निर्णय करने में पूर्णतः वैज्ञानिक सिद्ध होता है। जैन वाङ्मय में अनेकान्त के स्वरूप का प्रतिपादन अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। इसे किसी ने नवीन बनाया नहीं है।

4. स्याद्वाद

जब वस्तु तत्त्व ही अनेकान्तात्मक है तो उसके प्ररूपण के लिये किसी भाषा-शैली को अपनाना भी जरूरी है। स्याद्वाद उसी भाषा-शैली का नाम है। जिससे अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व का प्ररूपण होता है।

स्याद्वाद की परिभाषा बताते हुए कानजी स्वामी ने कहा है -

“स्याद्वाद अर्थात् यथार्थ वस्तु अनेकान्त स्वरूप है। उसे बताने वाली सम्यक् अपेक्षा स्याद्वाद है।”¹²

स्याद्वाद शब्द दो पदों से बना है - स्यात् और वाद। जिसका अर्थ है

1. तीर्थंकर महावीर, पृ.149

2. दिव्यध्वनिसार-2 (कानजी स्वामी), पृ.326

कथंचित् रूप से कथन करना। वास्तव में अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है।

“किसी भी एक शब्द या वाक्य के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का युगपत् कथन करना अशक्य होने से प्रयोजनवश एक धर्म को मुख्य करके कथन करते और कभी दूसरे को। मुख्य धर्म को सुनते हुए श्रोता के अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहें। उनका निषेध न होने पाये इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने वाक्य के साथ स्यात् या कथंचित् शब्द का प्रयोग करते हैं।” इससे वस्तु के वास्तविक स्वरूप स्पष्ट होने के साथ वक्ता का भी प्रयोजन सध जाता है। इस ‘स्याद्वाद’ की दार्शनिक जगत में इतनी अधिक प्रसिद्धि है कि लोग स्याद्वाद को अनेकान्त का पर्याय समझने लगे। जबकि दोनों में स्पष्ट अंतर है। स्याद्वाद-अनेकान्त, वाचक-वाच्य है। स्याद्वाद वाचक और अनेकान्त वाच्य है।

स्याद्वाद मुख्यरूप से यह बताता है कि वस्तु मात्र एक धर्म वाली ही नहीं है, उसमें और भी धर्म गुण विद्यमान हैं। किस धर्म को मुख्य, किसको गौण, किसको हेय और किसको उपादेय करना – इसका निर्णय विवक्षा और अविवक्षा पर निर्भर रहता है। जैसे – स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा वस्तु उपादेय है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा हेय है।

स्याद्वाद शैली में ‘भी’ और ‘ही’ का समान महत्त्व है। ‘भी’ समन्वय की सूचक न होकर ‘अनुक्त’ की सत्ता की सूचक है और ‘ही’ आग्रह की सूचक न होकर दृढता की सूचक है। इनके प्रयोग के लिये जैसे-प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है। यदि इसी को हम अपेक्षा लगाकर कहेंगे तो इस प्रकार कहना होगा कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य ही है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य ही है।¹

प्रमाण वाक्य में मात्र ‘स्यात्’ पद का प्रयोग होता है किन्तु नयवाक्य

1. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोष-4, पृ. 497

2. तीर्थकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृ. 136

में स्यात् पद के साथ-साथ 'एव' ही का प्रयोग आवश्यक है। 'ही' सम्यक् एकान्त का सूचक है और 'भी' सम्यक् अनेकान्त का।'

स्याद्वाद का प्रयोग करने में, समझने में वक्ता एवं श्रोता दोनों को अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है। अन्यथा एकांगी होकर स्वयं का अहित कर लेता है।

“जिनेन्द्र भगवान का स्याद्वादरूपी नय चक्र अत्यन्त पैनी धार वाला है, इसे अत्यंत सावधानी से चलाना चाहिये अन्यथा धारण करने वाले का ही मस्तक भंग हो सकता है। इसे चलाने के लिये नयचक्र में चतुर गुरुओं की शरण लेना चाहिये। उनके सानिध्य में इसके मर्म को समझना चाहिये।”¹¹

अनेकान्त और स्याद्वाद के सम्बन्ध में साहित्य एवं दर्शनों के श्रेष्ठ विद्वानों के मन्तव्य दृष्टव्य हैं -

1. महामहोपाध्याय सत्यसम्प्रदायाचार्य पं. स्वामी राममिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज, वाराणसी लिखते हैं कि -

“मैं कहाँ तक कहूँ, बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है जिसे सुन देखकर हँसी आती है। स्याद्वाद यह जैनधर्म का अभेद्य किला है। उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामयी गोले प्रवेश नहीं कर सकते। जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।”¹²

2. ऐतिहासिक विद्वान एवं राष्ट्रीय कवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं -

“इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है। और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।”¹³

1. पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्लोक 58

2. तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृ. 152

3. संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 137

3. हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि -

“प्राचीन दर्जे के हिन्दु धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते हैं कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है।”¹¹

4. प्रोफेसर आनन्दशंकर बाबू भाई ध्रुव लिखते हैं -

“भगवान महावीर के सिद्धान्त में बताये गये स्याद्वाद को कितने लोग संशयवाद कहते हैं। इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु वह एक दृष्टि बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिये - यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद पर आक्षेप करना अनुचित है।”¹²

इसप्रकार विभिन्न आगम ग्रन्थों और दार्शनिक विद्वानों के अभिमतों से यह तथ्य पूर्ण रूप से स्पष्ट होता है कि जैनधर्म का अनेकान्त एवं स्याद्वाद सिद्धान्त वस्तुस्वरूप से निर्मित विश्व व्यवस्था समझने के लिये पूर्णतः उपयोगी सिद्ध होता है। जिसने इसे समझ लिया उसे निश्चित रूप से आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। क्योंकि स्याद्वाद वस्तु तत्त्व के निरूपण की तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक प्रणाली है। यह न निश्चयवाद है और न ही सन्देहवाद। यह स्पष्ट है कि स्याद्वाद किसी निश्चित अपेक्षा से एक निश्चित धर्म का प्रतिपादन करता है।

5.4.3. कर्म-मीमांसा

संसार भ्रमण किन कारणों से होता है ? कोई अमीर कोई गरीब क्यों है ? कोई ज्ञान सम्पन्न कोई अज्ञानी क्यों है ? कोई बन्धन सहित कोई बन्धन रहित क्यों है ? उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर जहाँ से निकाले जाते हैं दर्शन में उसे कर्म-मीमांसा के रूप में संभाषित करते हैं। कर्म-मीमांसा

1. तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृ. 151

2. वही, पृ. 153

में कर्मबन्धन की प्रक्रिया के साथ-साथ उस आचरण पर भी विचार किया जाता है जो सदाचार की संज्ञा से सुशोभित होता है।

कर्म मीमांसा में कर्मबन्धन की प्रक्रिया, उसके कारण, एवं भेद-प्रभेदों का विचार किया जाता है। तथा गृहस्थ के उन बाह्य कर्मों का तथा साधु के उन व्रतों का भी इसमें विचार समाहित है जो उसके जीवन के लिये भूमिकानुसार आवश्यक है। कानजी स्वामी ने अपने प्रवचन साहित्य में इस तथ्य पर विशेष वजन दिया है। उन्होंने सदा बन्धन से छूटने के उपायों पर चर्चा के साथ-साथ बन्धनों के कारणों का उल्लेख किया है। उनके प्रवचन साहित्य में निम्नरूप में कर्ममीमांसा का दिग्दर्शन होता है-

1. कर्मबन्धप्रक्रिया

दार्शनिक पृष्ठभूमि में प्रमाण मीमांसा, तत्त्वमीमांसा एवं आचार मीमांसा विवेच्य होते हैं। उक्त विवेच्यत्रय में तत्त्व मीमांसा की प्रधानता है। तत्त्वमीमांसा में मुख्यतया उन तत्त्वों का निर्देश होते हैं, जो या तो संसार के कारण है अथवा मुक्ति के। संसार के कारणों की चर्चा में बन्धन को प्रधानरूप से स्वीकार किया गया है। क्योंकि बन्धन ही संसार है। संसार में परमुक्तावस्था ही निर्बन्ध है।

जैनदर्शन के आलोक में उक्त विवेचना बड़ी ही व्यवस्थित एवं तार्किक है क्योंकि यह बन्धन प्रक्रिया कर्म सापेक्ष है। कर्मों के आगमनपूर्वक ही बन्ध होता है एवं यह परम्परा जीवों की योग्यता के अनुसार अनादिसान्त एवं अनादि अनन्त है। नूतन बन्ध की विवेचना के समय हमें जीव के उन भावों का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। जिन भावों से बन्ध होता है। जीव के दो भाव हैं - प्रथम स्वभाव भाव द्वितीय विभाव भाव। स्वभाव अर्थात् "जिसके द्वारा जीव का निश्चय किया जा सकता है तथा जिसका अनादि से लेकर कभी भी अभाव नहीं होता।"¹

अर्थात् जिस लक्षण से जीव की पहिचान हो वह जीव का स्वभाव है।

1. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-1 (कानजीस्वामी), पृ.117

जैसे ज्ञान दर्शन जीव का स्वभाव भाव है। यह स्वभाव भाव अनादि से है इसका कदापि विनाश नहीं होता है। द्वितीय विभाव भाव स्वभाव के विपरीत भाव कहलाता है अर्थात् यदि स्वभाव से जीव की पहिचान होती है तो विभाव से जीव का अनादर होता है। स्वभाव यदि मुक्ति में सहायक है तो विभाव भी बन्धन में, संसार में कारण है और यह विभाव भी अनादि सान्त एवं अनादि अनन्त हैं। भव्य जीवों की सापेक्षता यही विभाव अनादि सान्त हैं। तथा अभव्य जीवों की सापेक्षता अनादि अनन्त हैं।

उक्त भावद्वयों में विभाव भाव ही कर्मबन्ध का हेतु कहा गया है। क्योंकि “स्वभाव बन्ध का कारण हो तो बन्ध से छूटना हो ही नहीं सकता। ज्ञान-दर्शन वीर्य का उधाड़ है। उसके द्वारा तो बन्ध नहीं होता। परन्तु कर्म के उदय के निमित्त से ज्ञान, दर्शन, वीर्य जितने अभावरूप हैं उनसे भी बन्ध नहीं होता।”¹

अर्थात् बन्धन का कारण स्वभाव नहीं है। बन्धन तो हीनता का सूचक है। उलझन का कारण है। अतः उसका कारण भी हीनतामय विभाव ही है।

इस विभाव को विश्लेषित करने पर उसमें से प्रभेद स्वरूप विविध भावों का जन्म होता है, जिन्हें संक्षेप में मोह-राग-द्वेष के रूप में एवं विस्तार में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र, क्रोध, मान, माया, लोभादि रूप में कह सकते हैं। उक्त वैभाविक सेना ही चेतनराजा (जीव) को आवरणित करती है। उसके स्वभाविक परिणमन को अभिव्यक्त नहीं होने देती। इन्हीं भावों से कर्मों का आगमन एवं बन्धन होता है।

कर्मबन्धन की प्रक्रिया समझने के लिये कर्म का विवेचन भी अनिवार्य है। कार्माण वर्गणा का परिणमन ही कर्म है। जो पुद्गलमय होने से द्रव्यकर्म एवं तदनुसार जीव के वैभाविक परिणामों को भावकर्म कहते हैं। उक्त प्रभेद परम्परा परस्परश्रित है अर्थात् द्रव्यकर्म के ही उदय से

भावकर्मगमन होता है। एवं भावकर्म के अनुसार कर्मावली का बन्धन अर्थात् द्रव्यकर्म बंधता है।

उक्त परस्पराश्रितता से इतरेतराश्रय दोष की संभावना का निराकरण करते हुए कहते हैं कि - “इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष नहीं है। जिन जड़कर्मों के निमित्त से राग होता है वे ही जड़कर्म नहीं बंधते हैं। राग के कारण तो नये कर्म बंधते हैं, वर्तमान राग से पुराने कर्म बंधते हों तब तो इतरेतराश्रय दोष लगता है परन्तु वर्तमान राग से पुराने कर्म नहीं बंधते हैं परन्तु वर्तमान राग से तो नये कर्म बंधते हैं अतः यह दोष नहीं लगता। जिन द्रव्य कर्मों के निमित्त से राग हुआ उस राग से वे ही कर्म बंधे - ऐसा मानने में आये तो दोष लगे, परन्तु ऐसा नहीं होने से दोष नहीं लगता।”¹¹

उक्त प्रभेद में बन्धन तो द्रव्यकर्मों का ही होता है, परन्तु उसमें निमित्त जीव के भाव होते हैं। जिस प्रकार के भाव होते हैं उसी प्रकार का कर्म बन्धन होता है। मिथ्यात्व भाव से तत्सम्बन्धी कर्म का बन्धन होता एवं कषाय से तत्सम्बन्धी कर्मों का बन्ध होता है। यदि स्वभाव के घातक भाव होंगे तो उनसे ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का बन्धन होगा तथा बाह्यानुकूलता प्रतिकूलता से सम्बन्धित भाव होंगे तो अघातिकर्मों का बन्धन होगा। मुख्यता भावों की है न कि बाह्य सामग्री आदि की।

जब मोहनीय का उदय हो उस समय जीव स्वयं अतत्त्व श्रद्धान करता है। वह मिथ्यात्वभाव है और जीव कषायभाव करता है, वे नवीन बन्ध के कारण हैं।

“वह शरीरादि व धनादि सामग्री बन्ध का कारण नहीं है - ऐसा कहते हैं। कंचन, कामिनी और कुटुम्ब बंध के कारण नहीं हैं। विपरीत मान्यता और राग-द्वेषादि ही एकमात्र बन्धन के कारण हैं।”¹² कर्मबन्ध की सहेतुक प्रक्रिया पर विचार किया जाये तो क्रिया तीन प्रकार की होती है³ -

1. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-1 (कानजीस्वामी), पृ. 102

2. वही, पृ. 125

3. प्रवचन रत्नाकर भाग-3 (कानजी स्वामी), पृ. 30

1. शरीर, मन, वाणी धनादि जड़रूप पर द्रव्य की क्रिया
2. परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न हुई राग की क्रिया
3. स्वरूप के लक्ष्य से उत्पन्न हुई ज्ञान क्रिया

उक्त तीनों क्रियाओं के आधार से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कर्मबन्धन किस क्रिया से होता है? क्योंकि ज्ञान की क्रिया तो स्वभावमयी होने से मुक्ति का कारण है। परद्रव्य से बन्धन हो नहीं सकता क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का अकर्ता है, अतः अन्त में राग की क्रिया ही अवशिष्ट है जिससे बन्ध होता है। बन्धन जड़रूप होता है। परन्तु उसमें निमित्त चैतन्य का विभावांश होता है उससे ही बन्धन होता है।

आत्मा तादात्म्य सम्बन्ध से ज्ञानस्वरूप है तथा संयोगसिद्ध सम्बन्ध से रागादिरूप है। परन्तु यह जीव ज्ञान स्वरूप को भूलकर “जब यह आत्मा अज्ञानतावश शुभाशुभ विकारभाव से परिणमन करता है तब कर्मरूप से परिणमन करने वाले पौद्गलिक रजकण स्वयं की योग्यता से स्वकाल में कर्मरूप परिणमन करते हैं।”¹¹

उक्त कथन बन्ध की प्रक्रिया में निमित्तोपादान की भूमिका को परिलक्षित कर रहा है अर्थात् रागादि के निमित्त से जब यह जीव रागादि में वर्तता है, तब कर्मबन्धन राग से हुआ – ऐसा कहा जाता है। परन्तु वह बन्धन परमाणुओं की स्वकीय योग्यता से उत्पन्न हुआ – ऐसा उपादान सापेक्ष कथन किया जाता है, परन्तु बन्धन तो जीव की स्वयं की भूल से ही अथवा वैभाविक भावों में प्रवर्तन करने से होता है।

वैभाविक भावों में प्रवर्तन किस प्रकार होता है इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि –

“यह जीव ऐसा मानता है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों को मैं मारता हूँ, मार सकता हूँ”¹² तथा “मैं परजीवों का जीवनदाता,

1. प्रवचन रत्नाकर भाग-3 (कानजी स्वामी), पृ. 40

2. वही, पृ. 54

पालनहार, रक्षक एवं परजीव डॉक्टर इत्यादि मेरे जीवनदाता हैं'¹ ऐसा अध्यवसाय ही कर्मबन्ध का कारण है। यह अध्यवसाय कोई अन्य नहीं वही राग है जिसे उमास्वामी ने पांच कारणों के रूप में कहा है -

“मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाःबन्धहेतवः”²

अर्थात् मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच बन्ध के कारण हैं।

उक्त पांच कारणों को ही संक्षिप्त रूप में यहाँ राग कहा है क्योंकि वह राग परिणाम मिथ्यात्व और कषाय से अनुरंजित है। वहाँ पर प्रत्येक अवस्था अर्थात् गुणस्थानों का पृथक् कारण निर्देशित किया परन्तु यहाँ अध्यात्म की प्रमुखता होने से मूल कारण ही बताया गया है क्योंकि यह संसार का कारण है।

सिद्धान्तग्रन्थों एवं अध्यात्मग्रन्थों में विवेचन की पद्धति में थोड़ा सा अन्तर है। सिद्धान्त ग्रन्थों में जहाँ बन्ध मात्र को बतलाना मुख्य होता है। वहीं अध्यात्म ग्रन्थों में दुःख सापेक्ष बन्ध को बताना मुख्य ध्येय होता है। कानजी स्वामी ने जब बृहद्द्रव्यसंग्रह पर प्रवचन किये तब सैद्धान्तिक विवक्षा को स्थापित करते हुए अर्थ परिभाषित किया एवं जब आध्यात्मिक समयसारादि परमागमों पर अनुभव व्यक्त किये तब उस आध्यात्मिक विवक्षा को ही प्रमुखता दी। इससे वक्ता की मुख्यता, गौणतामय स्याद्वाद प्रतिभा का निर्णय होता है।

अध्यात्म ग्रन्थों में निश्चय की प्रमुखता होने से मोह को ही बन्ध का कारण कहा जाता है। अन्य कारणों को किञ्चित् बन्ध का हेतु मानकर उन्हें गौण किया जाता है क्योंकि मूल बन्ध तो मिथ्यात्व के कारण ही हैं। उसका अभाव होने पर कुछ समय पश्चात् निश्चित् रूप से बन्ध का सम्पूर्ण अभाव होकर मुक्त अवस्था होती ही है। जैसा कि कानजी स्वामी ने अपने

1. प्रवचन रत्नाकर भाग-8 (कानजी स्वामी), पृ. 64

2. तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वामी, अ. 08

प्रवचनों में कहा है कि - “तेल की चिकनाई ही रजबन्ध का कारण है। सचित्ताचित्त पदार्थ नहीं। उसी तरह कर्मरज के बन्ध का कारण रागादि परिणाम ही हैं, अन्य नहीं।”¹

इस तरह दार्शनिक विषय का विवेचन कानजी स्वामी के प्रवचनामृत में आध्यात्मिक और सैद्धान्तिक दोनों रूपों में प्राप्त होता है। उन्होंने प्रत्येक स्थान पर अपने प्रतिपाद्य को बड़ी दृढ़ता एवं सतर्कता से स्थापित भी किया है। स्थान-स्थान पर उस प्रक्रिया से मुक्ति हेतु प्रेरणायें, उपदेश एवं आदेश भी दिये हैं।

2. अहिंसा

साधारणभाषा में अहिंसा का अर्थ होता है हिंसा न करना। किन्तु जब हिंसा-अहिंसा की चर्चा चलती है तो हमारा ध्यान प्रायः दूसरे जीवों को मारना, सताना या उनकी रक्षा आदि की ओर ही जाता है। दूसरों की हिंसा मत करो। बस यही अहिंसा है किन्तु वह वास्तविक अहिंसा नहीं है क्योंकि दूसरों को मारना या बचाना इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपने को पर का कर्ता माना बस इसी में स्वभाव की हिंसा है। पर दया पालन करना वह अहिंसा ही नहीं है। सच बात तो यह है कि अधिकांश लोग हिंसा-अहिंसा की सच्ची व्याख्या ही नहीं जानते। लोग जड़ शरीर और चैतन्य आत्मा को पृथक् कर देने को हिंसा कहते हैं। किन्तु हिंसा की यह व्याख्या सही नहीं है। क्योंकि शरीर और आत्मा तो सदा से पृथक् ही हैं। उन्हें पृथक् करने की बात केवल औपचारिकता ही है। आत्मा तो पुण्य-पाप की वृत्ति से रहित चैतन्य ज्ञानमूर्ति है। इस स्वरूप को न मानकर पुण्य-पाप को अपना मान लिया। अपने को भूलकर पर में जितनी सुखबुद्धि मानी उतनी स्व हिंसा ही है। कोई पर की हिंसा नहीं करता। आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है। कानजी स्वामी के प्रवचनों से स्पष्ट है कि -

“स्वयं ने स्वयं की दया नहीं की अर्थात् अपना अनन्त चैतन्यज्योतिमय

जीता जागता जीवन है। उसको नहीं माना और रागादिरूप ही मैं हूँ, ऐसा स्वीकार किया यही अपनी हिंसा है। जैसा स्वरूप है वैसा न मानना ही स्वहिंसा है।¹¹

अपने चैतन्य स्वभाव का घात करना ही वास्तविक हिंसा है। और पुण्य-पाप को अपना न मानकर केवल ज्ञायक रूप पृथक् जैसा है, उसी स्वभाव को मानना ही सच्ची अहिंसा है।

उसी अहिंसा को और अधिक स्पष्ट करते हैं कि -

“अहिंसा परमो धर्मः” वाक्य का अर्थ किया है कि आत्मा शुद्ध ज्ञायक स्वभावरूप अखण्ड है। उसकी अन्तर श्रद्धा करके उसमें एकाग्र रहना उसी का नाम अहिंसा है। और वह परम धर्म है।¹²

पुरुषार्थसिद्धि उपाय में गाथा 44 में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने जिनागम के महान सिद्धान्त अहिंसा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है -

“अप्रादुर्भाव खलु, रागादीनां भवत्यहिंसेति।

तेषामेवोत्पत्ति, हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।”¹³

अर्थात् आत्मा में रागादिभाव की उत्पत्ति नहीं होना, वीतरागभाव होना अहिंसा है और रागादि भाव की उत्पत्ति होना हिंसा है। यह जिनागम का सार है।

इसी भाव को कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में स्पष्ट किया है कि

“राग की उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है और वह अहिंसा परम धर्म है। बाकी पर की दया का भाव भी राग और हिंसा है। पर द्रव्य स्वतन्त्र तत्त्व है, परन्तु दया पालने का जो भाव होता है वह शुभराग है, वह शुभराग हिंसा है। उसमें चैतन्य स्वभाव की हिंसा होती है।”¹⁴

1. प्रवचन सागर के अनमोल मोती, पृ. 03

2. आत्मधर्म, अंक 03, वर्ष 01, पृ. 48

3. पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्लोक 44

4. प्रवचनरत्नचिन्तामणि-2 (कानजी स्वामी), पृ. 81

“चैतन्य में लीनता होने पर ऐसा आनन्द आता है कि राग की उत्पत्ति ही नहीं होती ऐसा धर्मी जीव की अहिंसा है। ऐसी वीतरागी अहिंसा ही परम धर्म है। परम धर्म रूप ऐसी अहिंसा जिनमार्ग में होती है।” इस प्रकार हिंसा-अहिंसा का यथार्थ स्वरूप है। हिंसा-अहिंसा पर में नहीं किन्तु अपने स्वभाव में ही होती है।

5.4.4. अन्य दार्शनिक सिद्धान्त

प्रत्येक दर्शन के अपने-अपने पृथक् सिद्धान्त हैं, जिनके आधार से वे अपनी तत्त्व-व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं। जैनदर्शन के भी अपने मौलिक सिद्धान्त हैं, जिनके अभाव में जैनदर्शन की कल्पना, कल्पनालोक तक ही सीमित रह जायेगी। अनेकान्त-स्याद्वाद, वस्तु-स्वातन्त्र, क्रमबद्ध-पर्याय आदि सिद्धान्त जैनदर्शन के प्राणभूत हैं अथवा यों कहें कि जैनदर्शन इन्हीं सिद्धान्तों के कारण अपना पृथक् अस्तित्व बनाये हुए हैं तो इसमें अतिशयोक्ति न होगी।

कानजी स्वामी अध्यात्मवेत्ता पुरुष थे, अतः उनकी वाणी उन अनुभूत सत्त्यों के उद्घाटन से अछूती कैसे रह सकती थी। जिनके कारण उनके जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन आया था। क्रमबद्धपर्याय, निमित्तोपादान जैसे सिद्धान्तों का तो उन्हें पुनःप्रवर्तक भी कह सकते हैं। उपरोक्त सिद्धान्तों की दार्शनिक विवेचना कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में इसप्रकार व्यक्त हुई है -

1. वस्तु-स्वातन्त्र्य

दार्शनिक विवेचना में तो दुःख, दुःख के कारण, सुख एवं सुख की प्राप्ति के उपायों की चर्चा है। जैसा कि छहढाला प्रवचन में कहा गया है कि-

“जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुखतैं भयवन्त।”

अर्थात् समस्त जीव राशि सुख की प्राप्ति हेतु प्रयत्नवन्त होती है एवं दुख की चर्चा से विराम चाहती है। यह तथ्य किसी दर्शन विशेष में नहीं

अपितु समस्त दर्शनों में स्वीकृत है। परन्तु उस दुःख के कारण और सुख के उपायों में जरूर अन्तर है। कोई उपायों में परावलम्बनता को स्वीकार करता है, कोई स्वाधीनता को। कोई क्रिया विशेष के अभाव-सद्भाव को, कोई ध्यान विशेष के सद्भाव को अर्थात् “मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्नः” की उक्ति अनुसार समस्त लोक अलग-अलग ही स्वीकार करते हैं।

इसी परम्परा में जैनदर्शन दुःख को संसार एवं सुख को मुक्ति मानते हुए क्रमशः कारणों के रूप में पराधीनता एवं स्वाधीनता को स्वीकार करता है। पराधीनता दुःख की जननी है। तो स्वाधीनता सुख की। कविवरों ने तो पराधीनता को स्वप्न में भी दुःख का हेतु बतलाया है – **“पराधीन सपनहु सुख नहीं।”** पराधीन स्वाधीन की विवेचना भी जिनागम में अकाट्य है तथा अपने लक्ष्य में परिपूर्ण रूप से व्याप्त है।

पर है आधीन जिसका अथवा पर के आधीन ही पराधीन है। इसी तरह स्व है जिसका आधार अथवा स्व के आधीन से स्वाधीन। इस स्वाधीन पराधीन का व्यवहार जैनदर्शन में वस्तुव्यवस्था के माध्यम से किया जाता है, क्योंकि एक वस्तु का दूसरी के साथ सम्बन्ध-स्थापन ही पराधीन एवं सम्बन्ध की व्युच्छति ही स्वाधीन है। वस्तु को जैनदर्शन में द्रव्य, पदार्थ, अर्थ, तत्त्व इत्यादि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। जो गुण और पर्याय से परिपूर्ण है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्यायवान् है। गुणों के माध्यम से वस्तु की नित्यता, एकता, अभेदता एवं सामान्यता को लक्ष्य बनाया जाता है तथा पर्याय के माध्यम से अनित्यता, अनेकता, भेद एवं विशेष का कथन किया जाता है। यह समस्त पक्ष प्रत्येक वस्तु में शक्कर में मिठास की तरह अभिव्याप्त है।

प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने कार्य में परिणमित होते हैं। कोई किसी के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता है। “एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं, स्पर्श नहीं करता है।” यही प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता है।

जब तक यह निश्चित न हो जाये कि मैं राग-द्वेष विहीन स्थिर आत्मा हूँ, तब तक स्वतन्त्रता नहीं झलकती। “एक आत्मा को दूसरे की आवश्यकता नहीं है।”¹¹ इस प्रकार का निर्णय हो जाना स्वतन्त्रता का कारण है। “एक आत्मा को दूसरे की आवश्यकता होती है यह मानना परतन्त्रता है।”¹²

जैनदर्शन कहता है जीव द्रव्य को अपना कार्य करने के लिये पुद्गलद्रव्य की आवश्यकता नहीं है। भले ही जगत में जन आवश्यकता महसूस करते हैं। परन्तु यह उनकी अन्यथा निर्णय की अभिव्यक्ति है। वस्तु तो पर से निरपेक्ष है। जैनदर्शन अपनी बात को यह तर्क देकर स्थापित करता है कि यदि वह द्रव्य इसकी आवश्यकता से इस रूप हो जाये अर्थात् द्रव्य पराधीन हो जाये तो फिर इससे समस्त वस्तुव्यवस्था बाधित हो जायेगी क्योंकि एक व्यक्ति उस वस्तु को अपनी बनाना चाहता है। दूसरा व्यक्ति भी उस वस्तु को अपनी बनाना चाहता है, परन्तु वह वस्तु किसके अनुसार परिणमित हो। प्रथम के अनुसार होती है तो द्वितीय के अनुसार क्यों नहीं। यदि दोनों के अनुसार होती है तो वस्तु दो चाहिये परन्तु वस्तु तो एक ही है – इससे यही फलितार्थ निकलता है कि वस्तु एक ही है और वह स्वाधीन रूप से परिणमित होती है। जैसे वर्षा स्वाधीन रूप से वर्षा के मौसम में आकर बरसती है न कि किसान की इच्छा के कारण तथा गर्मी के मौसम में स्वयमेव ही नहीं बरसती। न कि कुम्हारों के नुकसान के कारण अर्थात् वर्षा के होने, न होने का परिणमन स्वाधीन है, पराधीन नहीं। उसी तरह प्रत्येक वस्तु स्वाधीन रूप से परिणमित होती है न कि पराधीन रूप से। वस्तु की यही स्वाधीनता उसका स्वातन्त्र्य है।

द्वितीय तथ्य यदि वस्तु पराधीन हो तो उसका सारा परिणमन पराधीन अथवा पररूप होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि कोई भी वस्तु

1. आत्मधर्म, अंक 01, वर्ष 02, पृ. 04

2. वही, पृ. 04

स्वतत्त्व को छोड़कर पररूप नहीं होती। यदि जीव द्रव्य पुद्गल द्रव्य के आधीन एवं पुद्गल जीव द्रव्य के आधीन है - ऐसा स्वीकार करने पर तो अन्योन्याश्रय दोष समाहित होता है।

वस्तु स्वातन्त्र्य की उक्त मीमांसा को जिनागम का प्राण माना जाता है क्योंकि यह सिद्धान्त जिनागम की पृथकता का प्रबल हेतु है इसके अभाव में परिकल्पना ही अशक्य है। इस चिन्तन की मीमांसा आगम एवं परमागम दोनों में प्राप्त होती है। आगम में इसकी मीमांसा मात्र प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता या स्वाधीनता तक ही सीमित रह जाती है अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने में परिपूर्ण हैं अपने स्वचतुष्टय से सम्पन्न है। उसे पर चतुष्टय की आवश्यकता ही नहीं है। पं. टोडरमल ने 'मोक्षमार्गप्रकाशक' ग्रन्थ में प्रकाश डालते हुए कहा है कि -

“जीव द्रव्य, क्षेत्र की अपेक्षा अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज है, काल की अपेक्षा अनादि निधन है, भाव की अपेक्षा ज्ञानादि प्रसिद्ध गुणों का धारी एवं द्रव्य की अपेक्षा आप (स्वयं) रूप है।”¹

यह जीवद्रव्य की स्वतन्त्रता की उद्घोषणा है। ऐसी ही उद्घोषणा कानजी स्वामी ने भी अपने प्रवचनों में की है।

“यह आत्मा अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज है, आत्मा अनन्तगुणों का धारक है और आत्मा का आदि व अन्त नहीं है। आत्मा स्वयं देह से निराली वस्तु है।”²

यहीं पर पुद्गल द्रव्य की स्वाधीनता बतलाते हुए कहा है - क्षेत्र की अपेक्षा मूर्तिक प्रदेशों का पुंज, भाव की अपेक्षा ज्ञानादि गुणों से रहित पूरण गलन स्वभाव से सम्पन्न, काल की अपेक्षा सादि सान्त एवं द्रव्य की अपेक्षा पर है। इस वाक्य में पौद्गलिक स्वतन्त्रता की उद्घोषणा की है। सर्वत्र स्वाधीनता ही स्वाधीनता है। सर्वत्र स्वाधीनता ही स्वाधीनता है।

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पं. टोडरमल, पृ. 54

2. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-1 (कानजीस्वामी), पृ.170

इस तरह आगम में वस्तु स्वतन्त्रता मात्र दो द्रव्यों की पृथक्-पृथक् स्वतन्त्रता को कहा है।

आत्मा और सब तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। वे अपनी मर्यादापूर्वक परिणमते हैं; आत्मा के कारण नहीं परिणमते हैं।

अध्यात्म में स्वतन्त्रता की समस्त अवधारणा आत्मा के लक्ष्य से है। इस स्वतन्त्रता में एक ही द्रव्य में रहने वाले गुणों की, भावों की, पर्यायों की स्वतन्त्रता की चर्चा की है अर्थात् एक द्रव्य में रहने वाले स्वभाव एवं विभावरूप पर्यायों का कर्तृत्व परस्पराधीन नहीं अपितु स्वाधीन है। स्वभाव के परिणमन में विभाव का रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं रहता तथा विभाव के परिणमन में भी स्वभाव की कारणता नहीं है। इसी तरह एक स्वाभाविक पर्याय के परिणमन में पूर्ण अथवा भावी स्वाभाविक पर्याय कारण नहीं वह स्वयं के चतुष्टय से उद्भूत हुई है। उसी तरह गुणों के परिणमन में भी समझना चाहिये। ज्ञान की पराधीनता दर्शन रूप नहीं है तथा दर्शन की ज्ञानाधीन भी नहीं अपितु दोनों स्वतन्त्र हैं। यह स्वतन्त्रता ही जैनदर्शन की पराकाष्ठा है।

इस स्वतन्त्रता का उद्घोष ही कानजी स्वामी ने सर्वत्र किया है। उनके प्रवचनों में एक भी ऐसा प्रवचन नहीं, जहाँ वस्तु स्वातन्त्र्य की चर्चा न आई हो। अरे ! जो व्यक्ति जिस वस्तु का अनुभव कर लेता है, उसकी महिमा कहे बिना रह ही नहीं सकता है।

यदि उक्त वस्तु स्वतन्त्रता को कारकों की भाषा में कहना तो आगमिक स्वतन्त्रता जहाँ प्रत्येक द्रव्य के स्वतन्त्र षट्कारकों की चर्चा करता है। वहीं अध्यात्म उन द्रव्यों के अंश, गुण एवं पर्याय के षट्कारकों की स्वतन्त्रता उद्घोषित करता है।

“प्रत्येक आत्मा और परमाणु आदि सभी पदार्थ स्वयं छह कारक रूप होकर अपना कार्य उत्पन्न करने के लिये समर्थ हैं। जिसे बाह्य सामग्री कुछ भी मदद नहीं कर सकती।”¹

1. दिव्यध्वनिसार-1 (कानजी स्वामी), पृ. 132

“अखण्ड स्वतन्त्रता से शोभायमान जिसका स्वरूप है एकसी अद्भुत प्रभुत्व शक्ति से परिपूर्ण तू भगवान है जिसकी निर्मल पर्याय रूप कार्यो के लिये अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं होती।”¹

वास्तव में यह पराधीनता जैन दर्शन के शब्दकोष में है ही नहीं। कानजी स्वामी की वाणी में निरन्तर स्वाधीनता का प्रतिपादन हुआ है परन्तु दो प्रश्न वहाँ मुखर हो रहे हैं। प्रथम तो यह परतन्त्रता की चर्चा कहाँ से आई? द्वितीय स्वतन्त्रता की आवश्यकता तथा उपयोग क्या है?

परतन्त्रता एवं स्वाधीनता कोई पदार्थ नहीं अपितु अवस्था विशेष अथवा स्वीकृति विशेष का नाम है। अतः इसका (पराधीनता) उद्गम स्थान इसकी ही मान्यता है। जब यह जीव स्वतन्त्र होते हुए भी अपने आपको परतन्त्र स्वीकार करता है तभी पराधीनता की वृत्ति जन्म लेती है। वस्तु कदापि पराधीन नहीं होती है। शरीर के साथ रहते हुए भी जीव उसके आधीन नहीं होता तथा शरीर जीव के आधीन नहीं होता। एक स्थान पर रहते हुए भी दोनों स्वाधीनता से प्रवर्तमान हैं। मोह की वृत्ति ही इस जीव में पराधीनता का आरोप करती है। इसके कारण ही जीव अपने स्वरूप को पराधीन, अपने कार्य को पराधीन एवं अपने प्रत्येक परिणमन को पराधीन स्वीकार करता है। यही परतन्त्रता का उद्भव एवं स्व स्वतन्त्रता की विस्मृति होती है। इस परतन्त्रता के अभाव के लिये कुछ विशेष प्रयास करने की आवश्यकता नहीं अपितु वस्तु स्वातन्त्र्य की स्वीकृति ही महत्त्वपूर्ण है।

द्वितीय प्रश्न का उत्तर इसी रूप में व्यक्त किया जा सकता है कि स्व कल्याण हेतु, बन्धन से मुक्ति हेतु, अथवा परमानन्द स्वरूप वस्तु का अनुभव करने के लिये उस स्वतन्त्रता का परिज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस परिज्ञान के बिना उस परम सुख की कल्पना मनुष्य के सींग जैसी असंभव ही है। क्या कोई मिठास के बिना शक्कर का रसास्वादन कर

1. वचनमृत प्रवचन-3 (कानजी स्वामी), पृ. 46

सकता है? क्या खारेपन की स्वीकृति के बिना नमक का अस्तित्व स्थापित किया जा सकता है? नहीं, उसी तरह वस्तु स्वातन्त्र्य को जाने बिना न तो वस्तु की ही स्थापना हो सकती है एवं न ही उसका रसास्वादन एवं परिज्ञान, अतः कानजी स्वामी ने अपने 'प्रवचन पीयूष' में सर्वत्र वस्तु स्वातन्त्र्य पर जोर दिया। जिससे जीव स्व-स्वरूप को स्वतन्त्र जानकर उसका अनुभव कर सके।

इस स्वतन्त्रता के उद्भावन हेतु कुछ करने की नहीं अपितु यथार्थ स्वीकृति की आवश्यकता है। जिस मान्यता में स्वयं को पराधीन माना था, उसी मान्यता को छोड़कर अपने स्वरूप की स्वतन्त्रता को स्वीकार करना ही वस्तु स्वातन्त्र्य का उपयोग है। जिसका कानजी स्वामी ने अपने जीवन में प्रयोग किया था तथा करुणा बुद्धि होने से हमें इसकी स्वीकृति का उपदेश दिया। वस्तु स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त में पर के अधिकार की किञ्चित् मात्र अपेक्षा नहीं है - इस बात की उद्घोषणा करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि -

“संयोग के बिना अवस्था नहीं होती - ऐसा नहीं है, परन्तु वस्तु के परिणमित हुये बिना अवस्था नहीं होती - ऐसा सिद्धान्त है। पर्याय के कर्तृत्व का अधिकार वस्तु का अपना है, उसमें पर का अधिकार नहीं है।”¹

यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं तो यही उनके उपदेश देने की एवं हमारे सुनने की सार्थकता होगी। अंततः इस दार्शनिक बिन्दु का पवित्र आशय भी यही है कि हम इस वस्तु-स्वातन्त्र्य को स्वीकार कर मुक्ति-वधू का वरण कर सकें।

2. निमित्तोपादान

अध्यात्म के महत्त्वपूर्ण तथ्य निश्चय-व्यवहार, आत्मा-परमात्मा, अनेकान्त-स्याद्वाद, क्रमबद्धपर्याय आदि अनेक विषयों के साथ निमित्तोपादान भी एक ऐसा विषय है जिस पर कानजी स्वामी ने विशद

स्पष्टीकरण किया है। किसी भी वस्तु में अपनी योग्यता से कार्य होते समय दूसरे निमित्त की उपस्थिति नियमरूप से होते हुए भी अकिंचित्कर है। उपादान और निमित्त दोनों का परिणमन एक-दूसरे से स्वतन्त्र है इस बात को कानजीस्वामी ने अनेक दृष्टान्त, युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणों से अच्छी तरह समझाया है। जीव निमित्ताधीन पराश्रित बुद्धि से ही संसार में भटक रहा है। निमित्ताधीन दृष्टि का परिणमन छोड़कर अपने स्वाधीन स्वभाव के सन्मुख परिणमन करना यही मुक्ति का मार्ग है। निमित्तोपादान विवेचन में कानजी स्वामी ने निमित्त-उपादान की व्याख्या अत्यन्त संक्षेप में की है -

“वस्तु की जो सहज शक्ति है वह उपादान है और वह उपादान जब अपनी सहज शक्ति से कार्य करता है तब जो संयोग रूप कारण हैं, वे निमित्त हैं। उपादान अर्थात् वस्तु की सहज शक्ति ऐसा कहा। उसमें मात्र त्रिकाली शक्ति ही नहीं समझना, बल्कि द्रव्य गुण पर्याय तीनों की शक्ति उपादान है और परसंयोग निमित्त हैं।”¹

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। कार्य की उत्पादक सामग्री को ही कारण कहते हैं। कारण दो प्रकार के होते हैं - उपादान कारण और निमित्त कारण। जो स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादान कारण कहते हैं। जो स्वयं कार्य रूप परिणमित नहीं हो परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके, उसे निमित्त कारण कहते हैं। घट रूप कार्य का मिट्टी उपादान कारण है और चक्र, दण्ड और कुम्हार निमित्त कारण है। निमित्त कारण के दो भेद हैं - उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त। गमन करने वाले जीव, पुद्गल तथा इच्छादि वाले जीव प्रेरक निमित्त कहलाते हैं। धर्मास्तिकाय, आकाश और कालादि निष्क्रिय या गमन क्रिया रहित राग रहित द्रव्यों को उदासीन निमित्त कहते हैं। उपादान कारण के भी दो भेद हैं - त्रिकाली उपादान और क्षणिक उपादान। त्रिकाली उपादान मिट्टी और घटरूप कार्य की अनन्तरपूर्व क्षणवर्ती

1. निमित्तोपादान विवेचन, पृ. 01

पर्याय मिट्टी के पिण्ड का अभाव और घड़ारूप होने की वर्तमान पर्याय की योग्यता वह दोनों क्षणिक उपादान है।¹

“किसी पदार्थ में जब कोई कार्य निष्पन्न होता है तो वहाँ दूसरा पदार्थ भी नियम से विद्यमान होता ही है। जो उस कार्य को उत्पन्न भी नहीं करता, उसमें योग भी नहीं देता, किन्तु उस कार्य की उत्पत्ति के साथ अनुकूलता रखता है, वस्तुस्थिति के इस नियम को उपादान-निमित्त संबंध कहते हैं।”²

एक पदार्थ को ही उपादान की अपेक्षा कथन करने पर उपादेय और निमित्त की अपेक्षा कथन करने पर नैमित्तिक कहा जाता है। निमित्त उपादान की स्वतन्त्र स्थिति तथा उनका अनिवार्य सहचर ये दो इसमें मूल तथ्य हैं। जिनमें से एक की भी अपेक्षा नहीं की जा सकती है।³

इसी बात को निमित्तोपादान विवेचन में कहा है। “उपादान” अपनी निज की शक्ति है, वह जीव का मूल स्वभाव है और पर संयोग निमित्त हैं। उनका सम्बन्ध अनादिकाल से बना हुआ है।⁴

निमित्त को बलपूर्वक कार्य के समीप लाना पड़ता हो ऐसा नहीं है। किन्तु जब पदार्थ में कार्य सम्पन्न होता है तो तदनुकूल निमित्त सहज रहता है और उस कार्य का उससे नैमित्तिक-निमित्त सम्बन्ध भी सहज होता है। निमित्त बलपूर्वक उसमें हस्तक्षेप या सहयोग करता हो ऐसा भी नहीं है। इस सम्बन्ध में कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में कई बार स्पष्ट उल्लेख किया है -

“निमित्त पर-वस्तु है। उपादान को परिणमित होने में उसकी आवश्यकता होती है या नहीं यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जब निश्चय कारण उपादान के कार्यरूप परिणमित होने का काल होता है तब निमित्त की उपस्थिति स्वयमेव ही होती है, वह न ही ऐसा कभी नहीं होता।”⁵

1. निमित्तोपादान विवेचन, पृ. 254-255

2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा स्वामी कार्तिकेय, पृ. 217

3. उपादान निमित्त संवाद, दोहा-3

4. निमित्तोपादान विवेचन, पृ. 62

5. निमित्तोपादान विवेचन, पृ. 260

निमित्त की निमित्तता कब तक रहती है, जब निमित्त, निमित्तरूप से तटस्थ रहे तब किन्तु यदि निमित्त से उपादान में काम हो जाये तो निमित्तपना नहीं रहता।

वीतरागी भेदविज्ञान यह बताता है कि प्रतिसमय प्रत्येक पदार्थ अपने स्वतन्त्र उपादान से ही कार्य करता है। वस्तुस्वरूप ऐसा पराधीन नहीं है कि निमित्त आये तो उपादान का कार्य हो किन्तु उपादान का कार्य स्वतन्त्र अपने ही सामर्थ्य से होता है।¹

निमित्त उपादान का सही ज्ञान न होने पर व्यक्ति अपने द्वारा कृत अपराधों का कर्तृत्व निमित्त पर थोप कर स्वयं निर्दोष बना रहता है। पर जैसे चोर स्वयं कृत चोरी का आरोप चांदनी रात के नाम मढ़कर दण्ड-मुक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार आत्मा भी अपने द्वारा कृत मोह-राग-द्वेष भावों का कर्तृत्व कर्म पर थोप कर दुःखमुक्त नहीं हो सकता। उक्त स्थिति में स्वदोष दर्शन, आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति की ओर दृष्टि भी नहीं जाती है।

3. क्रमबद्धपर्याय

क्रमबद्धपर्याय एक गंभीर विषय है। कानजी स्वामी ने इस विषय को बड़ी ही गम्भीरता से प्रस्तुत कर अध्यात्म जगत में एक क्रान्ति का शंखनाद कर दिया और यह महत्वपूर्ण विषय समाज में चर्चा का विषय बना हुआ है। क्रमबद्धपर्याय का अर्थ है कि इस परिणमनशील जगत की व्यवस्था 'क्रम नियमित' है। जगत में जो भी परिणमन निरन्तर हो रहा है, वह सब एक निश्चित क्रम में व्यवस्थितरूप से हो रहा है। स्थूल दृष्टि से देखने पर जो परिणमन हमें अव्यवस्थित दिखाई देता है, सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर उसमें भी एक सुव्यवस्थित व्यवस्था नजर आती है। जैसे कि नाटक के रंगमंच पर जो दृश्य व्यवस्थित दिखाये जाते हैं, वे तो पूर्व से ही निश्चित और पूर्ण व्यवस्थित होते हैं लेकिन जो दृश्य अव्यवस्थित नजर आते हैं वे भी पूर्व नियोजित और पूर्ण व्यवस्थित होते हैं तथा जिस

प्रकार नाटक के दृश्य क्रमशः नजर आते हैं, एक साथ नहीं। उसीप्रकार पर्यायों भी एक के बाद एक निश्चित क्रम में आती हैं – जिसका नाम क्रमबद्धपर्याय है। इसे ही क्रमनियमितपर्याय भी कहा जाता है। 'समयसार' की गाथा 308 से 311 पर प्रवचन करते हुए कानजी स्वामी के प्रवचन का अंश इसप्रकार है –

“प्रथम तो जीव क्रमनियमित (क्रमबद्ध) ऐसे आत्मपरिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसीप्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने आत्मपरिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं। यहाँ समस्त जीवों और अजीवों के परिणमन को क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है। जीव और अजीव के अतिरिक्त जगत में और है ही क्या? जीव और अजीव द्रव्यों के समूह का नाम ही तो विश्व अर्थात् जगत है। इसप्रकार जगत का परिणमन ही क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है।”¹

‘ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव’ में भी स्पष्ट किया गया है –

“प्रत्येक द्रव्य अपने स्वकाल में ही होता है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें क्रमनियमित हैं। एक के बाद एक अपने-अपने स्वकाल में निश्चय उपादान के अनुसार होती रहती हैं।”²

‘कार्तिकेयानुप्रेक्षा’ में कार्तिकेय स्वामी ने भी कहा है³ –

जं जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।

णादं जिणेण णियदं, जम्मं वा अहव मरणं वा॥321॥

तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।

को सक्कदि वारेदुं, इन्दो वा तह जिणिन्दो वा॥322॥

एवं जो णिच्छय दो, जाणदि दव्वाणि सव्व पज्जाए।

सो सद्दिट्ठी सुद्धो, जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी॥323॥

1. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृ. 04

2. जैनतत्त्व मीमांसा, पृ. 268

3. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 321-323

इसमें बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप का कैसा चिन्तन किया करता है कि - जिस जीव के जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियत रूप से जाना है, उस जीव के उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र (भगवान) टालने में समर्थ नहीं है। सर्वज्ञ ज्ञान को आधार बनाकर भूत-भविष्य-वर्तमान काल को निश्चित निरूपण किया गया है।

जिनागम में अनेक स्थानों पर इसप्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं। पद्मपुराण में कहा गया है कि “ जिसे जहाँ जिस कारण से, जिसप्रकार से जो वस्तु प्राप्त होनी होती है, उसे, वहाँ, उसी कारण से, उसी प्रकार से, वही वस्तु प्राप्त होती है। ”¹

इस सम्बन्ध में कानजी स्वामी ने कहा है कि -

“ जगत में अकस्मात् कुछ भी नहीं होता। जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस काल में होना हो वही होती है। देह छूटने का काल जिस क्षेत्र में और जिस निमित्त से हो उसी प्रकार देह छूटती है। अकस्मात् किसी पदार्थ का परिणमन नहीं होता। व्यवस्थित ही होता है। ”²

जिसमें भय, दीनता, दरिद्रता आदि समस्त दुःखों से निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। निश्चय से जो द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है, उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

यह लोक स्वयं सिद्ध है, क्योंकि इसमें रहने वाले द्रव्य भी स्वयं सिद्ध है। उनकी कार्य कारण परम्परा, परिवर्तन, स्वभाव, परस्पर निमित्तता और अन्योन्य प्रभावकता, अनादिकाल से लगातार चली आ रही है। इसके संचालन के लिये किसी विधाता, नियन्ता, अधिष्ठाता या व्यवस्थापक की आवश्यकता नहीं है। ऋतुओं का परिवर्तन, रात-दिन का विभाग,

1. पद्मपुराण, सर्ग 110, श्लोक 40

2. आत्मधर्म मई 1977, पृ. 25

नदी नाले, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि विवर्तन जीव पुद्गल के संयोग-वियोग, संश्लेष और विश्लेष आदि के कारण स्वयं होते रहते हैं। सामान्यतः प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों का स्वयं उपादानकारक है, जो निमित्तों के संयोग से बदलता रहता है। हमारी स्थूल दृष्टि जिन परिवर्तनों को देखकर आश्चर्यचकित होती है, वे अचानक नहीं हो जाते हैं, उनके पीछे परिणामों की सुनिश्चित व्यवस्था है।

हमें चर्म चक्षु से असंख्यात परिणमनों का औसत और स्थूलरूप ही दिखाई देता है। प्रतिक्षणवादी सूक्ष्म परिणमन और उनके अनन्त कार्यकारण जाल को समझना मति, श्रुतज्ञान से सम्भव नहीं है। हम अपने सबसे निकटतम शरीर में होने वाले क्रियाकलापों, परिवर्तनों को ही नहीं समझ पाते हैं तो अन्य द्रव्यों की बात तो दूर है।

इसप्रकार जीव अपने ज्ञायक स्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ करता है उसी को क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है और वह जीव पर का तथा राग का अकर्त्ता होकर ज्ञायक भाव का ही कर्त्ता होता है। ऐसे जीव को ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पुरुषार्थ, स्वकाल आदि पाँचों समवाय एक साथ आ जाते हैं।

“केवलज्ञान को स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय होने से पुरुषार्थ व भय की शंका नहीं रहती है। यथार्थ निर्णय हो जाता है।”¹

इसप्रकार क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि में सर्वज्ञता सबसे प्रबल हेतु है। सर्वज्ञता जैनदर्शन में सर्वमान्य है। उसमें किसी को भी विवाद नहीं है अतः क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करने का वह ठोस आधार है।²

सर्वज्ञता की सिद्धि आगमग्रन्थों में अनेक जगह उपलब्ध है। भगवती आराधनाकार कहते हैं -

1. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृ. 07

2. क्रमबद्धपर्याय, पृ. 61

“पस्सदि जाणदि य तहा, तिण्णि विकाले सपज्जाए सव्वे ।

तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ।।”¹

सर्वज्ञता की सिद्धि में आत्मज्ञ होना अपेक्षित माना गया है। आत्मा में अनन्त द्रव्यों को जानने की शक्ति है, अतः जो आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है उसे सर्वज्ञता स्वतः ही आ जाती है।

उत्तरकालीन साहित्य में सर्वज्ञता की सिद्धि को दर्शन और तर्क के माध्यम से परिवेष्टित किया है। आचार्य समन्तभद्र ने इस तर्क परम्परा को प्रारम्भ किया और बाद में उनके तर्कों में और भी तर्कों का समावेश किया गया है। सामान्यतः सर्वज्ञ सिद्धि में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये गये हैं—

1. जो आस होगा वही सर्वज्ञ हो सकता है। आस वही हो सकता है जो निर्दोष हो और जिनके वचन युक्ति और आगम से विरुद्ध नहीं हों। ज्ञानावरणादिक कर्मों के नष्ट होने पर अज्ञान के व्यामोह से आत्मा विमुक्त हो जाता है और अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थों को जानने देखने लगता है।²

2. सूक्ष्म (परमाणु आदि) अन्तरित (राम रावणादि) और दूरवर्ती (सुमेरु आदि) पदार्थ किसी न किसी पुरुष के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे हमारे अनुमेय हैं। जो पदार्थ अनुमेय होते हैं वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं। जैसे पर्वतवर्ती अग्नि के अस्तित्व को हम अनुमान से जानते हैं और पर्वतस्थित व्यक्ति उसे प्रत्यक्ष रूप से जानता है, इसीप्रकार सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ भी किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं। यह प्रत्यक्षदृष्टा कर्म विमुक्त अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ ही हो सकता है।³

3. सर्वज्ञ की सिद्धि में कोई बाधक प्रमाण नहीं बल्कि प्रमाणाभास है। सर्वज्ञ निषेध के सन्दर्भ में जो प्रमाण है उनका खण्डन किया है।⁴

1. भगवती आराधना, श्लोक 214

2. आस मीमांसा, पृ. 04

3. आस मीमांसा, पृ. 05

4. अष्टसहस्री, पृ. 47-50

इसप्रकार जैनदर्शन के महान आचार्यों ने प्रबल प्रमाणों के साथ सर्वज्ञता को सिद्ध किया है।

मनुष्य के मन में प्रतिदिन अपने कल्याण का ही विचार आता है, लेकिन आई हुई भवितव्यता वही करती है, जो कि उसको रुचता है। इसलिए सज्जन पुरुष राग-द्वेष रूपी विष से रहित हुए मोह के प्रभाव से अतिशय विस्तार को प्राप्त होने वाले बहुत से विकल्पों को छोड़कर सुख पूर्वक स्थिर रहें। मैं कर्त्ता हूँ, इस अहंकारपूर्ण कर्त्तव्यभावना को छोड़ देना चाहिए। क्रमबद्ध पर्याय के निर्णय से कर्तृत्व का अहंकार गल जाता है।

कानजी स्वामी ने बलपूर्वक कहा है कि जिसको धर्म करना हो उसको सर्वज्ञदेव की श्रद्धा अवश्य होनी चाहिये। सर्वज्ञदेव की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना सर्वज्ञ की सच्ची पहिचान भी नहीं होती। इसतरह से दोनों एक दूसरे के सहभावी हैं, इसलिये “धर्म का मूल सर्वज्ञ है” – ऐसा कहो या “धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है” – ऐसा कहो ये दोनों एक ही हैं। इस बारे में ‘प्रवचनसार’ की 80-82 गाथा में कहा है कि जो जीव द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहन्तदेव को पहिचानते हैं वह अपनी आत्मा को भी अवश्य पहिचानता है और उसका दर्शन मोह अवश्य क्षय होकर के उसको सम्यग्दर्शन होता है। पीछे शुद्धोपयोग के बल से राग-द्वेष का क्षय करने पर चारित्र मोह का भी नाश हो जाता है। सभी तीर्थंकर भगवन्तों ने उसी उपाय से कर्मों का क्षय किया है और इसी तरह का उपदेश देकर के निर्वाण पाया है।

इस जगत में ‘सर्वज्ञ’ ने सभी पदार्थों की तीनों काल की पर्यायों को प्रत्यक्ष जान लिया है और वैसा ही होने का पदार्थ का स्वरूप है। इसमें कुछ फेरफार करने की जिसकी बुद्धि है उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा का या वस्तु स्वरूप के निर्णय करने में अपूर्ण पुरुषार्थ है। ऐसे अपूर्ण पुरुषार्थ से सर्वज्ञ या क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय कभी नहीं हो सकता।

सर्वज्ञ की श्रद्धा में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी आ ही जाता है। यह

विषय कानजी स्वामी ने अधिक स्पष्ट किया है। “सर्वज्ञ ने जो देखा है वही होगा उसमें फेरफार नहीं होगा इस तरह सर्वज्ञ की ओट लेने में पुरुषार्थ उड़ जाता है” – ऐसी मान्यता में बड़ी गंभीर भूल है। कानजी स्वामी के शब्दों में कि हे भाई! तूने सर्वज्ञ का निर्णय किया है क्या ? इस जगत में सर्वज्ञ है जिसको भव नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं – ऐसा सर्वज्ञ का निर्णय करने में रागादि से भिन्न ज्ञान-स्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ भी आ ही जाता है। इसलिये पहले तू सर्वज्ञ का निर्णयकर, सर्वज्ञ का निर्णय करने से (जिसमें क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी आ ही जाता है।) तुझे मालूम हो जायेगा कि इसमें सम्यक् पुरुषार्थ आता है या नहीं।

“क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का तात्पर्य वीतरागता है और यह वीतरागता पर्याय में तभी प्रगट होती है जब वीतराग स्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है।”

“क्रमबद्धपर्याय ही एक ऐसी है कि जो उसे समझे श्रद्धा करे तो निश्चिन्त हो सकता है। क्रमबद्धपर्याय और सर्वज्ञता का सही स्वरूप समझकर स्वभाव सन्मुख होकर प्रत्येक जीव अनन्त शान्त एवं अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त कर सकता है।

5.5. भारतीय दर्शनों का समीक्षात्मक अध्ययन – कानजी स्वामी की दृष्टि में

प्रत्येक दर्शन आत्मा, परमात्मा, संसार, दुःख, ईश्वर, दुःखों से छूटने का उपाय आदि प्रश्नों के उत्तर अपने-अपने प्रवर्तक के अनुसार देते हैं। भारतीय दर्शन भी वैदिक (आस्तिक) और अवैदिक (नास्तिक) दर्शनों में विभक्त होने पर भी उक्त प्रश्नों के उत्तर अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रदान करते हैं।

श्री कानजी स्वामी ने कुछ विशिष्ट दर्शनों के प्रमुख सिद्धान्तों का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए जैनधर्म की समीचीनता सिद्ध की है।

अधिकांश भारतीय दर्शन सृष्टि के कर्ता, रक्षक एवं संहारक के रूप में ईश्वर की कल्पना करते हैं, पर सर्वज्ञकथित जैनदर्शन इस सृष्टि को अनादि अनन्त स्वीकार करता है। आत्मा के सुख-दुःखादि का कर्ता भी वैदिक दर्शन ईश्वर को मानते हैं। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है - इस सम्बन्ध में कानजी स्वामी के विचार इसप्रकार हैं -

“आत्मा त्रिकाल शक्ति अपेक्षा से शुद्ध है और पर्याय में अशुद्ध है - यह बात नहीं समझने के कारण दोष माया के कारण हुआ - ऐसा माना है तथा ईश्वर के स्वरूप को भी नहीं जाना है। भक्तों की रक्षा के लिये और दुष्टों के निग्रह के लिये ईश्वर अवतार लेता है - ऐसा प्रयोजन मानता है, अर्थात् ईश्वर के बिना कुछ नहीं होता - ऐसा मानता है। जो जैन भी ऐसा मानते हैं कि आत्मा के बिना शरीर का चलना आदि नहीं होता, तो दोनों मान्यता अपेक्षा समान हुए। दोनों में से एक को भी आत्मा की स्वतन्त्रता का पता नहीं है - इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं।”¹¹

“जगत के पदार्थ स्वयं-सिद्ध, अनादि-अनन्त हैं। इसलिये उनका कोई कर्ता नहीं, रक्षक नहीं और नाशक भी नहीं है; अतः कोई ईश्वर को कर्ता कहे वह बात खोटी है।”¹²

मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में भी वेदान्तादि मतों में अन्यथा निरूपण किया गया है, उन मान्यताओं का अनुशीलन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है -

“कितने ही मोक्ष के स्वरूप को अन्यथा प्रकार से कहते हैं। उनमें एक तो बैकुण्ठधाम में ठाकुरजी ठाकुरानी सहित भोग-विलास करते हैं, वहाँ जाकर उन्हें मानकर सेवा करने को मोक्ष कहते हैं। परन्तु यह तो पराधीनता हुई। यहाँ संसार में जैसा है वैसा ही यह हुआ, अतः वैसा मोक्ष का स्वरूप यथार्थ नहीं है।

1. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-2, पृ.33

2. वही, पृ.37

तथा दूसरा प्रकार यह है कि वहाँ ईश्वर जैसा स्वयं होता है। तो बहुत ईश्वर मानने पर लोक के कर्ता-हर्ता किसको कहना? अलग-अलग इच्छा होने पर परस्पर विरोध आवे तो इससे सुख कैसे होगा? इसलिये ईश्वर का ऐसा स्वरूप नहीं है।

तथा कितने ही मोक्ष के स्वरूप को “ज्योत में ज्योत मिल जाती है”- ऐसा कहते हैं। परन्तु यह मिथ्या है; क्योंकि ज्योति तो जड़-अचेतन है - ऐसी ज्योति वहाँ कैसे हो? और आत्मा की मुक्ति होने पर अन्य आत्मा में वह मिल जाये तो अपनी अस्ति रहे नहीं, तो अपना नाश करके मोक्ष हो वह सुखरूप कैसे होगा? इसलिये यह बात भी यथार्थ नहीं है।¹¹

● सांख्यदर्शन कथित तत्त्वों की समीक्षा

सांख्य दर्शन में तत्त्वों की संख्या एवं स्वरूप का अनुशीलन करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं - “सांख्यमत में पच्चीस तत्त्व मानते हैं। इसमें सत्त्व, रजः, तमः को गुण मानते हैं। वह मिथ्या है; क्योंकि वे गुण नहीं हैं, बल्कि पर्यायें हैं।”¹²

“तथा प्रकृति से बुद्धि हुई - ऐसा कहते हैं; परन्तु बुद्धि तो ज्ञान का काम नाम है, वह तो जो ज्ञानगुण का धारक पदार्थ है उससे होती है। इसलिये प्रकृति से होती है - यह बात यथार्थ नहीं है।”¹³

तथा सांख्यमत वाले ‘पुरुष को प्रकृति से भिन्न मानना’ उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। तो यह बात भी खोटी है, क्योंकि वे कहते हैं ऐसी कोई प्रकृति व पुरुष है ही नहीं। वीतराग ने कर्मरूप प्रकृति कही है, उससे आत्मा भिन्न है - यह बात सत्य है; परन्तु वे तो आत्मा की विकारी पर्यायरूप से प्रकृति कहते हैं - उससे भिन्न आत्मा नहीं है।

1. मोक्षमार्गप्रकाशकप्रवचन-2, पृ. 70

2. वही, पृ. 77

3. वही, पृ. 77

नैयायिक दर्शन की समीक्षा

नैयायिक दर्शन में भी तत्त्वों की संख्या एवं स्वरूप का विवेचन करते हुए कानजी स्वामी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

“नैयायिकमत वाले सोलह तत्त्व मानते हैं, परन्तु ऐसा स्वरूप नहीं है। ये सब कल्पित बातें हैं। कल्पित तत्त्व कहकर लोगों को भ्रम में डालते हैं। वे संशयादि को तत्त्व कहते हैं, परन्तु वे तत्त्व नहीं हैं, वे तो विचार के भेद हैं।”¹

नैयायिक गुण-गुणी का सर्वथा भेद मानते हैं इसका खण्डन आत्मा के स्वरूप को बताते हुए कानजी स्वामी ने कहा है - ‘चित्स्वभावाय’ अर्थात् चैतन्य स्वभाव है जिसका ऐसा भगवान आत्मा स्वयं शुद्धात्मा है। इस विशेषण से सर्वथा गुण-गुणी का भेद मानने वाले नैयायिकों के मत का खण्डन हुआ।

“प्रदेश-भेद न होते हुए भी गुण-गुणी के बीच नाम-भेद, लक्षण-भेद, संख्या-भेद है। गुणी को गुणी व गुण को गुण कहना, ऐसा नाम-भेद है। ‘जो गुणों’ को धारण करे वह द्रव्य - यह द्रव्य का लक्षण तथा ‘जो द्रव्य के आश्रय रहे वह गुण का लक्षण’ - यह दोनों में लक्षण-भेद है। तथा गुणी एक और गुण अनेक, ऐसा संख्या-भेद है। ऐसा होते हुए भी प्रदेश से अभेद है, ऐसा नहीं मानने वाला तथा सर्वथा भेद ही मानने वाला मत झूठा है।”²

ज्ञान अन्य ज्ञान से जाना जा सकता है, वह ज्ञान स्वयं को नहीं जानता ऐसा नैयायिकों का मत है। कानजी स्वामी ने इसका निषेध भलीभाँति किया है -

“ज्ञान अन्य ज्ञान से तो ज्ञात हो और स्वयं से स्वयं को न जाने - यह बात ठीक नहीं है अर्थात् ऐसा मानना गलत है। ज्ञान ज्ञान से ही जानता है

1. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-2, पृ. 82

2. प्रवचन रत्नाकर-1, पृ. 8-9

और ज्ञान ज्ञान से ही ज्ञात होता है। इसप्रकार ज्ञान अन्य ज्ञान से जाना जा सकता है, स्वयं स्वयं को नहीं जानता - ऐसा मानना वाले नैयायिकों के मत का निषेध हुआ, ज्ञान स्वयं ही स्वयं को न जाने तथा पर को जाने - ऐसा कैसे बन सकता है?''¹

वैशेषिक दर्शन की समीक्षा

वैशेषिक दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है -

“वहाँ पृथ्वी आदि को नित्य कहते हैं। पृथ्वी के, पानी के परमाणु भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् पृथ्वी के पृथ्वीरूप रहते हैं; परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि पृथ्वी के परमाणु अग्निरूप हो जाते हैं, इसलिये पृथ्वी के परमाणु अलग और अग्नि के परमाणु अलग हैं - ऐसा नहीं है। अग्नि के परमाणु राखरूप होते देखे जाते हैं, पानी के परमाणु सीप के पेट में मोती हो जाते हैं। इसलिये मिट्टी के परमाणु और पानी के परमाणु अलग हैं - ऐसा नहीं है।”²

“तथा वे चौबीस गुण कहते हैं - उसमें पृथ्वी को गंधवाली कहते हैं तथा पानी को शीत स्पर्शवान कहते हैं; परन्तु वह मिथ्या है; क्योंकि इन गुणों की उनमें मुख्यता भासित नहीं होती। उनमें अन्य गुण भी हैं।”³

● जैमिनीय मत की समीक्षा

जैमिनीय मत के सम्बन्ध में कानजी स्वामी के विचार दृष्टव्य हैं -

“वे ऐसा कहते हैं कि सर्वज्ञदेव कोई देव है ही नहीं, वेद-वचन नित्य है, अतः यथार्थ निर्णय करना चाहिये। वे वेदपाठ की क्रिया करने को धर्म का साधन मानते हैं; परन्तु वह सत्य नहीं है। जिसको अभी सर्वज्ञ की ही प्रतीति नहीं उसको मोक्षमार्ग तीनकाल में नहीं होता।”⁴

1. प्रवचन रत्नाकर-1, पृ. 11

2. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-2, पृ.87

3. प्रवचन रत्नाकर-1, पृ. 88

4. प्रवचन रत्नाकर-1, पृ. 92

“स्वानुभूत्या चकास्ते” ऐसा कहकर आत्मा को तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानने वाले जैमिनीय प्रभाकर भेदवाले मीमांसकों के मत का व्यवच्छेद किया।

जो आत्मा को और ज्ञान को सर्वथा परोक्ष ही मानते हैं – प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता, ऐसा मानते हैं, उनका अभिप्राय ठीक नहीं है। स्वानुभूति से आत्मा प्रत्यक्ष हो सकता है, ऐसा कहते हैं। वस्तु जो है वह ज्ञान में प्रत्यक्ष ही है। शास्त्रों में आत्मा को स्वरूप प्रत्यक्ष कहा है, स्वरूप प्रत्यक्ष ही आत्म-वस्तु है, इसी से वह पर्याय में प्रत्यक्ष होती है।¹¹

“अहा...हा. ! आत्मा की ज्ञान पर्याय की एक समय में जानने की ताकत कितनी है ! अपने सम्पूर्ण भाव और पर के सम्पूर्ण भावों को एक समय में जानें, ऐसी उसकी योग्यता है। इसे मोक्ष तत्त्व या केवलज्ञान कहते हैं। यह पर्याय की सामर्थ्य ही अद्भुत है तो फिर द्रव्य की सामर्थ्य का तो क्या कहना ? एक समय के केवलज्ञान पर्याय की अलौकिक सामर्थ्य बताकर सर्वज्ञ का अभाव मानने वाले मीमांसकों के मत का निराकरण किया।¹²

● बौद्धदर्शन की समीक्षा

श्रमण संस्कृति के ही द्वितीय दर्शन बौद्धदर्शन रचित सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है –

“तथा वे सबको क्षणिक मानते हैं। सब क्षणिक हैं – ऐसी वासना वह मार्ग है – ऐसा मानते हैं। यह बात मिथ्या है, क्योंकि वस्तु का कभी नाश नहीं होता। तथा पहले और बाद में वह आत्मा न होवे तो ‘यह मैंने किया’ – ऐसा नहीं रहता। इसलिये आत्मा क्षणिक नहीं है – ऐसा निर्णय करना योग्य है।¹³

1. प्रवचन रत्नाकर-1 (कानजी स्वामी), पृ. 92

2. वही, पृ. 11

3. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-2, पृ. 94

बौद्ध दर्शन में प्रमाण की संख्या का विवेचन करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है -

“बौद्धमत में प्रत्यक्ष और अनुमान - ऐसे दो प्रमाण मानते हैं; सो उनके सच्चे-झूठे की परीक्षा जैन न्याय शास्त्रों से जानना। यदि ये दो ही प्रमाण हैं तो उनके शास्त्र अप्रमाण ठहरे, शास्त्र से प्रमाण कहना रहा नहीं; क्योंकि वे दो प्रमाण मानते हैं। यदि शास्त्र को प्रमाण नहीं माने तो वे शास्त्र निरर्थक बनते हैं। उन शास्त्रों का निरूपण किसलिये किया ? कारण कि अनुमान तो जीव करेगा, तुमने शास्त्र किसलिये बनाये ?”¹¹

चार्वाक मत की समीक्षा

नास्तिक दर्शन चार्वाक दर्शन जो कि मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है एवं अन्य का निषेध करता है। उसके उक्त विचारों का निरूपण करते हुए कानजी स्वामी स्पष्ट करते हैं -

“सर्वज्ञदेव, धर्म, अधर्म, मोक्ष, परलोक और पुण्य-पाप का फल है ही नहीं ऐसा चार्वाक मत मानता है। इन इन्द्रियों से दिखता है वही लोक है - ऐसा कहता है।

उससे पूछते हैं कि सर्वज्ञदेव इस काल-क्षेत्र में नहीं हैं या सर्व काल-क्षेत्र में नहीं हैं? इस काल-क्षेत्र में तो हम भी नहीं मानते। (तथा) सर्वकाल-सर्वक्षेत्र में नहीं, (तो) ऐसा सर्वज्ञ बिना किसने जाना ? जो सर्वकाल-क्षेत्र को जाने वही सर्वज्ञ है तथा जो जानता नहीं वह किसप्रकार निषेध करता है ?”¹²

इसप्रकार भारतीय दर्शनों में कथित ईश्वर-कर्तृत्व, तत्त्व-मीमांसा, प्रमाण मीमांसा आदि का जैनदर्शन में तुलनात्मक विवेचन करते हुये एवं

1. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-2, पृ.95

2. वही, पृ.97

उन्हें मिथ्या सिद्ध करते हुए जैनदर्शन में वर्णित तत्त्व एवं प्रमाण का सामान्य स्वरूप कानजी स्वामी ने बताया है -

“जैनमत में क्या कहा है? जीवादि तत्त्वों का निरूपण किया है, प्रत्यक्ष और परोक्ष - दो प्रमाण कहे हैं - उसमें सब समावेश कर दिया है। दोनों प्रमाण मान्य हैं। कोई सूक्ष्म नजर से न दिखे वह आगम गम्य मान्य है तथा सर्वज्ञ वीतराग अरहन्तदेव हैं और दिगम्बर मुनि बाह्य-अभ्यन्तर निर्ग्रन्थ, वे गुरु हैं। इसप्रकार संक्षेप में कहा।”¹¹

“एक जैनमत है वही सत्य अर्थ का प्ररूपक है। सर्वज्ञदेव द्वारा कथित सात तत्त्वों की श्रद्धा-ज्ञान-आचरण से भला होता है। सर्वज्ञ कथित देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप, आत्मा आदि सात तत्त्वों का स्वरूप सनातन दिगम्बर जैनधर्म में ही है, अन्य कहीं नहीं, इसे विश्वधर्म कहो, वस्तु व्यवस्था कहो, जैनधर्म कहो - एक ही बात है।”¹²

निष्कर्ष यह है कि कानजी स्वामी ने मात्र जैन अध्यात्म शास्त्रों का ही अध्ययन एवं उन पर ही प्रवचन किये हों ऐसा नहीं है अपितु उन्होंने अनेक भारतीय दर्शनों के सिद्धान्तों की तुलना करते हुये तर्क एवं युक्ति के आधार पर जैनदर्शन की समीचीनता स्वीकार की एवं अपने प्रवचनों में उसी का प्रतिपादन किया गया है।

5.6. निष्कर्ष

भारतभूमि पर धर्म व दर्शन की सत्ता पहले से ही थी और आज भी है। इसी कारण यह भारत-भूमि अविद्या के घने तिमिर-मण्डल को छिन्न-भिन्न करने में पहले से ही समर्थ थी और आगे भी रहेगी। धर्म और दर्शन की सत्ता के कारण भारत-भूमि पवित्र हुई। जो काम भारतीय दर्शनों के माध्यम से भारत-भूमि पर हुआ वह अन्यत्र नहीं हुआ, क्योंकि

1. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-2, पृ. 101

2. वही, पृ. 103

जैसा तत्त्वों का विवेचन भारतीय विवेचकों ने नाना मौलिक दृष्टिकोणों से किया है, वैसा पाश्चात्य विवेचक अर्थात् पाश्चात्य दार्शनिक नहीं कर सके हैं।

भारतीय दार्शनिक साहित्य की परम्परा बहुत लम्बी, प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण रही है। दर्शन भारतीय जीवन का प्राण रहा है तथा इसी के आधार पर विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं का उद्भव हुआ है। भले ही इन परम्पराओं में परस्पर वैमत्य रहा हो परन्तु उनका योगदान दार्शनिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण रहा है। विभिन्न दर्शनों के अपने सिद्धान्त एवं विशेषताएँ रही हैं और ये ही भारतीय दर्शनधारा का वैशिष्ट्य रहा है।

मानवगत भावाभिव्यक्ति हेतु आविर्भूत दर्शन परम्परा तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा एवं आचारमीमांसा के प्रतिपादन हेतु एक सशक्त माध्यम है। तार्किकता की प्रधानता होने से यह दर्शन परम्परा प्रज्ञा सम्पन्न जनों को संतुष्टि एवं योग्यमार्ग का अवलम्बन प्रदान करती है। ईश्वर का निर्णय उसके द्वारा कथित वस्तु-व्यवस्थादि का परिज्ञान यह परम्परा ही कराती है।

जैन परम्परा जहाँ सहज अकर्तृत्व, ज्ञातृत्व जैसे महान विचारों को निर्णीत करवाती है वहीं ज्ञानप्रधान आचरण/विवेकप्रधान सदाचार को भी अपनाने की प्रेरणा देती है। वस्तुस्वातन्त्र्य, अनेकान्त-स्याद्वाद, सर्वज्ञसिद्धि, नय-विवेचन, सृष्टि-प्रक्रिया, उपादान-निमित्त इत्यादि विषयों का सारगर्भित विवेचन इसका मूल है।

इसतरह उक्त दार्शनिक विचारों की तार्किकता के माध्यम से सत्यासत्य का निर्णय कर उचितानुचित का निर्धारण कर स्वात्महित हेतु प्रयत्न करना परम ध्येय होना चाहिये। उक्त विषयों की समालोचना निन्दा रस की पोषक न होकर निर्णय की संवर्धक होनी चाहिये, जो आत्महित में साधक बने। यही दार्शनिक विचारकों की आज्ञा, आदेश एवं उपदेश है।



कानजीस्वामी के प्रवचन साहित्य का आध्यात्मिक मूल्यांकन

6.1. आत्मा का स्वरूप

आत्मा के अस्तित्व को सभी दर्शन स्वीकार करते हैं, परन्तु आत्मा का सर्वांगीण स्वरूप जैनदर्शन में मिलता है। आत्मा (जीव) का मूल लक्षण उपयोग है। उपयोग का तात्पर्य है कि आत्मा जिससे ज्ञेय पदार्थ जाने। यह उपयोग दो प्रकार का होता है¹ – एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग। पदार्थ को विशेष जानने की शक्ति ज्ञानोपयोग है और पदार्थों के सामान्य अवलोकन की शक्ति का नाम दर्शनोपयोग है। आत्मा का यह ज्ञान-दर्शन स्वभाव अविनश्वर है, क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मों के कारण यह स्वभाव भले ही आवृत हो जाता है, परन्तु यह नष्ट नहीं होता है।

जैनागमों में आत्मा का वर्णन निश्चय और व्यवहार इन दो दृष्टियों से किया गया है।² निश्चयनय से जीव अमूर्तिक है और व्यवहार नय से यह जीव कर्मों से आबद्ध होने के कारण मूर्तिक है।

वास्तव में यह आत्मा कभी नेत्रेन्द्रिय के द्वारा पदार्थ को देखता है तो कभी अन्य इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ का अनुभव कर लेता है तथा कभी कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार वह रूपी पदार्थों को स्पष्ट दर्शन कर लेता है जिसे जैनागम में दर्शनोपयोग के भेदों के अन्तर्गत चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के नाम से जाना जाता है।

दर्शनोपयोग के पश्चात् जिनागम में ज्ञानोपयोग के भी आठ भेद

1. जैन लक्षणावली, पृ. 1/276

2. बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका-2

स्वीकार किये जाते हैं जो कि इसप्रकार हैं – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान।

उपर्युक्त चार प्रकार का दर्शन और आठ प्रकार का ज्ञान जीव का सामान्य लक्षण है। यह उसका व्यावहारिक स्वरूप है। शुद्धस्वरूप में तो वह केवलज्ञान व केवलदर्शनमयी है। इन विशेषणों से स्पष्ट है कि आत्मा की सत्ता स्वतन्त्र है। यह एक अनुभूत तथ्य है कि सुख-दुःख आदि तत्त्वों के लिये कोई आधार होना आवश्यक है। यदि आत्मा को स्वीकार न किया जाये तो ये तत्त्व कहाँ रहेंगे ? उसके बिना जड़त्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

जड़तत्त्वों से आत्मा की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती अतः जैनदर्शन में आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

“आत्मा शब्द ‘अत्’ धातु से बना है जिसका अर्थ होता है ‘‘सतत गमन’’ यहाँ गमन शब्द का अर्थ ज्ञान होता है क्योंकि ‘सब गतिरूप अर्थवाली धातुयें ज्ञानरूप अर्थ वाली होती हैं’ – ऐसा वचन है। इसकारण यथासंभव ज्ञान-सुखादि गुणों में ‘‘आ’’ अर्थात् सर्वप्रकार से ‘‘अतति’’ अर्थात् वर्तता है वह आत्मा है।”¹¹

जैनदर्शन में मुख्यतः द्रव्यानुयोग में आत्मा का स्वरूप-विवेचन वस्तुस्थिति के अनुरूप ही हुआ है। वही हमारे लिये परमोपादेय है। आगम में जो आत्मा के तीन भेद बताये हैं उन भेदों को गौण करते हुये केवल जब एक जीवद्रव्य की अपेक्षा से वस्तुस्वरूप को ध्यान में रखकर विचार करते हैं तो उसका स्वरूप कुछ इसतरह ज्ञान में आता है कि –

“वह आत्मा अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादिनिधन वस्तु है।”¹²

1. बृहद्द्रव्यसंग्रह, पृ. 267

2. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 38

इस सम्बन्ध में कानजी स्वामी के सूक्ष्म कथन दृष्टव्य हैं -

“ यह आत्मा त्रैकालिक द्रव्य सामान्यरूप ध्रुव है और उसका वर्तमान वर्तता हुआ विशेषरूप ध्रुव दोनों अभेद हैं, और द्रव्यदृष्टि के विषय हैं। जिसप्रकार सहज परमपारिणामिक भाव त्रिकाल ध्रुवरूप है उसीप्रकार उस परम पारिणामिक भाव में स्थित यह स्वभाव चतुष्टयमय शुद्ध चेतना परिणाम भी ध्रुवरूप है, कारण नियमरूप है। जो प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल एकरूप स्थित है, पारिणामिकभावरूप है, उसमें परिणमन कहा जाता है। किन्तु यह परिणमन सदृशरूप है। संसार और मोक्षपर्याय की भांति उत्पाद व्ययरूप परिणमन नहीं है - ऐसा कारण स्वभाव अन्तर्दृष्टि का विषय है।”¹¹

“ भगवान् आत्मा तो अद्भुत निधि है - अहा..हा... ! जिसमें अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता इत्यादि अनन्त अनन्त स्वभाव भरे हैं। ऐसा महा आश्चर्यकारी खजाना भगवान् आत्मा है।”¹²

“ अहा... ! जितना अन्दर ज्ञानस्वरूप है, उतना ही सत्य का कल्याण है। अहा..हा.. ! ज्ञानस्वरूप है, वही कल्याण स्वरूप है।”

“ समयसार अर्थात् भगवान् आत्मा जिनराज है। जिनराज पर्याय जिनराज स्वरूप में से होती है। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप ही जिनराज है।”¹³

आत्मा के स्वरूप को परमभावप्रकाशक नयचक्र में भी स्पष्ट किया गया है -

“ आत्मा परमभाव स्वभावी है। परमभाव आत्मा का वह मूल स्वभाव है, जिसे ज्ञायकभाव परमपारिणामिक भाव, त्रिकालीभाव, शुद्धभाव, ध्रुवभाव आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है।

1. कारणशुद्धपर्याय, पृ. 14

2. अध्यात्म-वैभव-1, पृ. 29

3. अध्यात्म-वैभव-1, गुणा, पृ. 1

आत्मा स्वचतुष्टयात्मक है। आत्मा सत्-स्वरूपी है। आत्मा सत्-स्वरूपी है। आत्मा अपने गुण-पर्यायों के पिण्डरूप स्वद्रव्य से अपने असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र से, वर्तमान वर्तती पर्यायरूप स्वकाल से एवं शक्तिरूप स्वभाव से अस्तित्व धर्म वाला है।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने प्रवचनसार के ऊपर तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका के परिशिष्ट में 47 नयों का वर्णन कर आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट किया है। जिसके ऊपर कानजी स्वामी ने नयप्रज्ञापन नाम से प्रवचन किये हैं। उसमें आत्मा के स्वभाव को स्पष्ट किया है।

“यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है तो आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है, क्योंकि वह अनन्त धर्मों में व्याप्त होने वाला जो एक श्रुतज्ञान स्वरूप प्रमाण है - इस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से प्रमेय होता है।”

उसी सन्दर्भ में आत्मा या जीव के स्वभावों और शक्तियों का भी साहित्य में वर्णन मिलता है। ये अनन्त शक्तियाँ आत्मा में पायी जाती हैं। समयसार परिशिष्ट¹ में आचार्य अमृतचन्द्रदेव द्वारा वर्णित 47 शक्तियों पर कानजी स्वामी ने विशद विवेचन किया है।

इसप्रकार जीव-आत्मा एक नित्य तथा विशुद्धरूप को लिये हुए रहता है परन्तु मिथ्यात्व और अज्ञानता के कारण उसका यह स्वरूप धूल-धूसरित हो जाता है। योगनिरोध से उस विशुद्ध मूलरूप को पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

6.2. आत्मोपलब्धि के साधन

आत्मोपलब्धि के साधन के रूप में स्वाध्याय, तत्त्व विचार, भेदविज्ञान, ध्यान एवं आत्मानुभवपूर्वक आत्मा की अनुभूति ही आत्मोपलब्धि है। आत्मोपलब्धि के बिना धर्म का प्रारम्भ ही नहीं होता एवं आत्मोपलब्धि

1. समयसार परिशिष्ट, पृ. 669

के बिना संपूर्ण ज्ञान व बाह्य आचरण को मोक्षमार्ग में निरर्थक माना गया है। यही कारण है कि जहाँ जिनागम में आत्मोपलब्धि की पावन प्रेरणा प्रदान की गयी है वहीं उसकी उपलब्धि की चर्चा भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

6.2.1. स्वाध्याय

स्वाध्याय शब्द की निष्पत्ति 'स्व' शब्द 'अधि' उपसर्ग के साथ 'अय' धातु के योग से हुई है। जिसमें स्व शब्द का अर्थ निज को, अधि शब्द का अर्थ ज्ञान, और अय शब्द का अर्थ प्राप्त होना है। अतः 'स्वाध्याय' शब्द का अर्थ निज का ज्ञान होना है; पर से होने वाला ज्ञान तो पराध्याय कहलाता है। वास्तव में आत्महितकारी शास्त्रों का अध्ययन, मनन और चिन्तन भी उपचार से स्वाध्याय कहलाता है। परन्तु वास्तविक स्वाध्याय तो आत्मध्यान प्राप्त होना ही है। स्वाध्याय की प्रेरणा एवं होने वाले लाभ को बताते हुए कानजी स्वामी ने कहा है -

“सारे दिन शास्त्र का स्वाध्याय करना चाहिये। विचार, मनन, करके तत्त्वनिर्णय करना और शरीरादि तथा राग से भेदज्ञान करने का अभ्यास करना चाहिये। रागादिक से भिन्नता का अभ्यास करते-करते आत्मा का अनुभव होता है।”¹

“शास्त्र वाँचन, भक्ति आदि आत्मा के प्रयोजन के लिये हैं, यदि तू लोक रंजन में रम जायेगा तो आत्मा खो जायेगा।”²

“शास्त्र का अभ्यास करके सारभूत ज्ञायक तत्त्व को नहीं जाना तो शास्त्राभ्यास किस काम का। शास्त्र श्रवण, उपदेश, वाँचन ये सब अपने हित के लिये है अन्य के हित के लिये नहीं।”³

वास्तव में आगम के आलोक में स्वाध्याय व उनके स्वरूप पर

1. आत्मधर्म गुजराती, पृ. 10

2. प्रवचनसागर के अनमोल मोती, पृ. 72

3. वही, पृ. 73

विचार करने पर स्पष्ट होता है कि आलस्य को छोड़कर ज्ञान की आराधना करना ही स्वाध्याय है। जैसा कि कहा गया है कि -

“ज्ञानभावनालस्य त्यागः स्वाध्यायः”

अर्थात् आलस्य त्याग कर अपनी आत्मा की अर्थात् ज्ञान की आराधना करना ही स्वाध्याय है। अपनी आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय है।

आचार्यों ने उक्त परिभाषाओं को निश्चय स्वाध्याय की कोटि में रखा है। यदि व्यवहार स्वाध्याय के ऊपर दृष्टिपात किया जाय तो कहा जाये तो कहा जा सकता है कि -

“बारह अंग चौदह पूर्व जो जिनदेव ने कहे हैं, उनको पण्डितजन स्वाध्याय कहते हैं।”

“अंग और अंग बाह्य आगम की वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तन और धर्मकथा करना स्वाध्याय नाम का तप है।”

“तत्त्वज्ञान को पढ़ना, पढ़ाना, स्मरण करना आदि स्वाध्याय तप है।”

ज्ञान भावना में प्रमाद न करना निश्चय से स्वाध्याय है और व्यवहार से प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग इन चारों प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन, मनन, सीखना, सिखाना, विचारना आदि स्वाध्याय कहलाता है।

कानजी स्वामी स्वयं स्वाध्यायी थे। प्रातःकाल निवृत्त होकर जिनदर्शन के बाद वे नियमित स्वाध्याय किया करते थे। वे कहते थे कि जीव को दिन में कम से कम 4-5 घण्टे स्वाध्याय करना चाहिये वरना जीव तिर्यच गति में चला जाता है।

स्वाध्याय अन्तरंग तप है मोक्षमार्ग में इसका बहुत ऊँचा स्थान है। यह सब तपों में सर्वश्रेष्ठ हैं। जिनागम में स्वाध्याय के पाँच¹ भेद बताये गये हैं जो कि इसप्रकार हैं -

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृ. 338

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ।

1. निर्दोष ग्रन्थ में अर्थ और पाठ दोनों को ही प्रदान करना **वाचना** कहा जाता है।
2. संशय को दूर करने के लिये दूसरे अधिक विद्वानों से पूछने को **पृच्छना** कहते हैं।
3. जाने हुए पदार्थ का मन से विचार करने का नाम **अनुप्रेक्षा** है।
4. शुद्ध उच्चारण के साथ पाठ का परिशीलन **आम्नाय** है।
5. धर्मकथा आदि के अनुष्ठान को **धर्मोपदेश** कहा जाता है।¹

1. वाचना स्वाध्याय

निर्दोष ग्रन्थों का पाठ, अर्थ तथा पाठ और अर्थ दोनों को पात्र मनुष्यों को पढ़ाना, बतलाना, समझाना वह वाचना स्वाध्याय है। परमागम का शब्द पढ़ाने के समान, अर्थ समझाने के समान कोई अपना तथा पर का उपकार नहीं है। परमागम को पढ़ाकर योग्य शिष्य को प्रवीण कर देना धर्म का स्तम्भ खड़ा कर देने के समान है। जैसा कि विभिन्न ग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है -

“निर्दोष ग्रन्थ, उसके अर्थ का उपदेश अथवा दोनों ही उसके पात्रों को प्रदान करना ही वाचना है। वाचना आदि नौ आगमों में वाचना अर्थात् अन्य भव्य जीवों के लिये शक्त्यानुसार ग्रन्थ के अर्थ की प्ररूपणा करना वाचना है।”²

“शिष्यों को पढ़ाने का नाम वाचना है।”³

वाचना स्वाध्याय के चार भेद कहे गये हैं। जिनके नाम हैं - नन्दा, भद्रा, जया, सौम्या ।

1. पद्मनन्दी पंचविंशतिका, पृ.39

2. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 9/25

3. धवला, पृ. 252

● नन्दा – अन्य दर्शनों को पूर्वपक्ष पर करके उनका निराकरण करते हुए अपने पक्ष को स्थापित करने वाली व्याख्या नन्दा कहलाती है।

● भद्रा – युक्तियों द्वारा समाधान करके पूर्वापर विरोध का परिहार करते हुए सिद्धान्त में स्थित समस्त पदार्थों की व्याख्या का नाम भद्रा है।

● जया – पूर्वापर विरोध के परिहार बिना सिद्धान्त के अर्थों का कथन करना जया वाचना कहलाती है।

● सौम्या – कहीं-कहीं स्खलनपूर्ववृत्ति से जो व्याख्या की जाती है, वह सौम्या वाचना है।

2. पृच्छना स्वाध्याय

अपना संशय दूर करने के लिये बहुज्ञानी से विनयपूर्वक प्रश्न करना ही पृच्छना स्वाध्याय है। जैसा कि कहा गया है –

“संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छना।”

अर्थात् संशय का उच्छेद करने के लिये अथवा निश्चित बल को पुष्ट करने के लिये प्रश्न करना पृच्छना है।

अपना संशय दूर करने के लिए बहुज्ञानी से विनयपूर्वक प्रश्न करना चाहिए क्योंकि प्रश्न से संशय दूर किये बिना सम्यग्ज्ञान प्रगट नहीं होता है। अथवा आपने आगम के शब्द का जो अर्थ समझ रखा हो, वह बहुज्ञानियों के मुख से सुना हो बहुत पक्का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान की शिथिलता दूर हो जाती है। अतः बहुज्ञानियों से प्रश्न करना चाहिए। अथवा आपने संक्षेप में समझा हो उसे विस्तार से जानने के लिए बड़ी विनय से सम्यग्ज्ञानियों से प्रश्न करना चाहिए। अपनी उच्चता ये पण्डितपना दिखाने के या दूसरे का तिरस्कार करने के लिए तथा हँसी करने के लिए सम्यग्दृष्टि प्रश्न नहीं करता है। शब्द के सम्बन्ध में प्रश्न करता है, अर्थ के संबंध में प्रश्न करता है। फिर निर्णय करता है, वह पृच्छना स्वाध्याय है।

3. अनुप्रेक्षा स्वाध्याय

परमागम से जाने हुए शब्द और अर्थ को अपने हृदय में धारण करके बारम्बार मन से अभ्यास करना, चिन्तन करना, आगम में आज जो मैंने पढ़ा है, सुना है उसमें से ये दोष मुझे त्यागने योग्य हैं, ये गुण मुझे ग्रहण करने योग्य हैं, ये मेरे स्वरूप से भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, आदि जानने योग्य ही हैं - इस प्रकार मन से बारम्बार चिन्तन करना वह अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। इससे अशुभ भावों का नाश होता है, शुभ धर्मध्यान प्रगट होता है।

इस संबंध में कहा गया है -

“अधिगतार्थस्य मन साध्या सोऽनुप्रेक्षा।”

अर्थात् जाने हुए पदार्थ का मन में अभ्यास करना ही अनुप्रेक्षा है। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म स्वाख्यातत्व का बार-बार चिन्तन करना वह अनुप्रेक्षार्ये हैं। इन बारह भावनाओं/अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिए।

4. आम्नाय स्वाध्याय

अतिशीघ्रता से पढ़ना, अतिबिलम्ब से समझना इत्यादि वचन के दोष टालकर धैर्य सहित एक-एक अक्षर की स्पष्टता सहित अर्थ के प्रकाश (भाव भासन) सहित पढ़ना, पाठ करना, मीठे स्वर से उच्चारण करना तथा सिद्धान्त की परिपाटी से व आगम से विरोध रहित, लोक विरुद्धता रहित पढ़ना आम्नाय स्वाध्याय है।

आगम में भी इसीप्रकार का तथ्य उपलब्ध होता है -

“घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः”

अर्थात् उच्चारण की शुद्धिपूर्वक पाठ को पुनः-पुनः दोहराना आम्नाय है। चारित्रसार में कहा गया है कि -

“आचार पारगामी व्रती का लौकिक फल की अपेक्षा किये बिना द्रुतावलम्बितादि पाठ दोषों से रहित होकर पाठ का फेरना, धोखना आम्नाय है।”

5. धर्मोपदेश स्वाध्याय

लौकिक प्रयोजन लाभ, पूजा, अभिमान, मद आदि छोड़कर उन्मार्ग को दूर करने के लिये, सन्मार्ग को दिखलाने के लिये, संशय को मिटाने के लिये, अपूर्व पदार्थ प्रकट करने के लिये, धर्म का प्रकाश फैलाने के लिये, विषयानुराग तथा कषाय घटाने के लिये, अज्ञान मिटाने के लिये, भेदविज्ञान प्रगट करने के लिये, पाप क्रिया से भयभीत होने के लिये, भव्यों को धर्म के कथनों का उपदेश करना वह धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है। जहाँ अनेक भव्य जीवों को धर्म का उपदेश दिया जाता है, वहाँ मन-वचन-काय सभी धर्म के स्वरूप में लीन हो जाते हैं। कहा भी गया है कि-

“धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशम्”

अर्थात् धर्म कथा आदि का अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है।

6.2.2. तत्त्व विचार

तत्त्व विचार से आशय जिनागम में वर्णित जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वों के स्वरूप एवं इनकी हेय उपादेयता है। जिनागम में वर्णित सात तत्त्वों में हेय, उपादेयता का विचार दो प्रकार से किया जा सकता है -

1. आश्रयभूत उपादेयता 2. प्रगट करने रूप उपादेयता

आश्रयभूत उपादेयता में एकमात्र निज जीवत्व ही उपादेय कोटि में आता है; शेष सभी तत्त्व ज्ञेय तत्त्व की कोटि में आते हैं। प्रगट करने की दृष्टि से हेय-उपादेयता की श्रेणी में संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व आते हैं और आस्रव, बन्ध व अजीव हेय एवं ज्ञेय कोटि में आते हैं।

इसप्रकार निज जीवतत्त्व के अवलम्बन से प्रगट संवर, निर्जरा उपादेय एवं आस्रव, बन्ध हेय हैं। तत्त्वविचार करने वाला साधक सम्पूर्ण तत्त्वों को दो कोटियों में रखता है, उनमें स्व-पर का विभाग करता है, इसी को भेद विज्ञान कहा जाता है।

सब शास्त्रों में वर्णित तत्त्वज्ञान का आत्मलक्ष्यी भाव से किया जाने वाला भाव ही तत्त्वविचार है। यही तत्त्वविचार आत्मानुभूति का प्रबल निमित्त होकर के मुक्ति सुख का कारण बनता है। तत्त्वविचार के अभाव में देवादि को प्रतीति, शास्त्रों का अभ्यास, व्रतादिक का पालन होने पर भी जीव को सम्यक्त्व का अधिकार नहीं होता। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए पं. टोडरमल कहते हैं -

“देखो! तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करें, व्रतादिक पालें, तपश्चरणादि करे उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं और तत्त्वविचार वाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।”¹¹

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है -

“लोगों का तत्त्व का बहुमान नहीं आता है वे मानते हैं कि व्रत, तप उपवासादि करेंगे तो तिर जायेंगे। अतः जितनी शक्ति होती है उसे त्याग में लगाते हैं, परन्तु तत्त्व का अभ्यास नहीं करते इसलिये वे जीव मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।”¹²

हे जीव ! तू जिनदेव के द्वारा कहे गये जीवादि तत्त्वों का बार-बार अभ्यास करके अपनी आत्मा को पहिचान ले।

वाह देखो ! यह स्वानुभव के रस की महिमा। जिसको विचार का रस छूटकर अध्यात्म-रस रुचिकर लगा, वह जीव भाग्यशाली है। ‘सिद्ध समान सदा पद मेरो’ ऐसी अन्तर्दृष्टि व ऐसे अनुभव की भावना करने वाला जीव सचमुच में धन्य है।”

तत्प्रति प्रीति चित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुता।

निश्चितं स भवेद्भव्यो, भाविनिर्वाण भाजनम्॥

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. 260

2. मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन भाग-3, पृ. 07

अर्थात् जिस जीव ने प्रसन्नचित्त होकर इस चेतन स्वरूप आत्मा की बात सुनी है, वह निश्चय से भव्य है, अल्पकाल में मोक्ष का पात्र है।

कानजी स्वामी ने अपने प्रवचन में कहा है कि - "तत्त्वनिर्णय हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। उस तत्त्व निर्णयरूप आगम का ज्ञान करने की योग्यता एक इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों से नहीं है क्योंकि उनके तत्त्वविचार की शक्ति नहीं है। मनुष्यभव में भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का होना कठिन है। अतः सुख की चाहना वाले जीवों को यही काम करना चाहिए अर्थात् तत्त्वनिर्णयरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करना ही योग्य है।

इसलिए पं. टोडरमलजी तत्त्वाभ्यास की प्रेरणा देते हुए कहते हैं -

जो विचार शक्ति सहित हो और जिसके रागादि मन्द हो वह जीव पुरुषार्थ से उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्वनिर्णय आदि में उपयोग लगाये तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो। यदि अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गंवाये या तो मन्दर रागादि सहित कषायों के कार्यों में प्रवर्ते या व्यवहार धर्मकार्यों में ही प्रवर्ते, तो समय तो चला जायेगा और संसार से भ्रमण होगा।

तथा इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्व निर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास करें, उनके विशुद्धता बढ़ेगी, उससे कर्मों की शक्ति हीन होती है। कुछ काल में अपने आप दर्शन मोह का उपशम होगा, तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आयेगी। सो इसका तो कर्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है। इसी से दर्शन मोह का उपशम तो स्वयमेव होता है, उसमें जीव का कर्तव्य कुछ नहीं है तथा उसके होने पर स्वयमेव सम्यग्दर्शन होता है।

"तत्त्व का निर्णय करने के लिये सर्वप्रथम भगवान के द्वारा कहे गये आगम का सेवन करना चाहिए और युक्ति का अवलम्बन लेना चाहिये। सत् शास्त्र द्वारा तथा प्रबल युक्तियों द्वारा निर्णय करना चाहिये। युक्ति का

तथा परम्परा गुरुओं का उपदेश और स्वानुभव इन चारों प्रकार द्वारा तत्त्वनिर्णय करना चाहिये। ऐसे चारों प्रकारों द्वारा आत्मा की पहिचान करनी चाहिए।¹¹

6.2.3. भेदविज्ञान

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में सप्त तत्त्वार्थों एवं देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान के पश्चात् तीसरी प्रमुख बात है भेदविज्ञान। जिनागम में भेदविज्ञान की महिमा को अचिन्त्य माना गया है। भेदविज्ञान को आत्मानुभूति का कारण बताते हुए उसकी पावन प्रेरणा देते हुए छहढाला में पं. दौलतराम कहते हैं-

तास ज्ञान को कारण स्वपर विवेक बखानो।

कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनो॥

इन्हीं पंक्तियों के भाव को कानजी स्वामी ने इसप्रकार स्पष्ट किया है-

“स्वपर के विवेकरूप भेदज्ञान को सम्यग्ज्ञान का कारण कहा है इसलिये हे भव्य जीवो! तुम करोड़ों उपायों से भी इस भेदज्ञान को अन्तर में प्रकट करो, उसी से तुम्हारा हित अर्थात् मोक्ष होगा।”¹²

भेदविज्ञान सम्पूर्ण दुःखों के अभाव का एकमात्र कारण है इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए पं. टोडरमल ने कहा है -

“प्रथम तो दुःख दूर करने में आपा-पर का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। यदि आपा-पर का ज्ञान नहीं है तो अपने को पहिचाने बिना अपना दुःख कैसे दूर करें? अथवा आपा-पर को एक जानकर अपना दुःख दूर करने के अर्थ पर का उपचार करे तो अपना दुःख दूर कैसे हो? अथवा अपने से पर भिन्न है, परन्तु यह पर में अहंकार-ममकार करे तो उससे दुःख ही होता है। आपा-पर का ज्ञान होने पर ही दुःख दूर होता है।”¹³

1. मुक्ति का मार्ग (कानजी स्वामी), सं. ब्र. हरिलाल जैन, पृ. 33

2. वीतराग विज्ञान प्रवचन-4 (कानजी स्वामी), अनु. गम्भीरचन्द जैन, पृ. 69

3. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पं. टोडरमल, पृ. 78

भेदविज्ञान को ही मुक्ति एवं भेदविज्ञान के अभाव को बन्ध का कारण प्रतिपादन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि -

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धाः ये किल केचन।

अस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन॥¹

अर्थात् जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं, और जो कोई बँधे हैं वे भेदविज्ञान के ही अभाव से बन्धे हैं। अनादिकाल से लेकर जब तक जीव को भेदविज्ञान नहीं है तब तक वह कर्म से बंधा रहता है-संसार में परिभ्रमण करता ही रहता है।

जिस जीव को भेदविज्ञान होता है। वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है, मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इसलिये कर्मबन्ध का मूल-संसार का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है और मोक्ष का पहला कारण भेदविज्ञान ही है। भेदविज्ञान के बिना कोई मोक्ष की सिद्धि नहीं कर सकता है।

इसी कलश का पद्यानुवाद डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने इसप्रकार किया है -

**“अब तक जो भी हुए सिद्ध अरु आगे होंगे,
महिमा जानो एकमात्र सब भेदज्ञान की।
और जीव जो भटक रहे हैं भव सागर में,
भेदज्ञान के ही अभाव में भटक रहे हैं॥”**

भेदज्ञान की इससे और अधिक क्या महिमा बताई जा सकती है कि आज तक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं, वे सब भेदविज्ञान से गये हैं और जो जीव कर्मों से बंधे हैं, संसार में अनादि से अनन्त दुःख उठा रहे हैं, वे सब भेदविज्ञान के अभाव से उठा रहे हैं।

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में कविवर पं. बनारसीदास ने इसप्रकार स्पष्ट किया है -

1. समयसार कलश 131, आचार्य अमृतचन्द्रदेव, पृ. 316

“ भेदज्ञान संवर जिन पायो, सो चेतन शिवरूप कहायौ ।

भेदज्ञान जिनके घट नहीं, ते जड़ जीव बंधै घट मांहि ॥”

जिन जीवों ने भेदज्ञानरूपी संवर प्राप्त किया है, वे जीव मोक्ष स्वरूप ही कहे जाते हैं और जिनके हृदय में भेदज्ञान नहीं है, वे जड़ (अज्ञानी) जीव घट (शरीर) में बंधे हैं, संसार में भटक रहे हैं ।

भेदज्ञान की इससे अधिक और क्या महिमा बताई जा सकती है कि – आजतक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं, वे सब भेदविज्ञान से गये हैं और जो जीव कर्मों से बंधे हैं, संसार में अनादि से अनन्त दुःख उठा रहे हैं, वे सब भेदविज्ञान से उठा रहे हैं । जिन जीवों ने भेदज्ञानरूपी संवर प्राप्त किया है, वे जीव मोक्षस्वरूप ही कहे जाते हैं और जिनके हृदय में भेदज्ञान नहीं है, वे अज्ञानी जीव संसार में भटक रहे हैं ।

भेदज्ञान के इस स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने कहा है कि –

“ आत्मा उपयोग स्वरूप है, भेदज्ञान परभावों से भिन्न है, इस प्रकार उपयोग और रागादि को सर्वप्रकार से अत्यन्त भिन्न जानकर, राग से भिन्नता रूप और उपयोग से एकत्व रूप ज्ञान का परिणमन भेदज्ञान है ।”

इसप्रकार अपूर्व धर्म जीव के अपने आश्रय से प्रकट होता है समयसार के संवर अधिकार में भेद विज्ञान को आत्मा की उपलब्धि का, संवर का कारण कहा है और संवर होने पर ही मुक्तदशा की उपलब्धि होती है । अतः भेदविज्ञान मुक्ति की परम आधारशिला है ।

महाकवि पं. बनारसीदास ने उनकी प्रशंसा इसप्रकार की है –

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हकै घट,

शीतल चित्त भयो जिम चन्दन ।

केलि करे शिवमार्ग में,

जगमांहि जिनेश्वर के लघुनन्दन ॥

सत्य स्वरूप सदा जिन्हके,
 प्रगट्यो अवदात मिथ्यात निकन्दन।
 शान्त दशा तिनकी पहिचानि,
 करैं कर जोरि बनारसी वन्दन॥

इसके अलावा इष्टोपदेश में भी इसीप्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं—

“जो कोई प्राणी गुरुपदेश से अथवा शास्त्राभ्यास से या स्वानुभव से स्व-पर के भेद को जानता है, वही पुरुष सदा मोक्षसुख को जानता है।”

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्यतया और विशेषतया परभाव स्वरूप सर्वभावों से भेदज्ञान करके टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव जिसका स्वभाव है ऐसा जो आत्मतत्त्व उसको जानता है। आत्मा स्व-पर के भेदविज्ञान से ज्ञायक होता है। कानजी स्वामी ने अन्य ग्रन्थों में भेदविज्ञान को इसप्रकार स्पष्ट किया है —

“सर्व पर्यायों से भिन्न होकर, ज्ञान दर्शन स्वभाव में नियत वृत्ति अर्थात् त्रिकाल आत्मतत्त्व के साथ एकत्वपने वर्तना वह भेदज्ञान है। ऐसा भेदज्ञान केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है।”¹¹ “भेदज्ञानी धर्मात्मा अपने भेदज्ञान की शक्ति से निज महिमा में लीन होता है। वह रागरूप किञ्चित्मात्र भी नहीं परिणमता ज्ञानरूप ही रहता है।”¹² “पर से भिन्न और स्वयं से अभिन्न इसका नाम भेदविज्ञान है। व्यवहार से सबसे भिन्न होना वह भेदविज्ञान है।”¹³ “भेदज्ञान के द्वारा ही अंदर शुद्ध निश्चय परमार्थ वस्तु स्वयं है इसका अनुभव होता है।”

जीव पुद्गल के भेदविज्ञान व सम्पूर्ण शास्त्रों का सार बताते हुए आचार्य पूज्यपाद का कथन दृष्टव्य है —

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य, इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।

यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥

1. आत्मवैभव, पृ. 99

2. ज्ञानगोष्ठी, पृ. 63

3. अध्यात्म-वैभव, पृ. 104

अर्थात् जीव और पुद्गल भिन्न है इतना ही (ऐसा ही भेदज्ञान ही) तत्त्वकथन का सार है, इसके अतिरिक्त जो कुछ कहा जाता है, वह उसी का विस्तार है।

भावार्थ यह है कि जीव और पुद्गल एक-दूसरे से भिन्न हैं। आत्म-सन्मुख होकर भेदज्ञान द्वारा ऐसे आत्मतत्त्व का निर्णय करना ही तत्त्वकथन का सार है। विस्तार रुचि वाले शिष्यों को लक्ष्य में रखकर आचार्य ने जो भेद-प्रभेद में कथन किया है, वह इसका ही विस्तार है।

आचार्य पूज्यपाद के इस कथन को स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं - पूज्यपाद स्वामी ने बहुत संक्षेप में सम्पूर्ण सार कह दिया है। भगवान सत्यार्थ भूतार्थ आत्मा पुण्य-पाप के विकल्प, शरीरादि से जुदा है और विकल्प शरीरादि आत्मा से भिन्न हैं। ऐसा ज्ञान में लेते ही अर्थात् भेदज्ञान करते ही भगवान भूतार्थ सत्यार्थ आत्मा निर्णय में आ जाता है।

“भगवान आत्मा पुण्य-पाप रागादि से भिन्न है और पुण्य-पाप आत्मा से भिन्न है। इस कारण भेदज्ञान होने पर मैं अनन्त गुणों का स्वामी हूँ - ऐसा ज्ञान हो जाता है। इस कारण मैं राग का, मकान का अथवा शरीर का स्वामी हूँ - यह बात इसकी दृष्टि में नहीं रहती है - ऐसा निर्णय करना भेद विज्ञान है।”¹¹

जिनागम में भेदज्ञान की प्रक्रिया को दो प्रकार से समझाया गया है² -

प्रथम प्रक्रिया के रूप में पहले प्रकार का भेदज्ञान जीव अपने गुणों और पर्यायों से एक है, अभिन्न है और परद्रव्यों, उनके गुणों और पर्यायों से अत्यन्त पृथक् है, भिन्न है अर्थात् जीव स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव से है, इसलिये उस अपेक्षा से परद्रव्य उसके गुण पर्यायों के साथ का सम्बन्धमात्र व्यवहारनय से संयोगरूप या निमित्तरूप है - ऐसा ज्ञान कराया जाता है।

1. इष्टोपदेश प्रवचन (कानजी स्वामी), पृ. 260-62

2. द्रव्यसंग्रह, पृ. 7-8

इस दृष्टि से परद्रव्यों के साथ का सम्बन्ध असद्भूत असत्य होने से उस सम्बन्ध का ज्ञान कराने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। और जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय जो कि अपने हैं उन्हें पर से भिन्न बताने वालों को 'निश्चयनय' कहा जाता है।

दूसरे प्रकार का भेदज्ञान करने से सम्यग्दर्शन ज्ञान नहीं हो जाता है क्योंकि अनादि से जीव की पर्याय अशुद्ध है। वह अपने में होती है इस अपेक्षा से उसे 'निश्चय' का विषय कहा जाता है। तथापि उसी को द्रव्य के त्रैकालिक शुद्ध स्वरूप से भिन्न बताने तथा गुणभेद और पर्यायभेद के आश्रय से राग उत्पन्न होता है; इसलिये उन गुणभेदों को शुद्धपर्यायों और अशुद्ध पर्यायों का उसका आश्रय छुड़ाने के लिये व्यवहार कहा जाता है और जीव द्रव्य का त्रैकालिक शुद्ध स्वरूप जो कि ध्रुव है उसे 'निश्चय' कहा जाता है; क्योंकि उसके आश्रय से ही धर्म का प्रारम्भ, उसकी वृद्धि और पूर्णता होती है।

6.2.4. ध्यान

वस्तुतः लोग योगसाधना और प्राणायाम आदि क्रियाओं के तालमेल को ध्यान मानते हैं; पर वास्तव में योगसाधना और प्राणायाम धार्मिक क्रियायें ही नहीं है।

ध्यान तो ज्ञानी जीवों के अन्तर्मुखी होने की प्रक्रिया है, जो कि एकान्त में स्वभाव सन्मुखता के पुरुषार्थ से ही संभव है। ध्यान की साधना पाँच इन्द्रियों और मन के माध्यम से विकेन्द्रित ज्ञानोपयोग को हटाकर ज्ञानोपयोग को आत्मा में केन्द्रित करने की, उपयोग को आत्मसन्मुख करने की अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। इनमें एक शुद्धात्मा के आलम्बन के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं चाहिये।

यहाँ तक कि मन-वचन-काय भी जो कि आत्मा के एकक्षेत्रावगाही हैं, उन तीन योगों से भी काम लेना बन्द करके जब आत्मा का ज्ञानोपयोग

अपने स्वरूप में ही स्थिर हो जाता है, उसे अध्यात्म में आत्मध्यान या निश्चय धर्मध्यान कहा जाता है।

ध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार¹ में कहा है -

“एक पदार्थ को जानते हुये चिन्तवन का रुक जाना ध्यान है। वह ध्यान उत्तम संहनन वाले के अन्तर्मुहूर्त रहता है। एकाग्र चिन्तवन का सुख अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल उत्तम संहनन वाले को भी नहीं रहता है। वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराच संहनन ये तीन उत्तम संहनन कहलाते हैं।

संसार में गमन, भोजन, शयन, अध्ययन आदि कई क्रियायें हैं उनमें जो नियम रहित वर्तता है उसे ध्यान नहीं होता है। जहाँ एक (शुद्धात्मा) के सन्मुख होकर चित्त रुक जाता है वहाँ ध्यान है।

शुभचन्द्राचार्य द्वारा विरचित ‘ज्ञानार्णव’ में ध्यान का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है-

उत्कृष्टस्य बन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्ततः।

ध्यानमाहुरस्यैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमा॥5॥

अर्थात् उत्कृष्ट है काय का बन्ध कहिये संहनन जिसके ऐसे साधु का अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एकाग्र चिन्ता के रोधने को पण्डितजन ध्यान कहते हैं।¹²

‘पंचाध्यायी’ में ध्यान का स्वरूप बताया है -

“किसी एक विषय में निरन्तर रूप से ज्ञान का ध्यान रहना ध्यान है और वह वास्तव में क्रमरूप ही है, अक्रमरूप नहीं।”¹³

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान का लक्षण इसप्रकार बताया है -

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृ. 344

2. ज्ञानार्णव, पृ. 200

3. पंचाध्यायी, श्लोक 242

“उत्तमसंहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमन्तर्मुहूर्तात्।”

अर्थात् उत्तम संहनन वाले पुरुषों के एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ही ध्यान है, सो यह अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही रहता है।

कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में ध्यान के विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए ध्यान करने पर अधिक जोर दिया है -

“आत्मा के ध्यान से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, जो आत्मा के ध्यान को स्वीकार नहीं करता वह सम्यग्दर्शन रहित है, मिथ्यादृष्टि है। उसमें आत्मा की शुद्धि प्रगट करने की योग्यता नहीं है इसलिये आत्मा की रुचि करके अर्थात् रागादि विषयों की रुचि छोड़कर आत्मा के धर्मध्यान के बिना जीव की श्रद्धा सच्ची नहीं होती, क्योंकि ध्यान के द्वारा अन्तर में जीव का अनुभव किये बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती।”

राग में लीन रहते हुए आत्मा की सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती। वह धर्म आत्मा के द्वारा ही होता है और आत्मा का ध्यान इस काल में भी हो सकता है। प्रवचनसार के अन्त में कहा है कि- “हे जीव! अतीन्द्रिय सुखरूप आत्मा हमने जोर-शोर से बताया है इसलिये ऐसे आत्मा का तुम आज ही अनुभव करो। आज ध्यान के द्वारा ऐसा अनुभव हो सकता है, इसलिये तुम आज ही उसका अनुभव करो, ध्यान से उसे ध्यावो।”

प्रशस्त भावों से शुभ ध्यान होता है। शुभ ध्यान दो प्रकार का होता है - एक धर्म ध्यान और दूसरा शुक्ल ध्यान। अप्रशस्त भावों से अशुभ ध्यान होता है इसके भी दो प्रकार हैं - आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान। इस प्रकार ध्यान के चार भेद हैं। उनमें अशुभ ध्यान तो बिना यत्न के ही जीव के होता है क्योंकि अशुभ ध्यान का संस्कार तो जीवों को अनादि से चला आ रहा है। अशुभ ध्यान सिखाने का कोई शास्त्र भी नहीं है।

अशुभ ध्यान का अभाव होने पर शुभ ध्यान होता है। प्रत्येक ध्यान चार-चार भेदों वाला माना गया है।

1. आर्तध्यान

आर्त ध्यान का सामान्य स्वरूप 'ज्ञानार्णव' में स्पष्ट किया गया है कि 'ऋत्' अर्थात् जिस भाव में दुःख उत्पन्न हो, पीड़ा उपजे सो आर्त ध्यान है। यह ध्यान अविद्या से होता है, मिथ्याज्ञान की वासना से उत्पन्न होता है।¹ 'भावपाहुड़' में भी कहा है -

“ऋतं दुखं अर्दनमर्तिर्वा, तत्र भवमार्तम्।”²

आर्त शब्द 'ऋतं' अथवा ' अर्ति' इनमें से किसी एक से बना है। इनमें से 'ऋत' का अर्थ दुःख है और अर्ति का अर्दनं अर्तिः - ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना है। इसमें जो होता है वह आर्तध्यान है। संसारी जीवों को चौबीस घंटे ही कलुषित परिणाम होते रहते हैं। कुछ इष्ट वियोगजनित, कुछ अनिष्ट संयोग जनित, कुछ वेदना जनित और कुछ भोगों की तृष्णाजनित इत्यादि सभी प्रकार के परिणाम आर्तध्यान कहलाते हैं।

“ परिग्रह में आसक्त होना, कुशीलरूप प्रवृत्ति करना, कृपणता करना, ब्याज लेकर आजीविका करना, अत्यन्त लोभ करना, उद्वेग करना और अतिशय शोक करना ये आर्त ध्यान के बाह्य चिह्न कहलाते हैं इसी प्रकार शरीर का क्षीण हो जाना, शरीर की कांति नष्ट हो जाना, हाथों को कपोल पर रखकर पश्चाताप करना, आंसू डालना इसीप्रकार और भी अनेक कार्य करना आर्त ध्यान के बाह्य चिह्न हैं।”³

आर्तध्यान का आध्यात्मिक लक्षण बताते हुए कहा है -

“तत्रान्तं बाह्याध्यात्मिकभेदाद् द्विविकल्पं।”

“स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकार्तध्यानम्।”⁴

1. ज्ञानार्णव, पृ. 257

2. भावपाहुड़, पृ. 226

3. महापुराण, 40, 41

4. चारित्रसार, पृ. 167

बाह्य और आध्यात्मिक के भेद से आर्त ध्यान दो प्रकार का है। लोग जिसका अनुमान कर सकें वह बाह्य आर्त ध्यान है और जिसे केवल अपना आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक आर्तध्यान कहते हैं। वह आध्यात्मिक ध्यान चार प्रकार का है।

इसके 'ज्ञानार्णव' में चार भेद बताये गये हैं -

पहला आर्त ध्यान तो जीवों के अनिष्ट पदार्थों के संयोग से होता है, दूसरा आर्त ध्यान इष्ट पदार्थों के वियोग से होता है, तीसरा आर्तध्यान रोग के प्रकोप की पीड़ा से होता है और चौथा आर्तध्यान निदान जो आगामी काल में भोगों की वांछ से होता है।

इस प्रकार चार भेदों में आर्तध्यान का स्वरूप बताया गया है, वैसे जीव अनन्त तथा उसके अभिप्राय भी चूँकि अनन्त हैं, अतएव आर्तध्यान के अनन्त भेद हो जाते हैं। इस आर्तध्यान का फल अनन्त दुःखों से व्याप्त तिर्यचगति है। यह अधःपतन का कारण है, अतः यह त्यागने योग्य है।

2. रौद्र ध्यान

हिंसादि पाप कार्यों को करके रागपूर्वक डींगें मारते रहने का भाव रौद्र ध्यान कहलाता है।

“तेणिक्कमोससारक्खणेसु तह चेव छव्विहारम्भे।

रुद्धं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण।।”¹

दूसरे के द्रव्य लेने का अभिप्राय, झूठ बोलने में आनन्द मानना, दूसरे के मारने का अभिप्राय, छह काय के जीवों की विराधना अथवा असि मसि आदि परिग्रह के आरम्भ व संग्रह करने में आनन्द मानना इनमें जो कषाय सहित मन को करना वह संक्षेप से रौद्र ध्यान कहा गया है।

“रुद्रः क्रूरराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रं।”²

रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है, इसका कर्म या इसमें होने वाला भाव रौद्र है।

1. जैनैन्द्रसिद्धान्त कोष-3, पृ. 407

2. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ. 262

जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है वह रुद्र अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है, ऐसे पुरुष में जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं।

“स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकं रौद्रध्यानम्।”

अर्थात् जिसे अपना ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक रौद्र ध्यान कहते हैं। रौद्र ध्यान भी बाह्य और आध्यात्मिक के भेद से दो प्रकार का है और वह रौद्रध्यान चार प्रकार का है।

तीव्र कषाय के उदय से हिंसा में आनन्द मानना पहला रौद्र ध्यान है। जिन पर दूसरों को श्रद्धान हो सके ऐसी अपनी बुद्धि के द्वारा कल्पना की हुई युक्तियों के द्वारा दूसरों को ठगने के लिये झूठ बोलने के संकल्प का बार-बार चिन्तन करना दूसरा मृषानन्द रौद्र ध्यान है। जबरदस्ती अथवा प्रमाद की प्रतीक्षापूर्वक दूसरे के धन को हड़प करने के संकल्प का बार-बार चिन्तन करना तीसरा रौद्रध्यान है। चेतन-अचेतनरूप अपने परिग्रह में यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार ममत्व रखकर, उसके अपहरण करने वाले का नाश करने, उसकी रक्षा करने के संकल्प का बार-बार चिन्तन करना, विषय संरक्षणानन्द नाम का चौथा रौद्र ध्यान है। इस तरह हिंसा में आनन्द मानना, मृषा में आनन्द मानना, चोरी में आनन्द मानना और विषयों की रक्षा करने में आनन्द मानने से जीवों के चार प्रकार का रौद्र ध्यान होता है। रौद्र ध्यानी का निरन्तर निर्दय स्वभाव होता है। निर्दय स्वभाव से क्रोध प्रज्वलित रहता है।

यह अप्रशस्त ध्यान जब जीवों में होता है तब तीन लोक की लक्ष्मी उत्पन्न करने वाले धर्मरूपी वृक्ष को क्षणार्द्ध में जला देता है। ये दोनों ध्यान निन्दनीय हैं। तीव्र दुःख ही इसका फल है, अतः त्याज्य है।

3. धर्म ध्यान

धर्म वस्तुतः वीतरागभावरूप है। राग में किञ्चित् भी धर्म नहीं अतः धर्म ध्यान के पहले आत्मा का ज्ञान एवं स्व-पर भेदविज्ञान अनिवार्य है।

ध्यान, ध्याता, ध्येय, ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय का ज्ञान आवश्यक है। वस्तुतः ध्यान किया नहीं जाता वह तो हो जाता है।

जिसप्रकार आर्त-रौद्र ध्यान कोई सोच-सोचकर नहीं करता स्वतः ही सोते-जागते उठते-बैठते होते ही रहते हैं; उसीतरह जैनदर्शन के सिद्धान्तों की श्रद्धा हो जाने से, स्व-परभेद विज्ञान हो जाने से, अनुप्रेक्षा आदि के चिन्तन द्वारा ज्ञान वैराग्य शक्ति प्रगट हो जाने से धर्म ध्यान भी स्वतः होने लगता है।

निश्चयतः धर्म ध्यान आत्मा की अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में साधक अपने ज्ञानोपयोग को इन्द्रियों के विषयों व मन के विकल्पों से, परपदार्थों से एवं अपनी मलिन पर्यायों पर से हटाकर अखण्ड अभेद, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप भगवान् आत्मा पर केन्द्रित करता है। अपने ज्ञानोपयोग को आत्मा पर स्थिर करता है।

वस्तु का स्वभाव अर्थात् छह द्रव्यों के स्वभाव को जानकर तथा इनमें स्व-पर भेद विज्ञान करके अपने आत्मा के स्वरूप में एकाग्रता करना ही निश्चय धर्म ध्यान है और जिनोपदिष्ट वस्तु स्वातन्त्र्य जैसे सिद्धान्तों का अभ्यास करना उनके आश्रय से एकाग्र होने का अभ्यास करना, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति द्वारा अपने चित्त को स्वरूप में एकाग्र करने का प्रयत्न करना व्यवहार धर्म ध्यान है।

यह धर्मध्यान सम्यग्दृष्टि के ही होता है - ऐसा नियम है। परमागम में धर्म ध्यान चार प्रकार का कहा गया है -

“आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयायधर्म्यम्”¹

अर्थात् आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय इनकी विचारना करने के लिये मन को एकाग्र करना धर्म ध्यान है।

इसमें पाँच अस्तिकाय तथा छह जीवास्तिकाय आदि के चिन्तन में जहाँ अपनी मति की गति न हो उसे सर्वज्ञ की आज्ञा मानकर चिन्तन

करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। शुभाशुभ भावों से मुक्त होने का चिन्तन करना अपायविचय है।

स्वतः या परकृत अपतित संकटकाल में उत्पन्न हुई आकुलता से बचने के लिये उस संकट को अपने ही कर्मोदय का फल मानकर साम्यभाव रखना विपाकविचय है। लोक के स्वरूप का विचार करना संस्थान विचय धर्मध्यान है। यह पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से चार तरह से किया जा सकता है। वस्तुतः लोग योगसाधना और प्राणायाम आदि क्रियाओं के तालमेल को ध्यान मानते हैं; पर वास्तव में योग साधना और प्राणायाम धार्मिक क्रियायें ही नहीं हैं।

4. शुक्ल ध्यान

सर्वोत्कृष्ट ध्यान तो शुक्ल ध्यान ही है। निश्चय धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की विषय वस्तु में स्थूल दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं हैं, मात्र आत्मलीनता में वृद्धि होती है। ध्यान, ध्याता व ध्येय के विकल्प से रहित स्वरूप विश्रांति ही निश्चय धर्मध्यान है तथा शुक्ल ध्यान में निर्विकल्प समाधि ही होती है।

“ ध्यान, ध्याता, ध्येय व ध्यान के फल आदि के विविध विकल्पों से विमुक्त अन्तर्मुखाकार समस्त इन्द्रियसमूह से अगोचर निरन्जन निजतत्त्व में अविचल स्थिति ही शुक्ल ध्यान है।”¹ रागादि विकल्प से रहित स्वसंवेदनज्ञान को आगमभाषा में शुक्लध्यान कहा गया है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है -

“ जहाँ गुण अति विशुद्ध होते हैं, जहाँ कर्मों का क्षय और उपशम होता है, जहाँ लेश्या भी शुक्ल होती है उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं। जो निष्क्रिय व इन्द्रियातीत है; ‘मैं ध्यान करूँ ’ इस प्रकार के ध्यान की धारणा से रहित है , जिसमें चित्त अन्तर्मुख है वह शुक्ल ध्यान है।”²

1. नियमसार तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा-123

2. ज्ञानार्णव, पृ. 333

यह शुक्लध्यान बैदूर्यमणि की शिखा के समान सुनिर्मल एवं निष्कम्प होता है। शुक्ल ध्यान मुनियों के ही होता है, गृहस्थों के ऐसी पात्रता ही नहीं होती है।

इसी तरह शुक्लध्यान को सर्वार्थसिद्धि में भी स्पष्ट किया गया है -

“शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्।”

अर्थात् जिसमें शुचि गुण का सम्बन्ध है वह शुक्ल ध्यान है जैसे मैल के हट जाने से वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है। उसी तरह निर्मल गुणयुक्त आत्मपरिणति भी शुक्ल है।

इस शुक्ल ध्यान की उत्तरोत्तर वृद्धिगत चार श्रेणियाँ हैं -

पृथकत्ववितर्कविचार, एकत्ववितर्कविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रियानिवर्ती।

इनमें दो शुक्ल ध्यान तो पूर्वो के ज्ञाता द्वादशांग के धारी मुनियों के होते हैं तथा शेष दो शुक्ल ध्यान केवली भगवान के होते हैं। इनमें प्रथम शुक्ल ध्यान तो मन-वचन-काय के तीनों योगों में होता है। दूसरा शुक्ल ध्यान किसी भी एक योग में ही होता है। तीसरा शुक्ल ध्यान केवल एक काय योग में ही होता है। चौथा शुक्ल ध्यान अयोगी के ही होता है।

इस तरह जहाँ केवल आत्मा का स्वसंवेदन हो वह आध्यात्मिक शुक्ल ध्यान है।

6.2.5. आत्मानुभव

आत्मानुभव सब धर्मों का सार है। आत्मानुभव ही जिनशासन है। इससे धर्म का आरम्भ होता है और धर्म की पूर्णता भी इसकी पूर्णता में है अर्थात् अनन्त आत्मलीनता की दशा ही धर्म की पूर्णता है। इसके परे धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। आत्मानुभव ही आत्मधर्म है।

सम्यग्दर्शन होते समय आत्मा की अनुभूति होती है। वह सम्यग्दर्शन का मुख्य चिह्न है।

“आत्मानुभव के बिना समस्त प्रयत्न निरर्थक हैं। स्वानुभूति से ही सब सनाथ हैं। आत्मानुभव को आत्मानुभूति, स्वानुभूति, अनुभव, स्वानुभव आदि नामों से जाना जाता है। आत्मानुभव अपने आत्मा का ही होता है। अन्य आत्मा का नहीं क्योंकि अनुभूति ही मोक्षमार्ग है।”¹ ज्ञानी जीवों ने आत्मानुभव की विचित्र महिमा बताई है-

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।

अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्ष स्वरूप।²

आत्मानुभव की ऐसी महिमा है कि जीव दो घड़ी में ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है, क्योंकि जिनके हृदय में अनुभव चिन्तामणि प्रकाशित हो रहा है वह आत्मा चतुर्गतिरूप आवास को जलाकर पवित्र शिवपद को प्राप्त कर सकता है।

“अधिक क्या कहें! जिनके हृदय में अनुभवरूपी चिन्तामणि है उसकी दृष्टि में राग-द्वेष रूप विकार, परिग्रह का भार और आगामी दो चार भवों की कोई गिनती नहीं है। कोई कीमत नहीं है।”³

जैन शास्त्रों में आत्मानुभव का वर्णन इसप्रकार किया है-

णियतच्चवुव लब्धि विणा, सम्मत्तुवलब्धिणत्थि णियमेण।

सम्मत्तुव लब्धि विणा, णिव्वाणं णत्थि जिणुदिट्ठम्॥

अर्थात् निज तत्त्वोपलब्धि के बिना सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती और सम्यक्त्व की उपलब्धि के बिना मोक्ष नहीं होता।

एकमात्र परमार्थ स्वरूप आत्मा का अनुभव करो क्योंकि निजरस के

1. पंचाध्यायी, श्लोक 415

2. समयसार नाटक, छन्द 18

3. समयसार अनुशीलन भाग-3, पृ. 220

प्रसार से परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी शुद्धात्मा से बढ़कर दुनिया में और कुछ नहीं है। एकमात्र निज शुद्धात्मा का अनुभव करना ही सार है।

“ आत्म-अनुभव के बिना सब शून्य है। ”¹

‘समयसार’ गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने आत्मानुभव के सम्बन्ध में लिखा है -

एदम्हि रदो णिच्चं, संतुष्टो होहि णिच्चमेदम्हि।

एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥

अर्थात् हे भव्य जीवो ! एकमात्र निजात्मा में ही लीन हो जाओ, हमेशा इसमें ही संतुष्ट रहो, इसमें ही तृप्त रहो, तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति अवश्य होगी।

आत्मानुभव को कानजी स्वामी अपने प्रवचनों में स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

“ भाई ! पहले निर्णय तो कर कि अन्तर में यदि कोई अनुभव करने लायक है तो यह एक आत्मा ही है। ऐसा निर्णय करके उसी में प्रीति कर ! उसी में संतुष्ट रह और उसी में तृप्ति को प्राप्त कर ! आत्मा में लीन, संतुष्ट व तृप्त जीवों को वचन से अगोचर सुख प्राप्त होगा, अतीन्द्रिय आनंद एवं शांति प्राप्त होगी। दूसरे शब्दों में कहें तो यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। ”²

“ सत्समागम से आत्मानुभव की पहिचान करके आत्मानुभव कर। आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है कि परीषह आने पर भी न डिगे और दो घड़ी स्वरूप में लीन हो तो पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करे। जीवन्मुक्त दशा हो-मोक्षदशा हो ? तब फिर मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना सुगम है। ”³

आत्मानुभव की महिमा ‘समयसार कलश’ में इसप्रकार बताई गई है-

1. द्रव्यदृष्टि प्रकाश, पृ. 39

2. प्रवचन रत्नाकर भाग-6, पृ. 258

3. सम्यग्दर्शन भाग-1, पृ. 101

अचिन्त्य शक्तिः स्वयमेव देव,
 श्चिन्मात्र चिन्तामणिरेष यस्मात्।
 सर्वार्थसिद्धात्मतया विद्यतेः,
 ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥144॥

अर्थात् यह ज्ञानी आत्मा स्वयं ही चिन्मात्र चिन्तामणि है और अचिन्त्य शक्ति वाला देव है, इसकारण इसके सर्वप्रयोजन स्वयं ही सिद्ध है। इसलिए अब इसे अन्य किसी पदार्थ के परिग्रह (संग्रह) से क्या प्रयोजन है ?

इसी कलश का भाव कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -
 “ भगवान् आत्मा अचिन्त्यशक्ति वाला देव है। अचिन्त्य शक्ति अर्थात् जिसके गुण, असीम शक्तियाँ और अनेक विशेषतायें हमारे सीमित चिन्तनके ही विषय न बन सकें, जिन्हें हम अपने विकल्पों की सीमा में समेट ही न पायें। जिनको ग्रहण कर पाने में हमारा क्षयोपशमज्ञान बौना साबित हो गया है - ऐसे भगवान् आत्मा शक्तियाँ वस्तुतः अचिन्त्य हैं, असीमित हैं।

गजब बात है भाई ! कहते हैं कि ज्ञानी को अन्य परिग्रह से तथा द्रव्य-गुण-पर्याय आदि के भेद के विचारों से अब क्या काम है ? जब उसे अन्तर में चैतन्य चिन्तामणि भगवान् आत्मा प्राप्त हो गया है।

अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा आत्म साक्षात्कार की स्थिति का नाम ही आत्मानुभव है। वर्तमान प्रगट ज्ञान को परलक्ष्य से हटाकर स्वतत्त्व में लगा देना ही आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है। आत्मानुभव प्राप्त करने की प्रक्रिया निरन्तर तत्त्वमन्थन की प्रक्रिया है। किन्तु तत्त्वमन्थनरूप विकल्पों से भी आत्मानुभव प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी विकल्प ऐसा नहीं जो आत्मानुभव को प्राप्त करा दे।

आत्मानुभव का महत्त्व बताते हुए कानजी स्वामी कहते हैं कि -

आत्मानुभव प्राप्त करने के लिये समस्त जगत पर से दृष्टि हटानी होगी। समस्त जगत से आशय है कि आत्मा से भिन्न शरीर, कर्म जड़ (अचेतन) द्रव्य तो ‘पर’ हैं ही अपने आत्मा को छोड़कर अन्य चेतन

पदार्थ भी 'पर' हैं। तथा आत्मा में प्रतिसमय उत्पन्न होने वाली विकारी-अविकारी पर्यायें भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकती। उनसे भी परे अखण्ड त्रिकाली चैतन्य ध्रुव आत्मतत्त्व हैं, वही एक मात्र दृष्टि का विषय है, जिसके आश्रय से आत्मानुभव प्रगट होता है जिसे कि धर्म कहा जाता है।

आत्मानुभव प्रगट करने के लिये चार बातें आवश्यक हैं -

1. सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ स्वरूप पहिचान कर उनकी दृढ़ श्रद्धा करना।

2. सात तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति करना

सात तत्त्व सम्बन्धी विपरीत मान्यता छोड़कर तत्त्वों का सही स्वरूप जानकर उनमें हेय, ज्ञेय, उपादेय तत्त्व की पहिचान और श्रद्धा करके उसपर बारम्बार विचार करके ये तत्त्व सचमुच में ऐसे ही हैं - ऐसा परीक्षा करके निर्णय करना ही प्रतीति करना है।

3. स्वपर भेदविज्ञान

मैं कौन हूँ ? पर कौन हैं ? इसे जानकर स्व को स्व जानना और मानना तथा पर को पर जानना एवं मानना सात तत्त्वों में स्वपर भेद विज्ञान करना।

4. आत्मानुभूति

स्व कौन है इस बात को जानने पर समझने पर बारम्बार अन्तर्मुख होकर 'स्व' की अनुभूति करने का अभ्यास करना यह आत्मानुभूति हमें करनी है। आत्मा का स्वरूप और उसका अनुभव किस विधि से किया जाता है इसका उपदेश अरहंत भगवन्तों ने दिया है उसके अनुसार अनेक जीवों ने आत्मानुभव किया है।

उपर्युक्त सम्बन्ध में कानजी स्वामी के कथन भी दृष्टव्य हैं -

"अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा सदा अन्तर में ही विराजमान है, निरन्तर अनुभव में आ रहा है, बस कमी तो इतनी ही है कि ऐसा

आत्मज्ञान उदित नहीं हो रहा है, कि यह जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हो रहा है वही मैं हूँ।¹¹

“आत्मानुभव करने के लिये मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक हूँ। ऐसा निर्णय करके ज्ञानानन्द स्वरूप के सन्मुख होने का अन्तर प्रयत्न करना चाहिये।¹²

“राग की वृत्ति पर की तरफ जाती है, उसका लक्ष्य छोड़कर स्वसन्मुख झुके तो अनुभूति हो।¹³

“ज्ञायक ज्ञायक ज्ञायक हूँ, ध्रुव हूँ, ऐसे अन्तर में संस्कार डाले तो आत्मलक्ष्य होकर अनुभव होगा ही।¹⁴

“निर्विकल्प आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभवदशा का माहात्म्य अचिन्त्य महिमावन्त है क्योंकि एक क्षणार्द्ध में अनन्तभव का नाश हो जाता है।¹⁵

“आत्मानुभव की महिमा कहकर आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसे ज्ञान स्वरूप आत्मा में समस्त लोक निमग्न हो जाओ ! यह ज्ञान समुद्र भगवान् आत्मा विभ्रमरूपी आड़ी चादर को दूर करके स्वयं सर्वांग प्रकट हुआ है।¹⁶

आत्मा को जानने में अनुभव ही प्रधान है। पदार्थ की सिद्धि आगम, युक्ति व अनुभव से होती है। आत्मानुभव के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिये शुद्धात्मा का अनुभव प्रगट करना चाहिये।

6.3. आत्मिक सुख (मोक्ष सुख) स्वरूप एवं उपाय

संसार के सभी जीवों को सच्चा सुख प्राप्त करना है। वह सच्चा सुख आत्मिक सुख है, मोक्ष सुख है। ऐसे आत्मिक सुख (मोक्ष सुख) का

1. समयसार अनुशीलन, पृ. 208-209

2. ज्ञानगोष्ठी (कानजी स्वामी), पृ. 91

3. आत्मधर्म (फरवरी 1980), पृ. 23

4. द्रव्यदृष्टिप्रकाश, भाग-1, पृ. 14

5. द्रव्यदृष्टिप्रकाश, भाग-3, पृ. 170

6. प्रवचन रत्नाकर, भाग-2, पृ. 147

स्वरूप क्या है? तथा इसे प्राप्त करने का उपाय क्या है ? इसका विश्लेषण आवश्यक है -

6.3.1. आत्मिक सुख का स्वरूप

सुख दो प्रकार का होता है - लौकिक व अलौकिक। लौकिक सुख विषयजनित होने से सर्वपरिचित है, पर अलौकिक सुख जिसे आत्मिक सुख कहा जाता है वह इन्द्रियातीत होने से विरागीजनों को ही होता है। उसके सामने लौकिक सुख दुःखरूप ही भासता है। मोक्ष में विकल्पात्मक ज्ञान व इन्द्रियों का अभाव हो जाने के कारण निर्विकल्प ज्ञान एवं वास्तविक (आत्मिक) सुख ही रहता है। आत्मिक सुख स्वाधीन है, सहज है, निराकुल है, समभावमय है, अपना ही स्वभाव है। जैसे इक्षु का स्वभाव मीठा है, नीम का स्वभाव कड़वा है, अमृत का स्वभाव मिष्ठ है वैसे अपनी आत्मा का स्वभाव सुख है।

यह आत्मिक सुख किसी जड़ पदार्थ में नहीं है, न यह दूसरे से किसी को मिल सकता है। यह सुख प्रत्येक की आत्मा में है, और आत्मा से ही प्रत्येक को बिना किसी वस्तु की सहायता के मिल सकता है। यह स्वाधीन है। प्रत्येक जीव इस आत्मिक सुख को भूला हुआ है और इन्द्रियों के विषयों में भटकता है और दुःखी होता है। आत्मिक सुख इन्द्रिय-सुख की अपेक्षा विशेष विशिष्टता सम्पन्न है। इसमें कर्म का बन्ध नहीं है, किन्तु कर्म की निर्जरा है। आत्मा का अनुभव करने से व आत्मा का ध्यान करने से वीतरागता के कारण आत्मिक सुख का आनन्द आता है।

जो आत्मा से सम्बन्धित हो वह आत्मिक सुख कहलाता है। आत्मिक आत्माधीन होने से पूर्ण आत्माश्रित है। जिस भव्यजीव ने आत्मा को जाना, उसे ही इस सुख की प्राप्ति होती है। इस आत्मिक सुख को मोक्षसुख भी कहा जाता है। आत्मिक सुख और मोक्षसुख में कोई भी अन्तर नहीं है। इस सम्बन्ध में अनेक सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक जैन ग्रन्थों के उद्धरण मिलते हैं -

“वह आत्मिक सुख योगीजन के ज्ञानगोचर है, परन्तु अनिर्वचनीय है। जिसके आस्वादन पर आनन्द उत्पन्न होता है।”¹¹

“वह आत्मिक सुख राग-द्वेषरूप उभयभाव (परिणाम) विनष्ट होने पर तथा योगशक्ति द्वारा अपने विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होने पर, योगी को परम आनन्द की प्राप्ति होती है।”¹²

“वह आत्मिक सुख कैसा है? तो वह स्वयं शुद्धात्मस्वरूप ही है। उससे अलग नहीं है। वह अतीन्द्रिय है, इन्द्रियजन्य नहीं है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है और वचन अगोचर है। वह स्व-संवेद्य स्वरूप है। स्वसंवेदन से ग्राह्य है, वह स्वयं मैं हूँ।”¹³

“समस्त कर्मों का बिल्कुल क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है, वह मोक्ष अनन्तसुख स्वरूप है।”¹⁴

“इसी आत्मस्वरूप में नित्य रत रहो, इसी में सन्तोष रख व इसी में तृप्त रह तो तुझे उत्तम सहज सुख की प्राप्ति होगा।”¹⁵

“केवली अरहन्त के इन्द्रियजनित ज्ञान तथा सुख नहीं है, किन्तु सहज अतीन्द्रियज्ञान है व सहज अतीन्द्रिय सुख है।”¹⁶

“सिद्धों के स्वरूप का वर्णन करते समय आचार्य नेमिचन्द्रदेव कथन करते हैं कि वे अनन्त सुखरूप अमृत के अनुभव करने वाले हैं अर्थात् आत्मिक सुख के भोक्ता हैं।”¹⁷

जैसा कि बृहद्द्रव्यसंग्रह में आचार्य ब्रह्मदेवसूरि ने 37वीं गाथा की टीका में लिखा है कि -

1. इष्टोपदेश, श्लोक 24
2. तत्त्वसार, श्लोक 58
3. समाधितन्त्र, श्लोक 24
4. आदिपुराण, श्लोक 116
5. समयसार, गाथा 219
6. प्रवचनसार, गाथा 20
7. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 68

“सांसारिक सुख तो स्त्री-सेवनादि पाँच इन्द्रियों के विषयों से ही उत्पन्न होता है, परन्तु पाँचों इन्द्रियों के व्यापार रहित, अव्याकुल चित्तवाले मनुष्यों को जो सुख होता है, वह अतीन्द्रिय सुख (मोक्षसुख) होता है। वह यहाँ भी देखा जाता है। पाँच इन्द्रियों और मन से उत्पन्न हुए विकल्पों के जालरहित है, निर्विकल्प समाधि में स्थित परम योगियों को रागादि का अभाव होने से जो स्व-संवेद्य आत्मसुख है, वह विशेषरूप से अतीन्द्रिय सुख है और जो भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मरहित आत्मा के सर्वप्रदेशों से आह्लादरूप ऐसे एक पारमार्थिक परमानन्द परिगत मुक्त जीवों को जो अतीन्द्रिय सुख है, वह अत्यन्त विशेषरूप से अतीन्द्रिय सुख जानना।”

“सर्वज्ञ भगवान को भाव इन्द्रिय नहीं है, इसलिये जड़ इन्द्रिय तथा द्रव्यमन विद्यमान होने पर भी उनके साथ केवली भगवान का थोड़ा भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। सर्वज्ञ भगवान सम्पूर्णरूप अतीन्द्रिय है। उनका शरीर और इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध ही टूट गया है। अतीन्द्रिय हुए हैं, इसीलिये देहगत सुख-दुःख केवली भगवान को नहीं होते।”

“मोक्षसुख और उसकी प्राप्ति के उपाय इस विषय-वस्तु में कहते हैं कि विशेषतः आत्मिक सुख के विषय में यह नियम है कि ‘जिसको स्वभाव की भावना है उसको पर की इच्छा की भावना नहीं होती और जिसको मोह उत्पन्न होता है उसको ही इच्छा होती है।’ जहाँ मोह नहीं वहाँ बाह्य सामग्री इच्छा का निमित्त कारण भी नहीं बनती। ‘सिद्धदशा में मोह नहीं है, ज्ञानदर्शन-वीर्य की अल्पता भी मिट गई है और बाह्य सामग्री भी दूर हो गई है। ऐसी सिद्धदशा होने पर आत्मा सादि अनन्त सर्वोत्कृष्ट, अनुपम, अखण्ड, आनन्द में विराजमान रहता है। अतः सिद्ध अवस्था में ही सच्चा सुख है।”

1. दिव्यध्वनिसार भाग-1, पृ. 158

2. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-1, पृ.326

“इन्द्रियों की अपेक्षा बिना आत्मा स्वयं ही पर्याय में पूर्ण ज्ञान और आनन्दरूप परिणमित होता है। सिद्ध भगवान की पर्याय पूर्णज्ञान और आनन्दरूप परिणति हो गई है। इस तरह आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्द ही है और स्वभाव तो सदा पर से निरपेक्ष ही होने से इन्द्रिय और निमित्त के बिना ही आत्मिक ज्ञान और आनन्द होता है अतः इसे इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं रहती। इस तरह आत्मा ज्ञान और आनन्द दशा को प्रगट करता है।”¹

“निराकुलता ही सुख का लक्षण है। सम्यग्दर्शन में अपने पूर्ण स्वभाव को जाने तो सम्पूर्ण सुख प्रगट अनुभव में आता है।”²

“आत्मा का जो निराकुल स्वभाव है, वही सुख है; आत्मा का पूर्ण अतीन्द्रिय सुख है उसका नाम मोक्ष और वही आत्मा का हित है। लोग बाह्य में जो सुख मानते हैं, वह सुख नहीं है। बाह्य पदार्थ की ओर वृत्ति वह तो आकुलता है, दुःख है। पाप राग में आकुलता है एवं पुण्य राग में भी आकुलता ही है, अतएव दुःख ही हैं, उसमें सुख नहीं है। पाप और पुण्य दोनों प्रकार की आकुलता से रहित जो सहज ज्ञान-आनन्दमय आत्मस्वभाव है उसमें एकाग्र होता है वह सुख है; ऐसे सुख की पूर्ण प्राप्ति वही मोक्ष है। उसको पहिचानकर उसके मार्ग पर लगना चाहिये।”³

6.3.2. आत्मिक सुख के साधन

जगत में चार आर्य सत्य माने जाते हैं। दुःख, दुःख के कारण, सुख, सुख के कारण। सर्वप्रथम जीव को संसार में दुःख है इसका निर्णय करने के बाद जो दुःख के कारण मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र हैं उनको जानना होगा। सुख क्या है, आत्म-आनन्द ही सुख है, सहज सुख आत्मा का स्वभाव है तथा इस सहज सुख का साधन एक आत्मध्यान है। इसको

1. दिव्यध्वनिसार भाग-1, गाथा 19
2. मोक्षमार्ग की किरणें-1, पृष्ठ 141
3. वीतराग-विज्ञान भाग-4, पृष्ठ 30

रत्नत्रय धर्म भी कहते हैं। इसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की एकता है और वही मोक्ष का कारण है -

“सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः”¹

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझना आवश्यक है।

6.3.2.1. सम्यग्दर्शन स्वरूप एवं वैशिष्ट्य

धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। सम्यग्दर्शन वास्तव में आत्मा का एक गुण है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव का यथार्थ श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यक् अर्थात् सच्चा, दर्शन अर्थात् श्रद्धान। सच्चे श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यग्दर्शन में दर्शन श्रद्धान के अर्थ में प्रयुक्त है और सम्यक् पद विपरीताभिनिवेश (उलटी मान्यता) के निषेध के लिये प्रयुक्त है। अतः विपरीताभिनिवेश रहित तत्त्वार्थों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

“तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्”²

वस्तु के भाव (स्वभाव) को तत्त्व कहते हैं और जीवादि तत्त्वों की सच्ची श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।

तत्त्व सात होते हैं -

“जीवाजीवास्त्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्”³

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन्हीं सात तत्त्वों को अर्थ भी कहते हैं। अतः इन्हें तत्त्वार्थ भी कहते हैं। तत्त्व शब्द भाववाची और अर्थ शब्द वस्तुवाची हैं इन सात तत्त्वों में पुण्य-पाप मिलाने से नौ पदार्थ भी कहे जाते हैं।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। सोमदेव ने इस परिभाषा को और

1. तत्त्वार्थसूत्र, पृ. 1/1

2. वही, पृ. 1/2

3. वही, पृ. 1/4

अधिक दार्शनिक बना दिया है। उन्होंने कहा है कि अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर आस (देव), शास्त्र, और पदार्थों का तीन मूढ़ता रहित और आठ अंग सहित जो श्रद्धा होना है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में भी कहा है -

“ भाव बन्ध और भाव मोक्ष की पर्याय के भेद से रहित जो त्रिकाली शुद्ध अनन्त विज्ञानघन स्वरूप निज परमात्मरूप द्रव्य है उसका निर्विकल्प अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है।”¹

कानजी स्वामी के सर्व उपदेश का मुख्य वजन ‘सम्यग्दर्शन’ के ऊपर है। कानजी स्वामी ने कहा है कि - सम्यग्दर्शन अलौकिक और अपूर्व वस्तु है। सिद्ध भगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद सम्यग्दृष्टि ने अपनी आत्मा में चख लिया है। एक सैकेण्ड के सम्यग्दर्शन में अनन्तभव का नाश कर देने की ताकत है। सम्यग्दर्शन होते ही जीव निःशंक हो जाता है कि अब मेरे अनन्त भव का अभाव हो गया। अब मैं साधक हो गया, अल्पकाल में ही मेरी मुक्ति होगी। समकिती को अपने आप निर्णय होता है। दूसरे को पूछना नहीं पड़ता है। जीव ने संसार परिभ्रमण में शुभरागरूप व्रत-तप-त्याग अनन्त बार किये हैं लेकिन सम्यग्दर्शन कभी प्रगट नहीं किया और सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र भी मिथ्या ही होता है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या ही होता है, इसलिये सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है। ऐसा जानकर पहले सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करना चाहिये।”²

आगे भी सम्यग्दर्शन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं कि- “ आत्मा का स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है। उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। भेद के विचार में अटक जाना सम्यग्दर्शन का स्वरूप नहीं है।”³

1. प्रवचन रत्नाकर भाग-5, पृ. 360

2. शासन प्रभाव, पृ. 21

3. सम्यग्दर्शन भाग-1, पृ. 242

सम्यग्दर्शन अपने आत्मा के श्रद्धा गुण की निर्विकारी पर्याय है। अखण्ड आत्मा के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन को किसी विकल्प का अवलम्बन नहीं है किन्तु निर्विकल्प स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्व सुख का कारण है।

सम्यग्दर्शन शुद्ध देव-गुरु-धर्म में श्रद्धा उत्पन्न करता है जो कोई जीव भेदविज्ञान समझता है उसे ही सम्यग्दर्शन होता है। जो पुद्गल से, परभावों से भिन्न शुद्धात्मा को जानता है उसको ही सम्यग्दर्शन होता है।

विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न स्थानों पर सम्यग्दर्शन की अनेक परिभाषायें लिखी हैं -

1. आचार्य कुन्दकुन्द 'समयसार' में लिखते हैं -

“भूदत्थेणाभिगदा, जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।

आसव संवर णिज्जर, बन्धो मोक्खो य सम्मत्तं।।”¹

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नव तत्त्वों को भूतार्थ नय से जानना सम्यक्त्व है।

2. आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं -

‘श्रद्धानं परमार्थानां, आसागम तपोभृतां।

त्रिमूढापोढमष्टांगं, सम्यग्दर्शनमस्मयं।।”²

सच्चे देव-शास्त्र एवं गुरु का मूढता रहित निःशंकित आदि अष्ट अंग सहित, अष्ट मद रहित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

“आत्मा का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।”

“परद्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा की रुचि करना ही सम्यग्दर्शन है।”

उक्त सभी परिभाषायें शाब्दिक पुष्टि से अलग-अलग प्रतीत होती

1. समयसार, गाथा-13

2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 4

हैं, किन्तु गहराई से विचार करने पर सभी का एक ही अभिप्राय है। ये विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अनुयोगों की कथन-पद्धति एवं प्रकरण के अनुसार कही गई है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए जीवादि सप्त या नवपदार्थों और देव-शास्त्र-गुरु के सच्चे ज्ञान एवं श्रद्धान की आवश्यकता है, साथ ही स्व-पर भेदविज्ञानपूर्वक आत्मानुभूति भी अत्यन्त आवश्यक है। सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षण उन्हीं में से एक को मुख्य व अन्यो को गौण करके बनाये गये हैं। प्रत्येक लक्षण में यद्यपि किसी एक को मुख्यरूप से लिया गया है। प्रत्येक लक्षण में यद्यपि किसी एक को मुख्यरूप से लिया गया है तथापि उसमें गौरूप से अन्य सभी आ जाते हैं। मोक्षतत्त्व को प्राप्त आत्मा ही देव और गुरु की वाणी शास्त्र है। अतः सप्त तत्त्वों का सही स्वरूप जानने पर देव-शास्त्र-गुरु का ज्ञान हो जाता है। उसीप्रकार सप्त तत्त्वों में आत्मतत्त्व आ ही जाता है। अतः स्व-पर भेदविज्ञान और आत्मानुभूति भी गर्भित हो जाते हैं।

‘दंसणमूलो धम्मो’ दर्शन धर्म का मूल है। इसी से ज्ञान, चारित्र का सम्यक् विकास होकर मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। जो इससे भ्रष्ट ही हैं, उनको मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं -

“विद्यावृतस्य सम्भूति, स्थिति-वृद्धिर्फलोदयाः।

न सन्त्यसति सम्यक्त्वो बीजाभावे तरोरिव॥”

जिसप्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम संभव नहीं है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम (मोक्ष) होना संभव नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञान का मुख्य हेतु सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान कुज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है, सम्यग्दर्शन के बिना सर्वसाधन मिथ्या है।

सम्यग्दर्शन होने पर स्वरस का अपूर्व आनन्द अनुभव में आता है।

आत्मिक आनन्द का उफान आता है। अन्तर में आत्मशान्ति का वेदन होता है। आत्मा का सुख अन्तर में है वह प्रगट अनुभव में आता है। यह अपूर्व सुख का मार्ग सम्यग्दर्शन ही है। आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शन स्वरूप है।

सम्यग्दर्शन होते ही जगत की सर्वोत्कृष्ट निधि प्राप्त हो गई। त्रिभुवन का सबसे श्रेष्ठ निधान सम्यग्दर्शन में बसता है अर्थात् सम्यग्दर्शन स्वयं ही जगत में सच्चा भण्डार है और सम्यग्दर्शन ऊर्ध्वगामी स्वभाववाला है। सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव ऊँची-ऊँची दशा पाता है और उसकी शुद्धता बढ़ती जाती है। इस तरह सम्यग्दर्शन का स्वभाव उन्नतिशील है।¹¹

सम्यक्त्वहीन जीव यदि पुण्य सहित भी हो तो ज्ञानीजन उसे पापी कहते हैं क्योंकि पुण्य-पाप रहित स्वरूप की प्रतीति न होने से पुण्य के फल की मिठास में पुण्य का व्यय करके स्वरूप की प्रतीति रहित होने से पाप में जायेगा।

सम्यक्त्वसहित नरकवास भी भला है और सम्यक्त्वहीन होकर देवलोक का निवास भी शोभास्पद नहीं होता।

जिस स्वरूप को समझे बिना अर्थात् आत्म-प्रतीति के बिना यानि सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये बिना अनादिकाल से केवल अनन्त दुःख ही भोगा है। उस अनन्त दुःख से युक्त होने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन है दूसरा नहीं।¹²

6.3.2.2. सम्यग्ज्ञान स्वरूप एवं वैशिष्ट्य

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की आधारशिला है। जैसे दर्शन गुण आत्मा का स्वभाव है वैसे ज्ञानगुण भी आत्मा का स्वभाव है। सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। निश्चय से ज्ञान स्वयं सम्यक् है क्योंकि ज्ञान

1. अध्यात्म सन्देश, पृ. 18

2. सम्यग्दर्शन भाग-1, पृ. 02

एक विशेष गुण है जो पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन पाँचों द्रव्यों में नहीं पाया जाता है। किन्तु आत्मा में पाया जाता है। ज्ञान का स्वभाव सूर्य के प्रकाश के तुल्य है। जैसे सूर्य एक ही क्षण में जगत के पदार्थों को प्रकाश करता है वैसे ज्ञान भी सर्व ही जानने योग्य को एक ही काल में प्रकाश करता है। “सर्वं ज्ञेयं जानाति तत्ज्ञानम्” अर्थात् जो सब ज्ञेयों को जाने वह ज्ञान है। क्रमरहित सर्व को जान लेना यह ज्ञान गुण का स्वभाव है इसलिये इस ज्ञान को अनुपम, अद्भुत व महान कहा है। ज्ञान का काम मात्र जानना है, मात्र प्रकाश करना है। जैसा द्रव्य गुण पर्याय है वैसा ही जानना है, न कम जानना है, न अधिक जानना है, और न ही विपरीत जानना है। वस्तुओं को यथारीति जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है।

आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि -

“अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं विना च विपरीतात्।

निःसन्देह वेद, यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥”¹

जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता रहित, अधिकता रहित विपरीतता रहित जैसा का तैसा सन्देहरहित जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

निष्कर्षरूप से कह सकते हैं कि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय तीन दोषों से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। इसे मनुष्यों का तृतीय नेत्र कहा गया है। हेयोपादेय का विवेक कराना इसका मूल कार्य है।²

“जीव के परम सुख का कारण सम्यग्ज्ञान है। कानजी स्वामी ने सम्यग्ज्ञान का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया है कि - “जो स्व के आश्रय से हो वह सम्यग्ज्ञान है।”³

“जगत में जीव को सम्यग्ज्ञान के समान सुख का कारण अन्य कोई नहीं है, अन्तर में चैतन्य परिणमन ही जीव के सर्वत्र सुख का कारण है।

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 42

2. द्रव्यसंग्रह, गाथा 42

3. प्रवचन रत्नाकर भाग-1, पृ. 09

जन्म-जरा-मरण के रोग का निवारण करने के लिये यह सम्यग्ज्ञान परम अमृत है।¹¹

“अहा! मोक्षमार्ग के साधने में जो ज्ञान काम में आवे इसमें विपरीतता न हो वही सम्यग्ज्ञान है। इसके विपरीत मिथ्या ज्ञान है।¹²

“सम्यग्ज्ञान ही सुख का कारण है – ऐसा जानकर इस सम्यग्ज्ञान के लिये जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुये तत्त्व का अभ्यास करो और संशय, विभ्रम, मोह छोड़ आत्मा का स्वरूप पहिचान लो।¹³

सम्यग्दर्शनपूर्वक जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है, ज्ञान आत्मा का विशेष गुण हैं। जैसा कि ‘तत्त्वार्थसूत्र’ में कहा है कि –

“मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्”

सामान्यरूप से ज्ञान पाँच प्रकार के होते हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान। सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुत, अवधि को सुमति, सुश्रुत, सुअवधि कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि के तीनों ज्ञानों को कुमति, कुश्रुत, कुअवधि कहा जाता है। मनःपर्यय एवं केवलज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही होते हैं। इसप्रकार ज्ञान सामान्य के आठ भेद माने जाते हैं जिसमें पाँच प्रकार का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और वही प्रमाण है। तथा शेष तीन प्रकार का ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान होता है उसके दो भेद हैं – एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान में प्रारम्भ के दो ज्ञान परोक्ष ज्ञान है क्योंकि ये इन्द्रिय और मन के द्वारा उत्पन्न होते हैं तथा अवधि और मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं। ये इन्द्रिय मन की सहायता बिना होते हैं तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

1. वीतराग-विज्ञान भाग-4, पृ. 53

2. अध्यात्म सन्देश, पृ. 33

3. वीतराग-विज्ञान भाग-4, पृ. 64

मतिज्ञान - पाँचों इन्द्रिय और मन के द्वारा शक्ति अनुसार जो ज्ञान होता है, मतिज्ञान है।

श्रुतज्ञान - मतिज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थों का विशेष ज्ञान करना श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञान - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा सहित रूपी पदार्थों के स्पष्ट ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञान - इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे पुरुष के मन में स्थित रूपी पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान - 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जो एक साथ एक समय में निर्बाधरूप से जानता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

ये पाँचों ज्ञान के अवान्तर भेद हैं। इसी ज्ञान के आधार पर जैनदर्शन के सभी सिद्धान्त टिके हुए हैं। ज्ञान की प्रामाणिकता होने से सिद्धान्तों की प्रामाणिकता स्वयमेव हो जाती है। मोक्षमार्ग का द्वितीय सोपान सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। दोनों एकसाथ होने पर भी दीपक और प्रकाश की तरह उनमें भी कारण-कार्यपना कहा गया है।

6.3.2.3. सम्यक्चारित्र स्वरूप एवं वैशिष्ट्य

सम्यक्चारित्र का मोक्षमार्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिसके अभाव में तीर्थंकर भी सिद्ध नहीं हो सकते और इसी के अभाव में समस्त संसारी जीव अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहे हैं, जन्म-मरण के दुःख उठा रहे हैं वह चारित्र ही साक्षात् धर्म है -

“चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्धिद्वो।

मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हुसमो।।”⁸⁴

मोह-राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है और वही चारित्र है। उक्त चारित्र की प्राप्ति आत्मस्वरूप में लीनता, स्थिरता और रमणता से होती है। वस्तुतः आत्मस्वरूप में रमण करना ही चारित्र है। वस्तु का स्वभाव होने से वही धर्म है।

इसे समता, माध्यस्थता, शुद्धोपयोग, वीतरागता चारित्रधर्म और स्वभाव की आराधना आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

चारित्र का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि -

“अपने आत्म-स्वरूप में स्थिरता प्राप्त करना, राग-द्वेष, मोह के विकल्पों से रहित हो जाना निश्चय सम्यग्चारित्र है।”

जैसे एक मनुष्य को श्रद्धा व ज्ञान है कि यह मोती की माला है, पहनने योग्य है, पहनने से शोभा होगी परन्तु जब तक यह इसको पहनेगा नहीं तब तक उसकी शोभा नहीं हो सकती। बिना पहने हुए श्रद्धा व्यर्थ है। उसी तरह आत्मा का यथार्थ ज्ञान व यथार्थ श्रद्धा होते हुए भी जितने अंशों में स्वरूप में एकाग्रता, तन्मयता होगी वही निश्चय सम्यक्चारित्र है। यह स्वानुभव की प्राप्ति की सीढ़ी है।

कानजीस्वामी ने अपने प्रवचनों में चारित्र को ही मोक्ष का कारण बताया है -

“आठ कषाय के अभावरूप एकदेश वीतराग चारित्र सम्यग्दृष्टि के ही होता है बाद में बारह कषाय के अभाव वाला सकल चारित्र तो निर्ग्रन्थ दिग्म्बर मुनि के ही होता है। ऐसा वीतराग चारित्र ही मोक्ष का कारण है।”

अध्यात्म-वैभव में भी चारित्र का स्वरूप स्पष्ट किया है -

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति है उसका भान होकर इसमें विशेष-विशेष लीनता रमणता होने पर जो प्रचुर आनन्द का वेदन होता है वह चारित्रदशा है। प्रथम जिसे सम्यग्दर्शन हो उसे विशेष स्थिरता होती है वही चारित्र है।

“न हि सम्यक् व्यपदेशं चारित्रमज्ञान पूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥”

अज्ञानपूर्वक धारण किया गया चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं कहा जा सकता अतः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बाद चारित्र की आराधना को कहा गया है। चारित्र के पूर्व सम्यक् शब्द का प्रयोग अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के लिये है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित चारित्र कुछ भी कार्यकारी नहीं होता, बल्कि जिसप्रकार अन्धे पुरुष का दौड़ना उसके पतन का कारण होता है उसी प्रकार अज्ञानपूर्वक किया गया चारित्र उसके पतन का कारण बनता है।

सम्यग्दर्शन से जब आत्मा का सच्चा स्वरूप श्रद्धा में, प्रतीति में, रुचि में जम जाता है, सम्यग्ज्ञान से जब आत्मा का स्वरूप संशयादि रहित परमात्मा के समान ज्ञाता-दृष्टा आनन्दमय जाना जाता है तब सम्यग्चारित्र से इसी श्रद्धा व ज्ञान सहित शुद्ध आत्मीक भाव में रमण किया जाता है, परिणमन किया जाता, तिष्ठ जाता है – यही सम्यक्चारित्र है। इसलिये चारित्र की बड़ी आवश्यकता है। किसी को मात्र श्रद्धा व ज्ञान करके ही सन्तोषित न हो जाना चाहिये किन्तु चारित्र का अभ्यास करना चाहिये। बिना चारित्र के श्रद्धान व ज्ञान अपने अभीष्टफल को नहीं दे सकते।

इसलिये सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व की उपासना करनी चाहिये, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं। चारित्र दो प्रकार का होता है – सकल चारित्र और देश चारित्र।

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इनसे पूर्ण विरक्ति का नाम सकल चारित्र और अंशतः विरक्ति होना देशचारित्र है। चारित्रपाहुड़ में आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र की चर्चा सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र इन दो रूपों में की है और सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट संयम का आचरण करने वालों को मुक्ति का अभाव बतलाया है।

संयमाचरण चारित्र के दो भेद किये हैं - सागार और अनगार। गृहस्थों के सागार और मुनियों के अनगार चारित्र होता है।

हिंसादि पाँच पापों के त्याग रूप होने से चारित्र प्रगट होता है। श्रावक अणुव्रत पालन करता है। मुनिराज महाव्रत पालन करते हैं। वो वीतरागी सकलचारित्र को पालते हैं तथा श्रावक सराग देशचारित्र का पालन करता है। वास्तव में आत्मकल्याण के लिये तो वीतराग चारित्र ही एक कार्यकारी है। क्योंकि इसी से आत्मशुद्धि होती है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान वहीं होते हैं, जहाँ सम्यक्चारित्र होता है। जब स्वानुभव में एकाग्रता होती है वहीं दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की एकता है। वही मोक्षमार्ग है। वही कर्मों के संवर करने का उपाय है। वहीं ध्यान की अग्नि है जो पूर्वबद्ध कर्मों को दग्ध करती है। अग्नि की ज्वाला जलती हुई किसी चूल्हे में एक साथ दाहक, पाचक, प्रकाशक का काम कर रही है वैसे स्वानुभव की ज्वाला जलती हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी परिणमन करती हुई अपना काम कर रही है।

अतः जो जीवात्मा संसार के अनन्त दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना चाहता है, उसे मोक्षमार्ग के तीनों रत्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करना चाहिये। सम्यक्चारित्र होने पर दर्शनमोह विगलित हो जाता है और केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञत्व प्रगट हो जाता है।

6.4. निष्कर्ष

कानजी स्वामी के समग्र प्रवचन साहित्य का आध्यात्मिक मूल्यांकन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि कानजी स्वामी ने अपना सम्पूर्ण जीवन जैन अध्यात्म को समझने-समझाने एवं जीवन में उतारने में ही लगाया है।

अध्यात्म के प्रमुख विषय आत्मा के स्वरूप को उन्होंने भलीभाँति निरूपित किया और उनका प्रत्येक प्रवचन आत्म-स्वरूप का विवेचक व

आत्मोपलब्धि की प्रेरणा हेतु समर्पित रहा है। आत्मोपलब्धि के उपाय के रूप में भेदविज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा कि जितने भी जीव आज तक सिद्ध हुये हैं, वह भेदज्ञान से ही हुये हैं। भेदज्ञान के अभाव में ही संसार के दुःख प्राप्त कर रहे हैं। भेदविज्ञान हेतु जीवन में स्वाध्याय की अत्यन्त आवश्यकता कानजी स्वामी ने प्रतिपादित की। स्वाध्यायपूर्वक तत्त्वविचार करने से ही भेदविज्ञान प्रगट होता है और भेदविज्ञान पूर्वक ही आत्मानुभव सम्भव है।

सम्पूर्ण दुःखों और कर्मों से छूटने का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप मोक्षमार्ग है। जिनका निरूपण दो प्रकार से किया जाता है - निश्चय और व्यवहार। आत्मा का श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन, आत्मा का ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान, आत्मलीनता निश्चय सम्यग्चारित्र्य है। देव-शास्त्र-गुरु व सप्त तत्त्व का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन, सप्त तत्त्व, जिनवाणी का ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान है एवं अणुव्रत-महाव्रतरूप श्रावक व मुनि का आचरण व्यवहार सम्यक्चारित्र्य है। इन सभी विषयों का कानजी स्वामी ने स्पष्ट व विशद विवेचन अपने प्रवचनों में किया, जिससे उक्त विषय आत्मारथीजनों को अत्यन्त सुलभ हो गये। 20वीं शताब्दी में जैन अध्यात्म का इतना विशद व विस्तृत विवेचन अन्य किसी वक्ता ने नहीं किया, इसलिये कानजी स्वामी अध्यात्म-युगसृष्टा, आध्यात्मिक सत्पुरुष आदि विशेषणों से सम्मानित किये गये थे।



प्रवचन साहित्य की भाषा-शैली

7.1. भाषा

तत्कालीन सामाजिक संस्कृतियों और राजनैतिक परिस्थितियों का भाषा और साहित्य पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। अतः भाषा और साहित्य देश-काल-वातावरण के अनुसार बदलते रहते हैं। सजीव भाषा वही होती है जो निरन्तर परिवर्तनशील होते हुए अपने में परिष्करण करती है।

भारोपीय भाषा की समृद्ध आर्यभाषा हिन्दी भी कई परिस्थितियों एवं कारणों से परिवर्तनशीलता एवं निरन्तर विकास को प्राप्त होती रही है। यह हिन्दी प्रान्तों में बोली जाने वाली कई बोलियों का एक विकसित संकुल विशेष है। हिन्दी भाषा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसकी पाँच उप भाषायें हैं - पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी हिन्दी, पहाड़ी और बिहारी।

पुनः प्रत्येक उपभाषा की भिन्न-भिन्न बोलियाँ हैं। जिनमें आठ बोलियाँ मुख्य हैं - ब्रज, खड़ी बोली, बुन्देली, हरियाणवी, कन्नौजी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी। प्रचुर मात्रा में प्राप्त होने वाला हिन्दी साहित्य खड़ी बोली में है।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से कानजी स्वामी के प्रवचन का अध्ययन करें तो उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा सहज, सरल एवं बोधगम्य है। चूँकि कानजी स्वामी का उद्देश्य पाण्डित्य प्रदर्शन न होकर जन सामान्य को उनकी भाषा में सरलरीत्या तत्त्व और दर्शन को समझाना था। जिससे वे स्वपर कल्याण में उद्यमरत हों, अतः वास्तविक रूप से उनके साहित्य की भाषा भी उद्देश्यानुकूल, कृत्रिमता विहीन, भावानुकूल, विषय प्रसंगानुकूल एवं प्रसाद गुण से युक्त है। उनकी यह निश्चित अवधारणा थी कि तत्कालीन समाज में प्रचलित बोलचाल की भाषा के माध्यम से दुरूह विषय को भी बोधगम्य बनाकर प्रस्तुत करने से ही भावों का साधारणीकरण होगा।

जिससे पाठक सजग हो सकेगा। इसी विचार से गुजराती के साथ-साथ हिन्दी के प्रचलित एवं लोक व्यवहार के शब्दों का प्रयोग अपने प्रवचन साहित्य में प्रसंग तथा औचित्य का पूर्ण ध्यान रखते हुए करते थे। उनकी शब्द योजना विषयानुकूल है। उनके प्रवचन की भाषा अति सुबोध, सरल, मधुर होती थी जो कि सम्पूर्ण भारत के अनेक प्रान्तों में लोकप्रिय रही और आज भी है, इसलिये अनेक विद्वानों ने भी उनका अनुकरण किया है। उनकी भाषा में आंचलिक शब्दों का प्रयोग भी है, जो भाव प्रवणता में साधक सिद्ध हुआ है। उनकी भाषा करुणा-प्रधान और चिन्ताभिव्यक्ति में भावात्मकता को लिये हुए है। शब्द-शक्ति की दृष्टि से इनके सम्पूर्ण प्रवचन साहित्य की भाषा में अभिधा का प्राचुर्य है। कहीं-कहीं पर लाक्षणिकता भी दृष्टिगोचर होती है। इनकी भाषा में विषय को अधिक सुगम बनाने के लिये मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग भी हुआ है। जिससे भाषा आकर्षक एवं सजीव बन पड़ी है।

7.1.1. भाषागत विशेषताएँ

कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य के आधार पर उनकी विशेषताओं पर ध्यान दिया जाता है। उनके प्रवचन में भाषागत विशेषताएँ पायी जाती हैं जो इस प्रकार हैं -

1. अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है।
2. उनके प्रवचनों की भाषा शास्त्र एवं ग्रन्थों से प्रमाणित कर प्रभावोत्पादक शैली में सरलतम रूप से प्रस्तुत है।
3. स्वाध्याय के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति करके समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति को यथार्थ दिशा मिली है।
4. समाज और सामाजिकों के हृदय को विकार रहित बनाकर अरस्तु के विरेचन सिद्धान्त के अति निकट है।

5. शुद्धात्म की महिमा जैसे आह्लादोत्पादक स्थलों में 'अहा..हा..!' शब्द का प्रयोग किया गया है।

6. उनके प्रवचनों में अज्ञान से दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा का झरना झरता है।

7. अनेक स्थलों पर दृष्टान्त देकर या कथापरक गुणों से युक्त रखकर जन सामान्य के लिये ग्राह्य बनाये गये हैं।

8. कानजी स्वामी की भाषा लोक संस्कृति एवं लोकाभिव्यक्ति से संपुष्ट है।

9. मूलतः विरक्तिमूलक एवं अध्यात्मवाद की अनुगूँजों से भरपूर है।

10. सम्बोधन एवं महिमापरक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

11. दोषों पर प्रहार बड़े शालीन ढंग से करते हैं ताकि प्रतिक्रिया न होकर दोषों को शमन करने का अवसर मिलता है।

12. वस्तुव्यवस्था एवं आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का भाववाही रोचक शैली में प्रतिपादन किया गया है।

13. आगम-अध्यात्म की सन्धिपूर्वक विवेचना की गई है।

7.1.1.1. शब्द-चयन

भाषा वैशिष्ट्य के अन्तर्गत शब्द चयन की प्रमुखता रहती है, जिसके आधार पर भाषा को परखा जाता है। इनके साहित्य की भाषा में शब्दों का चयन इस प्रकार किया गया है जिससे कहीं पर भी बोझिलता नहीं आई है एवं पाठक प्रसन्न चित्त होकर बोध को प्राप्त होता हुआ आगे बढ़ता जाता है। वाक्य-गठन कानजी स्वामी की अपनी पृथक् विशेषता है। वाक्य विन्यास में शब्द योजना के अन्तर्गत तत्सम और तद्भव शब्दों का समानुपातिक प्रयोग हुआ है। भावों का प्रगटीकरण अकृत्रिमरूपेण हो इसके लिये प्रचलित देशज, विदेशी, शब्दों का प्रयोग स्वतः हुआ है।

कानजी स्वामी की भाषा-विशेषता को स्पष्ट रीति से समझने के लिये

शब्द-चयन के तहत प्रयुक्त तत्सम, तद्धव, देशी, विदेशी, गुजराती (आंचलिक) आदि शब्दों के कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं -

1. तत्सम शब्द

तत्सम में दो शब्द हैं - तत् और सम अर्थात् वे शब्द जो संस्कृत शब्द के समान हैं जो शब्द हिन्दी में भी संस्कृत रूप के समान प्रयुक्त होते हैं। जैसे - उत्सव, कार्य, गमन, गृह आदि।

चूँकि कानजी स्वामी के प्रवचन के आधार ग्रन्थ संस्कृत टीकाबद्ध एवं श्लोकबद्ध थे, जिनके गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन वे अपनी सरल भाषा में करते थे, अतः संस्कृत शब्दों (तत्सम) का प्रयोग होना स्वाभाविक है। ये शब्द माला में पिरोये मोतियों की तरह यथोचित स्थान पर स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त होकर बहुतायत में शोभायमान हो रहे हैं। जैसे -

कषाय¹, कर्म², आचार्य³, उपाध्याय⁴, साधु⁵, ज्ञान⁶, मोक्ष⁷, पुण्य⁸, पाप⁹, जीव¹⁰, गुणस्थान¹¹, देव¹², शास्त्र¹³, गुरु¹⁴, पाषाण¹⁵, व्रत¹⁶, भ्रमर¹⁷, इत्यादि।

1. प्रवचन रत्नाकर-1, पृ. 165

2. प्रवचन रत्नाकर-3, पृ. 131

3. भेदविज्ञानसार, पृ. 18

4. प्रवचन रत्नाकर-3, पृ. 29

5. प्रवचन नवनीत-1, पृ. 353

6. प्रवचन रत्नाकर-8, पृ. 366

7. भेदविज्ञानसार, पृ. 18

8. कारणशुद्धपर्याय, पृ. 35

9. कारणशुद्धपर्याय, पृ. 35

10. परमार्थवचनिका, पृ. 68

11. परमार्थवचनिका, पृ. 94

12. मुक्ति का मार्ग, पृ. 12

13. मुक्ति का मार्ग, पृ. 12

14. मुक्ति का मार्ग, पृ. 12

15. श्रावकधर्म प्रकाश, पृ. 121

16. मुक्ति का मार्ग, पृ. 29

17. दिव्यध्वनिसार-2, पृ. 102

2. तद्भव

तद्भव शब्द दो शब्दों के मेल से बना है – तद् और भव। तद्भव वे शब्द हैं जिनका मूलरूप संस्कृत से हिन्दी तक की हजारों वर्षों की यात्रा में घिसपिटकर बदल गया है। यथा – उच्छ्व (उत्सव), काज (कार्य), घर (गृह) आदि।

कानजी स्वामी के प्रवचनों में तद्भव शब्दों का प्रयोग भी यथास्थान हुआ है। चूँकि इनके प्रवचनों का आधार साहित्य, अधिकांश प्राकृतगाथाबद्ध था, अतः तद्भव शब्दों की रचना प्रक्रिया प्राकृत से मिलती-जुलती है। जैसे–

कुम्भकार → कुम्हार¹, तृण → तिनका², मृत्तिका → मिट्टी³, वणिक् → बनिया⁴, पत्र → पत्रा⁵, अज्ञान → अजान⁶, वार्ता → बात⁷, कर्म → काम⁸, कर्ण → कान⁹, मास → माह¹⁰, आम्र → आम¹¹, मूर्ख → मूरख¹², शाक् → साग¹³, दंश → डंक¹⁴, ओष्ठ → ओठ¹⁵, मर्म → मरम¹⁶, स्वर्ण → सोना¹⁷ इत्यादि।

1. प्रवचनरत्नाकर-2, पृ. 49
2. प्रवचनरत्नाकर-2, पृ. 49
3. प्रवचनरत्नाकर-2, पृ. 175
4. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-1, पृ.258
5. प्रवचन रत्नाकर-1, पृ. 131
6. दिव्यध्वनिसार-2, पृ. 31
7. श्रावकधर्म प्रकाश, पृ.135
8. प्रवचन रत्नाकर-3, पृ. 131
9. श्रावकधर्म प्रकाश, पृ. 98
10. श्रावकधर्म प्रकाश, पृ. 130
11. नयप्रज्ञापन, पृ. 299
12. श्रावकधर्म प्रकाश, पृ. 149
13. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-1, पृ. 341
14. प्रवचन नवनीत-1, पृ. 319
15. समाधितन्त्र प्रवचन, पृ. 23
16. प्रवचन रत्नाकर-3, पृ. 131
17. प्रवचन रत्नाकर पीयूष, पृ. 63

3. देशज शब्द

जो शब्द न तो तत्सम रूप हैं और न ही तद्भव रूप और न ही विदेशी, किन्तु उनसे अलग देश (स्थान) विशेष में स्वतः गढ़ लिये गये हैं और जिनकी कोई व्युत्पत्ति नहीं होती वे देशज शब्द कहलाते हैं। सामान्य व्यवहार एवं बोलचाल की भाषा में इनका प्रयोग होता है। जैसे खचाखच, ऊटपटांग, हलचल आदि।

कानजी स्वामी जैनदर्शन के सिद्धान्तों एवं तत्त्वों के मर्म को लोक जीवन की भाषा द्वारा सरल बनाकर जनसामान्य के गले उतारना चाहते थे अतः देशी (स्थान विशेष) शब्दों का अथवा आंचलिक शब्दों का प्रयोग होना नैसर्गिक ही है। जैसे – लबालब¹, भरपूर², चरपराहट³, बनिया⁴, अरस परस⁵, फेरफार⁶, लैंडी पीपल⁷, चौंसठ पुटी⁸, उधेड बुन⁹, डकार¹⁰, घोंटी¹¹, झपट्टा¹², लकवा¹³, वारदाना¹⁴, धन्धा¹⁵ इत्यादि।

4. विदेशी शब्द

अंग्रेजी, फ्रांसीसी, तुर्की, पुर्तगाली, अरबी, फारसी आदि भाषाओं

1. अष्टपाहुड़ प्रवचन-1, पृ.148
2. अष्टपाहुड़ प्रवचन-1, पृ.148
3. अष्टपाहुड़ प्रवचन-1, पृ.148
4. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-1, पृ.258
5. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन-1, पृ.285
6. समाधितन्त्र प्रवचन, पृ. 43
7. समाधितन्त्र प्रवचन, पृ. 49
8. समाधितन्त्र प्रवचन, पृ. 49
9. समाधितन्त्र प्रवचन, पृ. 81
10. दिव्यध्वनिसार-2, पृ. 141
11. समाधितन्त्र प्रवचन, पृ. 389
12. दिव्यध्वनिसार-2, पृ. 44
13. दिव्यध्वनिसार-2, पृ. 168
14. वीतराग-विज्ञान, पृ.19
15. प्रवचनरत्नाकर पीयूष, पृ. 51

के हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को विदेशी शब्द कहते हैं। यथा – मकार, राहगीर।

कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में भी प्रचलित विदेशी शब्दों का प्रयोग स्वतः हो गया है। जैसे –

उर्दू शब्द

गजब¹, खबर², चीज³, अकेला⁴, बाजार⁵, जुदी⁶।

अरबी शब्द

सिवाय⁷, खान⁸, बाकी⁹, कबूल¹⁰, मतलब¹¹, जमे¹², औलाद¹³।

अंग्रेजी शब्द

डिग्री¹⁴, इन्च¹⁵, पोजीशन¹⁶, हार्ट फेल¹⁷, सैकण्ड¹⁸, बी.ए.¹⁹, मैट्रिक²⁰,

1. प्रवचनरत्नाकर पीयूष, पृ. 275
2. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृ. 324
3. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृ. 336
4. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृ. 135
5. श्रावकधर्म प्रकाश, पृ. 137
6. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 353
7. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 318
8. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 349
9. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृ. 122
10. मुक्ति का मार्ग, पृ. 12
11. प्रवचन रत्नाकर भाग-3, पृ. 131
12. प्रवचन रत्नाकर भाग-3, पृ. 123
13. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 355
14. समाधितन्त्र प्रवचन, पृ. 97
15. समाधितन्त्र प्रवचन, पृ. 102
16. समाधितन्त्र प्रवचन, पृ. 111
17. समाधितन्त्र प्रवचन, पृ. 126
18. दिव्यध्वनिसार भाग-2, पृ. 14
19. दिव्यध्वनिसार भाग-2, पृ. 48
20. दिव्यध्वनिसार भाग-2, पृ. 49

ब्लडप्रेसर¹, फोन², स्टेशन³, स्टेज⁴, ट्रेडमार्क⁵, ब्लेंटिंग पेपर⁶, नम्बर⁷, इन्जेक्शन⁸, जेल⁹, लौजिक¹⁰, डॉक्टर¹¹, इंजीनियर¹²।

5. गुजराती शब्द

गुजराती भाषा का सम्बन्ध गुजरात अर्थात् गुर्जर जाति से रहा है। यह गुजरात प्रान्त में बोली जाती है तथा इनकी अपनी लिपि गुजराती है। इनकी मुख्य बोलियाँ काठियावाड़ी, पट्टनी, सुरती आदि हैं।

कानजी स्वामी का मूल निवास स्थान गुजरात (सौराष्ट्र) प्रान्त रहा है। इनकी शिक्षा-दीक्षा भी यहीं सम्पन्न हुई। इनके प्रारंभिक व अधिकांश प्रवचन गुजराती भाषा में हुए हैं। अतः इनके प्रवचन साहित्य में भी गुजराती शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग सहज में हुआ है, जिससे भाषा में माधुर्य आ गया है। काठियावाड़ी गुजराती बोली के शब्दों का प्रयोग मुख्यतः हुआ है। जैसे - “**धूल मड़ धर्म नथी**।” वाक्य प्रयोग में ‘मड़’ तथा ‘नथी’ शब्द गुजराती हैं। तथा अन्य गुजराती शब्द जैसे -

नक्की¹³, पड़खा (पक्ष)¹⁴, रखड़ना¹⁵, राजी¹⁶, बापू¹⁷, बेन¹⁸।

1. दिव्यध्वनिसार भाग-2, पृ. 112
2. दिव्यध्वनिसार भाग-2, पृ. 120
3. दिव्यध्वनिसार भाग-2, पृ. 158
4. दिव्यध्वनिसार भाग-2, पृ. 166
5. नयप्रज्ञापन, पृ. 65
6. नयप्रज्ञापन, पृ. 239
7. नयप्रज्ञापन, पृ. 257
8. भेदविज्ञानसार, पृ. 16
9. मुक्ति का मार्ग, पृ. 12
10. प्रवचन रत्नाकर भाग-5, पृ. 121
11. प्रवचन रत्नाकर पीयूष, पृ. 274
12. प्रवचन रत्नाकर पीयूष, पृ. 274
13. समाधितन्त्र प्रवचन, पृ. 368
14. दिव्यध्वनिसार भाग-1, पृ. 327
15. अध्यात्म रत्नत्रय प्रवचन, पृ. 35
16. प्रवचन रत्नाकर भाग-3, पृ. 254
17. प्रवचन नवनीत-1, पृ. 157
18. वचनमृत प्रवचन-1, पृ. 183

7.1.1.2. मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग

मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग भाषा में रवानगी, ताजगी और अभिव्यक्ति में संक्षिप्तता एवं सशक्तता लाने के लिये किया जाता है। लोकोक्तियाँ एक भाषा-भाषियों की सांस्कृतिक विरासत होती हैं। लोकोक्तियाँ समाज का भाषाई इतिहास हैं, जो घटना विशेष एवं परिस्थिति विशेष से जन्म लेती हैं।

मुहावरे भाषा की लाक्षणिकता के धरोहर होते हैं। अपनी बात को वक्राभिव्यक्ति में कहने की इच्छा मुहावरों द्वारा पूर्ण होती है। मुहावरे वक्ता के भावों को चमक के साथ प्रस्तुत करते हैं। जिस वक्ता अथवा लेखक में मुहावरे की पकड़ जितनी पैनी होगी उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही सरस एवं चुटीली होगी।

कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में यथास्थान मुहावरों तथा लोकोक्तियों का कृत्रिमताविहीन प्रयोग कर भाषा को लाक्षणिकता, सजीवता एवं मधुरता प्रदान की है। इनके प्रयोग से भाव प्रकाशन में आत्मीयतापूर्ण मैत्रीभाव प्रगट हुआ है। मुहावरे एवं लोकोक्तियों का अभिप्राय गागर में सागर जैसा है। उनके साहित्य में उपलब्ध कुछ मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ इसप्रकार हैं -

● लोकोक्तियाँ

- दाने-दाने पर लिखा है खाने वाले का नाम।¹
- मोम के दाँत से लोहे के चने चबाना।²
- मैं चौड़ा और सड़क सकरी।³
- जैसी भावना-वैसा भवन।⁴

1. ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, पृ. 36

2. दिव्यध्वनिसार भाग-2, पृ. 84

3. प्रवचन रत्नाकर भाग-10, पृ. 222

4. कारणशुद्धपर्याय, पृ. 103

- एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती ।¹
- कांख में छोरा, गाँव में ढिंढोरा ।²
- हम खारी जमीन में बीज नहीं बोते ।³
- रणचढ़ा रजपूत छुपे नहीं ।⁴
- दाता छुपे नहीं घर आंगन आये ।⁵
- पूत सपूत तो क्यों धन संचय ।⁶
- अंक बिना शून्य ।⁷
- घर का छोकरा तो चक्की चाहे, पड़ोसी को भर-भर झोली आटा बाँटे ।⁸
- घर जलने पर कुँआ खोदना ।⁹
- सूझते के साथ अन्धे की होड़ करना ।¹⁰
- नीम को खाने वाली गिलहरी आम का स्वाद कैसे जानेगी ।¹¹
- हल्दी की गांठ रखकर पंसारी बन बैठे ।¹²
- खोजी पावे वादी मरे ।¹³

1. प्रवचन रत्नाकर पीयूष, पृ. 277

2. योगसार प्रवचन, पृ. 194

3. योगसार प्रवचन, पृ. 6

4. श्रावकधर्मप्रकाश, पृ. 104

5. श्रावकधर्मप्रकाश, पृ. 104

6. श्रावकधर्मप्रकाश, पृ. 96

7. अध्यात्म वैभव भाग-1, पृ. 212

8. प्रवचन रत्नाकर भाग-6, पृ. 84

9. योगसार प्रवचन, पृ. 119

10. मोक्षमार्गप्रकाशक भाग-3, पृ. 395

11. अध्यात्म सन्देश, पृ. 73

12. प्रवचन नवनीत भाग-1, पृ. 155

13. ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, पृ. 11

● मुहावरे

- रण में पीठ दिखाना ।¹
- छाती पीटना ।²
- आकाश का फूल ।³
- प्राण पखेरु उड़ना ।⁴
- रखड़-रखड़ कर मरना ।⁵
- चकनाचूर होना ।⁶
- मोटी भूल करना ।⁷
- मक्खन लगाना ।⁸
- पैरों तले रोंधना ।⁹
- ढिंढोरा पीटना ।¹⁰
- लोहे के चने चबाना ।¹¹
- मूल से ही उखाड़ना ।¹²
- बालु से तेल निकालना ।¹³

1. मोक्षमार्गप्रकाशक भाग-3, पृ. 406

2. अनुभवप्रकाश, पृ. 114

3. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 106

4. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 375

5. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 149

6. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 149

7. प्रवचन रत्नाकर भाग-8, पृ. 196

8. दिव्यध्वनिसार भाग-2, पृ. 154

9. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 39

10. योगसार प्रवचन, पृ. 40

11. योगसार प्रवचन, पृ. 198

12. प्रवचन रत्नाकर भाग-2, पृ. 145

13. योगसार प्रवचन, पृ. 73

- राख पर लीपना ¹
- कोल्हू में पिलना ²
- पसीना छूटना ³

7.2. शैली

वक्ता अथवा लेखक जिन ध्वनि-चिह्नों के माध्यम से स्वगत विचार व्यक्त करता है, वह भाषा है, किन्तु जिस तरीके एवं ढंग से विचार प्रगट किये जाते हैं वह तरीका, विधि, ढंग शैली कही जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति की विचाराभिव्यक्ति के तरीके एवं ढंग पृथक्-पृथक् हो सकते हैं, यह उसकी निजी विशेषता है। प्रसंग तथा विषय-निरूपण की भिन्नता से शैली में भी भिन्नता का होना स्वाभाविक है। स्थूल दृष्टि से किसी रचना का सम्पूर्ण कलापक्ष एवं भावपक्ष शैली में समाहित हो जाता है।

विविध गद्य-विधाओं के अनुरूप शैली वैविध्य का निर्माण होता है। फलस्वरूप उपन्यास, कहानी, जीवनी, संस्मरण, आत्मकथा, प्रवचन साहित्य, निबन्ध आदि की शैली भिन्न-भिन्न होती हैं। साहित्यकार पात्रों के चरित्रानुकूल भी शैली का निर्माण बुद्धिपूर्वक करता है। शैली निर्माण में तत्कालीन देश-काल-वातावरण का भी अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार साहित्यकार विधा, प्रसंग, विषय, पात्र एवं देश-काल, वातावरण के अनुसार अपने विचार व्यक्त करने के तरीके अथवा ढंग को भी बदलता रहता है। यही शैली विधान है। शैली के माध्यम से साहित्य की वस्तुस्थिति को समझना सुलभ होता है। जिस साहित्य की शैली जितनी प्रवाहमयी होती है पाठक को उतना ही अधिक आनन्द आता है।

1. योगसार प्रवचन, पृ. 26

2. योगसार प्रवचन, पृ. 34

3. प्रवचन नवनीत भाग-1, पृ.50

7.2.1. शैली की विशेषताएँ

कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में विषय-स्थापन एवं निरूपण विविधता के अनुसार अनेक शैलियों का प्रयोग हुआ है। कानजी स्वामी ने जितनी सरल रीति से तत्त्वज्ञान जन सामान्य तक पहुँच सके उसका यथाशक्ति प्रयास किया है। प्राचीन ग्रन्थों में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में शंका-समाधान एवं प्रश्नोत्तर शैली प्रायः पायी जाती है। जिसे कानजी स्वामी ने भी अपनाया है। अपने विषय का निर्बाधरूप से तथा स्पष्टता से विवेचन करने के लिये यह शैली आवश्यक है। इसमें प्रवचनकार अपने प्रतिपाद्य विषय के सन्दर्भ में चारों ओर आने वाली शंकाओं या प्रश्नों का समाधान करते हुए आगे बढ़ता जाता है और उससे विषय सम्बन्धी जिज्ञासा तीव्रता से बढ़ती रहती है। इसमें भी प्रचलित लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग कर कानजी स्वामी ने नवीनता और प्राचीनता का सुन्दर समन्वय किया है जो उनके प्रवचन साहित्य शैली की अनोखी विशेषता है। कानजी स्वामी ने तर्क शैली को कुछ विशेष प्रसंगों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है ताकि सत्यासत्य की सप्रमाण सही पहिचान हो सके।

7.2.2. शैली के विभिन्न रूप

कानजी स्वामी ने अपनी प्रवचन शैली में विषय को अत्यधिक स्पष्ट करने के लिये विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। जिनको यहाँ सोदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है -

1. अध्यात्म शैली

कानजी स्वामी के प्रवचनों का मूल उद्देश्य जो आत्मतत्त्व उन्होंने साक्षात्कृत किया था। उस अनुपम, अद्भुत, सुखाधार चैतन्य को समझाना था, क्योंकि उस आत्मतत्त्व से जन सामान्य चिर-परिचित नहीं था।

अतः उनके प्रवचन साहित्य में इस आत्म तत्त्व का विभिन्न दृष्टिकोणों एवं अपेक्षाओं से प्रतिपादन हुआ है। परिणामतः अध्यात्म शैली का प्रयोग स्वाभाविक है। इस शैली का प्रयोग कानजी स्वामी के प्रवचनों में

पद-पद पर सहज रीति से हुआ है। उदाहरण के तौर पर उनके निम्नांकित गद्यांश दृष्टव्य हैं, जिसमें आत्मा की महिमा का बखान बखूबी किया गया है -

● “अहा..आ..! यह आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु शाश्वत-वस्तु है। यह कोई नई वस्तु नहीं है, किसी ने बनाई नहीं है। अनादि से है और अनन्तकाल तक रहने वाली है। इसप्रकार यह अविनाशी है.....।”¹

● “अपने अनुभव से मैं आत्मा को जानता हूँ। जिसमें आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द रस का स्वाद आता है, ऐसे आनन्द के वेदन सहित मैं अपने आत्मा को प्रत्यक्ष जानता हूँ।”²

● “अहा चैतन्य का आनन्दनिधान जिसने देखा, उसे राग के फलस्वरूप बाह्य वैभव तो तृणतुल्य लगता है। किसी स्तुति में पद्मनन्दी कहते हैं कि - अहो नाथ ! दिव्यध्वनि द्वारा अपने आत्मा के अचिन्त्य निधान को स्पष्टरूप से बताया, तो अब इस जगत में ऐसा कौन है कि इस निधान के खातिर राजपाट के निधान को तृण समान समझ कर न त्यागे और न चैतन्यनिधान को साधे?”

● “अहा..हा..! एक पूरे शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करो। प्रभु ! भाषा देखो ! एक पूरे परिपूर्ण प्रभु शाश्वत टंकोत्कीर्ण, शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज ही अव्याकुलतापूर्वक नाचो। अहा..हा..! एक अखण्ड चैतन्य प्रभु का लक्ष्य करके प्राप्त करो। वह करने लायक है। अगर तू किसी चीज में आज एकाग्र होगा, तो आज ही अर्थात् उसी वक्त तुझे आनन्द आयेगा। प्रभु अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमित होओ। वह तेरा कार्य है। वह अपने परिणामों से उत्पन्न हुआ है। कुछ समझ में आयाऽऽ..।

● “अहो जिस आत्मा के स्वभाव को मैं प्रगट करना चाहता हूँ, वह अन्तर में स्वभाव में ही है। बहिर्मुख विकल्प वह मैं नहीं, तो फिर बाहर

1. प्रवचन रत्नाकर भाग-1, पृ. 368

2. प्रवचन रत्नाकर पीयूष, पृ. 144

की क्रिया की बात तो दूर रही। अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख मुख्य हैं और इन्द्रियज्ञान और सुख गौण हैं। पुण्य से लाभ होगा - ऐसी मान्यतावाले को अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं होता।''

2. प्रश्नोत्तर शैली

प्रश्नोत्तर शैली अर्थात् वक्ता या लेखक विषय के सहृदय के गले में उतारने के लिये स्वयं प्रश्न द्वारा जिज्ञासा उत्पन्न करके स्वयं ही रोचक उत्तर प्रस्तुत करता है। यह कानजी स्वामी की महत्वपूर्ण विशेषता रही है। इसके लिये निम्नांकित उदाहरण दृष्टव्य हैं -

● "प्रश्न - कोई कहे कि भगवान कहते हैं वह सत्य है - यदि ऐसा माने तो हमें समकित होगा या नहीं ?

उत्तर - नहीं, जिसको अपना पता नहीं है, उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता। सच्चे ज्ञान बिना प्रतीति सच्ची नहीं होती। सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान सम्यक् होता है। सम्यग्ज्ञान में जीवादि नव-तत्त्वों का पता पड़ता है। जीव ज्ञायक है, शरीरादि अजीव हैं। हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप हैं, दया-दानादि परिणाम पुण्य हैं। दोनों आस्रव हैं, स्वभाव में एकाग्रता से संवर, निर्जरा होती है और पूर्ण एकाग्रता से मोक्ष होता है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान से जीवादि पदार्थों का स्वरूप जानने से भले-बुरे मार्ग का विवेक होता है। इसप्रकार मार्ग जानने से सम्यग्दर्शन प्रधान है।''

● "प्रश्न - जीव अनन्त बार त्यागी हुआ व भगवान के समवशरण में भी गया, तब क्या उसने शुद्धात्मा की बात नहीं सुनी होगी?

उत्तर - देखिये यहाँ प्रसन्नचित्त से सुनने को कहा गया है। क्या सुनें? चैतन्य स्वरूप आत्मा की बात सुनें। किसप्रकार से सुनें? तो कहते हैं कि उल्लास के साथ सुनें, राग के उल्लास से नहीं किन्तु चैतन्य के उल्लास से सुनें। पाप-पुण्य या बाह्य क्रियायें चैतन्य का स्वरूप नहीं हैं, चैतन्य स्वरूप उन सबसे भिन्न है।''

3. दृष्टान्त शैली

कानजी स्वामी ने वस्तुस्वभाव को सरलता एवं आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने हेतु अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। यथा -

● “जैसे कड़वे चिरायते की थैली पर ‘शक्कर’ नाम लिख देने से कोई चिरायता मीठा नहीं हो जाता। वैसे ही अभी तो राग से धर्म माने, स्वच्छन्दता का पोषण करें और जैन नाम धराकर अपने को समकित्ती मानें, किन्तु इससे कोई अन्तर में सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता।”¹

● “जैसे समुद्र में गमन करती हुई नाव में बैठा हुआ एक विद्वान नाविक से कह रहा था कि - मैं जगत की अनेक कलाओं को जानता हूँ। इतने में जोरों से हवा चलती है, तूफान आ जाता है। जिससे नाव डूबने लगती है, तब नाविक विद्वान से कहता है कि नाव डूबने वाली है। यदि तैरना नहीं आता तो तुम डूब जाओगे और तुम्हारी सारी विद्यायें जीवन-रक्षा के लिए व्यर्थ होंगी। इसीतरह बाह्य की कितनी ही अलौकिक कलायें जानता हो लेकिन वे सभी धर्म में भवसमुद्र से तिरने के लिए किसी भी काम की नहीं होंगी।”

● “जैसे बन्दरों की टोली में बड़े बन्दर को पगड़ी बांधी जाती है तो वह बन्दर का पटेल (मुखिया) कहलाता है। यदि पगड़ी नहीं बांधी जाये तो वह मण्डप को तोड़ डालता है। वैसे ही अज्ञानी पैसे का अभिमान करता है.....।”²

● “जैसे लेण्डी पीपल रंग में काली और कद में छोटी है पर उसमें चौसठ पुटी अर्थात् सोलह आने तिखास अन्दर में शक्ति रूप से भरी है। उसे घोटने से उसमें से चौसठ पुटी तिखास बाहर प्रगट होती है वैसे ही भगवान आत्मा अन्दर में चौसठ पुटी पूर्णज्ञान और आनन्द के स्वभाव से

1. अष्टपाहुड़ प्रवचन भाग-1, पृ.53

2. दिव्यध्वनिसार भाग-1, पृ. 14

भरा हुआ है। स्वभाव के सन्मुख होकर परिणमन करने एवं तत्काल पर्याय में व्यक्तरूप से प्रगट होती है।'¹¹

● "जैसे हिरण की नाभि में कस्तूरी है, उसकी उसे कीमत नहीं है, उसीप्रकार भगवान आत्मा आनन्द का कन्द है। पर अपने अनन्त सामर्थ्य की अज्ञानी को कीमत नहीं है।

● "जिसप्रकार रोगी को देवा खाना रुचता नहीं तो समझना चाहिए कि उसका मरण निकट है। उसीप्रकार तुम्हें देव-गुरु-धर्म के लिए उल्लास नहीं होता तो समझना चाहिए कि तुम्हारा भविष्य बुरा है।

4. सूत्रात्मक शैली

सूत्रात्मक शैली में तथ्यपरक एवं भावगाम्भीर्य से युक्त शब्दों का प्रयोग किया जाता है। पारिभाषिक शब्दावली, निरर्थक शब्दों का अभाव, संक्षिप्तता आदि इस शैली की विशेषता है। कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में तथ्यों की प्रस्तुति के लिये इस शैली का उपयोग कई जगह पर किया है। जैसे -

● "“वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को बताने वाले वीतराग की वाणी स्याद्वाद है। तथा जिसके अन्तर में मिथ्यात्वादि राग की गाँठ नहीं है और बाहर में वस्त्रादि छूट गये हैं ऐसी निर्ग्रन्थ मुद्राधारी भावलिंगी सन्त ही गुरु हैं।”¹²

● "“यथार्थ निर्णय के बिना प्रयत्न का बल अन्तरोन्मुख नहीं होता।”¹³

● "“आधार का नाश होते ही आधेय का नाश हो जाता है।”¹⁴

● "“निमित्त सामग्री को बलपूर्वक खींच कर नहीं लातें।”¹⁵

1. प्रवचन नवनीत, पृ. 78

2. प्रवचन रत्नाकर भाग-1, पृ. 03

3. आत्मप्रसिद्धि, पृ. 479

4. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 350

5. प्रवचन रत्नाकर पीयूष, पृ. 342

- “सम्यग्दर्शन के बिना देवलोक के देव भी दुखी हैं।”¹¹
- “आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु है।”¹²
- “जैसी मति वैसी गति।”¹³
- “अनुभव साधक है और मोक्ष साध्य।”¹⁴
- “विनय साधक है और विद्यालाभ साध्य है।”¹⁵

5. व्याख्यान शैली

संस्कृत शिक्षण पद्धतियों के सन्दर्भ में इसे टीका पद्धति के नाम से अभिहित किया है। इस शैली में सरल एवं सुबोध शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। सामासिक पदावली का पूर्णतः अभाव इसमें अभीष्ट होता है। वक्ता या लेखक अपने मंतव्य या तथ्य को स्पष्ट करने एवं प्रामाणिकता प्रदान करने के लिये यथा स्थान तत्सम्बन्धी विद्वानों तथा आचार्यों और अन्य शास्त्रों के उद्धरण प्रस्तुत करता है।

कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में इस शैली का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। जिसके द्वारा जनसामान्य की पहुँच से परे शास्त्रीय तथ्यों एवं जैनदर्शन के विविध सिद्धान्तों का विश्लेषण एवं व्याख्यान सरल, सहज बोधगम्य भाषा में हुआ जो सुखद सिद्ध हुआ। इसके लिये समयसार गाथा दो की टीका पर हुए प्रवचन के अन्तर्गत जीव पदार्थ कैसा है। इसके स्पष्टीकरण के लिये किया गया व्याख्यांश दृष्टव्य है -

“सदा ही परिणमन स्वरूप स्वभाव में रहनेवाला होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकता रूप अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसी सत्ता से सहित है। यहाँ अनुभूति का अर्थ अनुभव नहीं है। किन्तु अनुभूति का

1. श्रावकधर्म प्रकाश, पृ. 30

2. प्रवचन रत्नाकर भाग-4, पृ. 349

3. अनुभव प्रकाश, पृ. 55

4. अनुभव प्रकाश, पृ. 195

5. अनुभव प्रकाश, पृ. 197

अर्थ रहना है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपने में रहना यह अनुभूति का अर्थ है। यहाँ अनुभूति का अर्थ समयज्ञान नहीं है। जड़ भी एक समय में टिककर परिणमन करता है इससे वह सत् है सत्ता सहित है किन्तु एक समय में परिणमन करे और जाने ऐसी विशेषता जड़ में नहीं है। यहाँ तो जीव की सत्ता का वर्णन है। तत्त्वार्थ सूत्र में “उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्” सूत्र है। आत्मा भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत् ऐसी सत्ता से सहित है।”

6. दार्शनिक शैली

दार्शनिक तत्त्वों का विश्लेषण जिस शैली द्वारा किया जाता है वह दार्शनिक शैली है। इस शैली के वक्ता अथवा लेखक की वैचारिक गाम्भीर्य की छटा विलसित होती है। कानजी स्वामी अपने प्रवचनों में जैनदर्शन के दार्शनिक तत्त्वों का संतुलित एवं गंभीर चिन्तन जगह-जगह किया है। दार्शनिक विवेचन तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं कर्म मीमांसा के आधार से किया जाता है। जिसकी छटा उसकी शैली में भी दृष्टि गोचर होती है। कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में निम्न उद्धरणों के माध्यम से इस शैली को देखा जा सकता है -

● तत्त्वमीमांसा

“नवतत्त्व की श्रद्धा तभी सच्ची हुई जबकि परद्रव्य से भिन्न और रागादि आश्रयों से भिन्न अपने शुद्धात्मा की रुचि करके निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट किया और तभी भूतार्थ से नव तत्त्वों को जाना, धर्म का प्रारम्भ ऐसे होता है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो शुद्ध परिणति है, वह संवर, निर्जरा है और व्यवहार सम्यग्दर्शनादि में शुभराग है वह आस्रव है। अन्तर अनुभव सहित ज्ञायक आत्मा की प्रतीतिरूप जो शुद्ध परिणति हुई वह तो सिद्धदशा में भी रहती है। ऐसे सम्यग्दर्शन के साथ में नवतत्त्व की विपरीतता नहीं रह सकती। वह पुण्य आस्रव को संवर निर्जरा या मोक्ष

का कारण नहीं मानता, वह अजीव तत्त्व के भाव को जीव का नहीं मानता। सभी तत्त्वों को जैसे हैं, वैसा ही जानता है।'¹

“त्रैकालिक सत् चैतन्य प्रभु तेरा ध्रुवतत्त्व उस पर तू न कभी दृष्टि नहीं की। वर्तमान रागादि की अथवा अल्प ज्ञानादि की जो पर्याय है, उस क्षणिक दशा पर ही तेरी दृष्टि है। पर को मानना वह तो महान भ्रमणा है ही, परन्तु जानने-देखने की वर्तमान दशा जो तेरी अपनी उत्पन्न की हुई है, तेरी है, तुझमें है, तेरे अपने द्रव्य का वर्तमान अंश पर्याय है, उस पर दृष्टि-पर्यायदृष्टि वह भी मिथ्यात्व है। वह पर्याय अनादि की है। पर्याय के ऊपर की दृष्टि छोड़कर त्रैकालिक द्रव्य-स्वभाव पर तेरी दृष्टि कभी आयी ही नहीं है। मिथ्यात्व एवं राग के दुःख से छूटने का, विकल्प तोड़ने का अन्य कोई उपाय नहीं है, भीतर त्रैकालिक ध्रुव द्रव्य-स्वभाव की शुद्ध ज्ञायक परमभाव की दृष्टि करना एक ही उपाय ही है।”

ज्ञान मीमांसा

“मैं आत्मा हूँ, मेरे में ज्ञान है, जहाँ-जहाँ ज्ञान है वहाँ-वहाँ आत्मा है। जैसे कि सिद्ध भगवान। जहाँ-जहाँ आत्मा नहीं है वहाँ-वहाँ ज्ञान भी नहीं। जैसे कि अचेतन शरीर। जहाँ-जहाँ ज्ञान नहीं वहाँ-वहाँ आत्मा भी नहीं। जहाँ-जहाँ आत्मा है वहाँ-वहाँ ज्ञान भी है।”²

“भगवान आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। पर्याय जब क्रमबद्ध का निर्णय करने चलती है, तब स्वयं के स्वभावसन्मुख होकर जो परिणाम उपजे वे परिणाम ही जीव हैं। जीव के परिणाम जीव ही हैं, अजीव के परिणाम अजीव ही हैं।”

कर्ममीमांसा

“जीव के समस्त दुःखों का मूलकारण कर्मबन्धन है अर्थात् जिनभावों से कर्मबन्धन होता है – ऐसे अनेक प्रकार के औपाधिकभावों से परिभ्रमण

1. वीतराग-विज्ञान भाग-3, पृ. 50

2. अध्यात्म सन्देश, पृ. 85

हो रहा है, अतः वे भाव दुःख के मूल हैं। अज्ञानी मानता है कि जड़कर्म दुःख के कारण हैं, किन्तु यह बात मिथ्या है, जिन भावों से कर्म बँधते हैं, वे भाव दुःख के मूल हैं। उनका अभाव होकर मोक्षदशा प्रगट होना ही परम हित है।''

''अज्ञानी जीव कर्म तथा निमित्त को देखते हैं और कर्म बाधक हैं, इसलिए केवलज्ञान नहीं होता - ऐसा कहते हैं, वे स्वभाव को नहीं देखते। स्वभाव को देखनेवाले, उपादान को देखनेवाले निर्णय करते हैं कि केवलज्ञान स्वयं के पुरुषार्थ से प्रगट होता है और वह विपरीत मान्यता के काल में प्रगट नहीं होता, लेकिन जिस समय प्रगट होना है, उसी समय प्रगट होता है - ऐसे केवलज्ञान की पर्याय का निर्णय करनेवाले की दृष्टि स्वयं के अखण्ड स्वभाव पर है।''

7. उपदेशात्मक शैली

जब कोई दार्शनिक एवं आध्यात्मिक उदार चरित्र विचारक, चिन्तक अद्भुत तत्त्व को आत्मसात् कर पारमार्थिक आनन्द की अनुभूति कर लेता है तब जिन्हें वह तत्त्व अनुपलब्ध है और ऐहिक सुखाभास में ही सच्चे सुख की कल्पना जिन्होंने कर रखी है उन पतितजनों पर करुणा करके उस परम सत्य की प्राप्ति का मार्ग बताते हैं, और तदर्थ प्रेरित भी करते हैं। यह कार्य जिस शैली में किया जाता है उसे उपदेशात्मक शैली कहा जाता है।

कानजी स्वामी ने भी अपने प्रवचन साहित्य में कई स्थानों पर अनेकों बार करुणावश उस आत्ममत्त्व की प्राप्ति हेतु प्रेरित किया है, जिसके अभाव में जन सामान्य दुख ज्वाला में जल रहा है। उनकी यह प्रेरित करने की शैली निःसन्देह उपदेशात्मक रही है। जिसका स्पष्ट उदाहरण निम्न गद्यांशों में है -

● ''भाई! तेरा स्वरूप तो त्रिकाल ज्ञाता दृष्टा है। इस स्वरूप के भान

बिना पुण्यभाव के विकल्पों से धर्म होता है। ऐसा तू मानता है, परन्तु यह मिथ्यादर्शन है। ज्ञानी को जब तक पूर्ण शुद्धता नहीं होती तब तक शुभ भाव आयेगा, व्यवहार आयेगा। परन्तु यह हेय है सो ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। इससे कहते हैं कि व्यर्थ की मान्यता छोड़। 'राग मैं हूँ' ऐसी राग के साथ एकतापने की वृथा मान्यता छोड़। और यह 'चैतन्यस्वरूप आत्मा मैं हूँ' ऐसे अपने स्वरूप का अनुभव कर।¹¹

● "भाई! सिद्धान्त का विरोध करने से तो अपने भगवान आत्मा का ही विरोध होगा। पर का विरोध तो कौन कर सकता।"¹²

7.3. कारक और विभक्तियाँ

हिन्दी व्याकरण की दृष्टि से मीमांसा करने वाले ग्रन्थों में कारक और विभक्ति के सम्बन्ध में बहुत भ्रम है। कारक और विभक्ति दो अलग-अलग चीजें हैं। कारकों का सम्बन्ध क्रिया से है। वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न पदों का क्रिया से जो सम्बन्ध है, उसे कारक कहते हैं। इन प्रयुक्त पदों का आपसी सम्बन्ध भी क्रिया के माध्यम से होता है। उनका क्रिया से निरपेक्ष स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार वाक्य रचना की प्रक्रिया में कारक एक पद के दूसरे पद से सम्बन्ध तत्त्व का बोधक है अर्थात् वह यह बताता है कि वाक्य में एक पद का दूसरे पद से क्या सम्बन्ध है। भाषा में इस सम्बन्ध को बताने वाली व्यवस्था विभक्ति कहलाती है अर्थात् जिन प्रत्ययों या शब्दों से इस सम्बन्ध की पहिचान होती है उसे विभक्ति कहते हैं। इस प्रकार विभक्ति भाषा सम्बन्धी व्यवस्था है। पाणिनी ने सात विभक्तियाँ और छह कारक माने हैं। इनमें एक-एक कारक के लिये एक-एक विभक्ति सुनिश्चित कर दी गई हैं। परन्तु हिन्दी साहित्य में आठ कारक -

1. प्रवचन रत्नाकर भाग-1, पृ. 370

2. प्रवचन रत्नाकर भाग-5, पृ. 254

कर्त्ता	प्रथमा	ने
कर्म	द्वितीया	को
करण	तृतीया	से
सम्प्रदान	चतुर्थी	के लिये
अपादान	पंचमी	से
सम्बन्ध	षष्ठी	का, के, की
अधिकरण	सप्तमी	में, पे, पर
सम्बोधन		हे! ओ! अरे!

हिन्दी साहित्य में उपर्युक्तानुसार कारक चिह्नों और विभक्तियों के प्रयोग मिलते हैं।

7.3.1. कर्त्ताकारक

कर्त्ता कारक में विभक्ति का प्रायः लोप मिलता है। जैसे –

- मैं एक ज्ञायक स्वभाव चिदानन्द घन प्रभु आत्मा हूँ।¹
- मैं पर्याय से भिन्न हूँ।²
- आत्मा तो एक ज्ञान स्वभाव ही है।³
- सारा जगत विषय-कषाय की मार से अनन्त दुःखी है।⁴
- मैं ज्ञान हूँ, मैं सहज आनन्द हूँ।⁵

7.3.2. कर्मकारक

कर्म कारक में 'को' चिह्न का प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं कर्म कारक में भी विभक्ति का लोप देखा जाता है।

1. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 221

2. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 118

3. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 54

4. प्रवचन रत्नाकर भाग-8, पृ. 263

5. आत्मप्रसिद्धि, पृ. 117

- ज्ञान स्व को और राग को भी जानता हुआ उत्पन्न होता है।¹
- ज्ञान लक्षण को अन्तरोन्मुख करने से आत्मा लक्ष्य में आता है।²
- ध्रुव को पर्याय जानती है।³
- ज्ञान राग को जानता है।⁴
- इस आत्मा को जैसा जाना है वैसा ही है।⁵

7.3.3. करण कारक

करण कारक में 'से' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है -

- आत्मा परमार्थ से भावकर्म एवं द्रव्यकर्म का नाश नहीं करता।⁶
- आत्म निश्चय से तो अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होकर अपने को ही जानने वाला है।⁷
- आत्मा सदैव अपनी जीवत्व शक्ति से ही जी रहा है।⁸
- शुभ आचरण से जीव को धर्म होता है।⁹
- स्वभाव से तो आत्मा रागादिक का अकारक ही है।¹⁰

7.3.4. सम्प्रदानकारक

सम्प्रदान कारक में 'के लिये' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।

1. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृ. 51
2. आत्मप्रसिद्धि, पृ. 35
3. प्रवचन रत्नाकर भाग-1, पृ. 11
4. प्रवचन रत्नाकर भाग-1, पृ. 141
5. प्रवचन रत्नाकर भाग-1, पृ. 297
6. प्रवचन रत्नाकर भाग-3, पृ. 19
7. भेदविज्ञानसार, पृ. 39
8. आत्मसिद्धि प्रवचन, पृ. 39
9. प्रवचन रत्नाकर भाग-2, पृ. 358
10. प्रवचन रत्नाकर भाग-8, पृ. 269

● बहुत को समझने के लिये जो समय जाता है, वह भी ज्ञान की क्रिया है सत् का मार्ग है।¹

● जैसे कुत्ता घर के दरवाजे की जाली में रोटी के टुकड़े के लिये सिर मारता है।²

● हे भाई! तुझे अपना हित करना है या नहीं? जिसे अपना हित करना है, उसके लिये यह इष्ट उपदेश है।³

● आत्मा का ध्यान करने के लिये पहिले आत्मा का यथार्थ ज्ञान करना चाहिये।⁴

● अशुभ भाव से बचने के लिये शुभभाव होता है।⁵

7.3.5. अपादानकारक

अपादान कारक में 'से' (अलग होने के अर्थ में) प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। साथ ही 'बिना' के योग में अपादान कारक को दर्शाया गया है।

● सामान्य में से विशेष प्रकट होता है।⁶

● मोक्षमार्गरूप ध्यान पर्याय से आत्मा कथंचित् भिन्न है।⁷

● राग से भिन्न होकर जिसने स्वाश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट की वह साधक है।⁸

● राग से भिन्न पड़ने की बात उसे आज तक रुचि नहीं है।⁹

1. वीतराग-विज्ञान (जून 4), पृ. 1

2. योगसार प्रवचन, पृ. 80

3. वीतराग-विज्ञान, पृ. 18

4. नयप्रज्ञापन, पृ. 23

5. वस्तुविज्ञानसार, पृ. 117

6. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृ. 249

7. प्रवचन रत्नाकर भाग-3, पृ. 239

8. प्रवचन रत्नाकर भाग-3, पृ. 242

9. प्रवचन रत्नाकर भाग-5, पृ. 325

● राग से भिन्न होकर शुद्ध चैतन्य आत्मा में अन्तर्दृष्टि करने को शुद्धनय कहते हैं।¹

7.3.6. सम्बन्ध कारक

सम्बन्ध कारक का ज्ञान कराने के लिये ‘‘का, के, की’’ प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है।

- जब तक शुभभाव का आदर था तब तक मिथ्यात्व था।²
- मोक्षमार्ग के प्रारम्भ से मोक्ष की पूर्णता तक सर्वत्र सम्यक् पुरुषार्थ और ज्ञान का ही कार्य है।³
- अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य से ही पूर्णता की प्रतीति होती है।⁴
- अशुद्धता भी आत्मा की पर्याय का सत्त्व है।⁵
- क्रमबद्ध का निर्णय करने की दृष्टि ज्ञायक पर होती है।⁶

7.3.7. अधिकरण कारक

अधिकरण कारक में ‘में, पर, पे’ प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है।

- राग में एकाग्र होना कर्म चेतना है।⁷
- जगत में नाना प्रकार के जीव हैं।⁸
- ज्ञानी की दृष्टि तो शुद्ध चैतन्य पर ठहरी है।⁹
- पर्याय में मलिनता का अंश है।¹⁰

-
1. प्रवचन रत्नाकर भाग-5, पृ. 336
 2. प्रवचन रत्नाकर भाग-6, पृ. 4
 3. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृ. 261
 4. आत्मप्रसिद्धि प्रवचन, पृ. 135
 5. प्रवचन रत्नाकर भाग-1, पृ. 105
 6. प्रवचन रत्नाकर भाग-3, पृ. 359
 7. प्रवचन रत्नाकर भाग-10, पृ. 122
 8. प्रवचन रत्नाकर भाग-9, पृ. 108
 9. प्रवचन रत्नाकर भाग-6, पृ. 112
 10. प्रवचन रत्नाकर भाग-5, पृ. 279

- संसार में आत्मा के दो प्रकार के भेष हैं।¹

7.3.8. सम्बोधन कारक

सम्बोधनकारक में 'हे!', ओ, अरे' प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है।

- अरे भाई! यह शरीर तो अभी जीव के रहते हुये भी जड़ है।²
- हे भाई ! जिनेश्वरदेव का कहा हुआ मुक्तिका मार्ग बहुत सूक्ष्म है।³
- अरे भाई ! प्रत्येक आत्मा अपने में ईश्वर है।⁴
- अरे जीव! तेरा आत्मा अनन्त शक्ति स्वरूप से परिपूर्ण है।⁵
- अरे जीव! तुझे धर्म करता है और धर्मी होना हो तो पहले तू ऐसे सम्यग्दर्शन की आराधना कर।⁶

इस प्रकार कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य की भाषा सरल, सामासिक एवं दुरूह पदों से रहित, प्रवाहपूर्ण एवं सहज बोधगम्य है। दृष्टान्तों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा में विशेष आकर्षण लक्षित होता है। वाक्य-विन्यास में विभिन्न प्रकार के शब्दों का यथोचित प्रयोग कर चतुर भाषाधिकारी का परिचय दिया है। भाषा में कहीं पर भी बनावटीपन एवं पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं है। जिससे सहृदय पाठक निश्चिन्त होकर पढ़ता चला जाता है। कानजी स्वामी विषय एवं प्रसंग के अनुकूल भाषा को मोड़ देने में कुशल कलाकार हैं।

कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में तत्त्वों का निरूपण भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं, उदाहरणों से किया है, जिससे उनकी शैली में भी भिन्नतायें आ गई हैं। व्याख्यान शैली का प्रयोग हर जगह हुआ है, लेकिन जहाँ

1. प्रवचन रत्नाकर भाग-5, पृ. 157

2. प्रवचन रत्नाकर भाग-6, पृ. 254

3. प्रवचन रत्नाकर भाग-5, पृ. 215

4. प्रवचन रत्नाकर भाग-3, पृ. 173

5. आत्मसिद्धि प्रवचन, पृ. 121

6. श्रावकधर्म प्रकाश, पृ. 57

दृष्टान्त द्वारा तत्त्व-विवेचन किया है, वहाँ दृष्टान्त शैली प्रयुक्त है। सूत्रात्मक शैली, आध्यात्मिक शैली, दार्शनिक शैली आदि का प्रयोग भी यथास्थान होता रहा है। अतः स्पष्टरूप से कह सकते हैं कि कानजी स्वामी मात्र आत्मतत्त्ववेत्ता ही नहीं थे अपितु उस अनुभूत तत्त्व को जन-जन का विषय बनाने के लिये भाषा एवं शैली में चतुरवेत्ता एवं कुशल प्रयोक्ता भी थे।

7.4. निष्कर्ष

भाषा के विकास में प्रवचन साहित्य की भूमिका को उपर्युक्त भाषात्मक तत्त्वों के संयोजन से भली-भाँति जाना जा सकता है। कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में प्रयुक्त तत्समादि शब्दों, उनके साहित्य की साहित्यिकता एवं अन्य भाषा के प्रभाव को समझा जा सकता है। एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि गुजराती मूल के व्यक्ति द्वारा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रतिपादन अपने आप में अपूर्व विशेषता है। विषय की सरलता के लिये दृष्टान्त, उदाहरणादि का प्रयोग प्रवचन साहित्य की जन सामान्य बोधन की विशेषता को इंगित करता है। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग विषय की स्पष्टता में चार चाँद लगाने का काम करते हैं। जिन्हें कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य में यथाप्रसंग देखा जा सकता है।

विषय का प्रतिपादन यदि विषय-गृहीता के अनुरूप हो तो फिर उस प्रतिपाद्य साहित्य की महत्ता और अधिक बढ़ जाती है। उपर्युक्त अध्याय में कानजी स्वामी का प्रवचन साहित्य उसी महत्ता को प्रदर्शित करता है। उपदेश के समय उपदेशात्मक शैली, गूढ़ तत्त्वों के समय व्याख्यान शैली, आत्म-वर्णन के समय अध्यात्म-शैली एवं विषयाधारित शंकाओं के परिहार हेतु प्रश्नोत्तर-शैली का प्रयोग उनके प्रवचन साहित्य की अभूतपूर्वता की ओर संकेत करती हैं।

इसतरह उपर्युक्त अध्याय में भाषागत सम्पूर्ण सौन्दर्य एवं वैशिष्ट्य के साथ-साथ उसकी जनसामान्य की उपयोगिता के बारे में भी प्रकाश डाला गया है।



कानजी स्वामी की हिन्दी जैन प्रवचन साहित्य को देन

8.1. कानजी स्वामी की हिन्दी जैन प्रवचन साहित्य को देन

भारतीय परम्परा में धर्म और दर्शन एक-दूसरे से अन्तर्सम्बद्ध हैं। उनकी यह अन्तःसम्बद्धता मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य और नैतिक आचरण से सम्बन्ध रखती है। समय के प्रवाह में लौकिक मूल्यों और आध्यात्मिक मूल्यों में उतार-चढ़ाव के साथ अन्तर्विरोध की स्थितियाँ भी निर्मित होती रहती हैं। कभी सूक्ष्म आध्यात्मिक साधना और विचार धाराएँ बाह्य आडम्बर और मिथ्या धर्माभिव्यक्तियों से आच्छन्न हो जाती हैं और कभी आध्यात्मिकता की अतिवादी शक्तियाँ मनुष्य के जीवन को अकर्मण्य बनाकर उसकी समूची ऐहिक प्रगति के पथ को अवरुद्ध कर देती हैं। जैनधर्म भी इस प्रक्रिया का अपवाद नहीं है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल¹ ने हिन्दी जैन साहित्य को साम्प्रदायिक साहित्य कहकर इसे हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल की उपलब्धि मानने से नकार दिया था, क्योंकि उस समय आचार्य शुक्ल को उपलब्ध साहित्यिक कृतियों एवं पाण्डुलिपियों के दर्शन भी नहीं हो सके थे अतः उन्हें मूल्यांकन करने का अवसर नहीं मिल सका था।

जहाँ आचार्य शुक्ल ने जैन साहित्य को धार्मिक व साम्प्रदायिक कहकर नकार दिया था, वहीं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस साहित्य के महत्व को स्वीकार करते हुए कहा है -

“जैन साहित्य को धार्मिक एवं सम्प्रदायगत साहित्य मानकर नकारा

जाता है तो रामायण और महाभारत भी धार्मिक साहित्य हैं, तब तो समस्त भक्तिकालीन साहित्य को धार्मिक काव्य होने के कारण हिन्दी साहित्य से निकाल देना पड़ेगा। अस्तु हिन्दी जैन प्रवचन साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का ही प्रतीक है। अतः जैन साहित्य का हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान है।¹¹ कालान्तर में इस जैन साहित्य का अनुशीलन हुआ और यह हिन्दी साहित्य का महत्वपूर्ण अंग बन गया। इसी क्रम में हिन्दी प्रवचन साहित्य में कानजी स्वामी के योगदान के मूल्यांकन हेतु यह शोधकार्य प्रस्तुत है।

भारतीय संस्कृति में प्रवर्तमान जैन कवियों, लेखकों, विचारकों ने हमेशा विश्व-कल्याण का ही अनुचिन्तन किया है। उन्होंने जो विचार, तत्त्वज्ञान, उपदेश दिया, विश्व की समस्याओं के जो समाधान प्रस्तुत किये वे भारतीय संस्कृति की अमूल्य धाती हैं। इसी शृंखला में कानजी स्वामी का उदय मंगलमय वरदान है, जिनके प्रताप से थोथे क्रियाकाण्ड से त्रस्त चेतना को परम विश्रान्ति स्वरूप स्थिरता की विधि का पथ-प्रशस्त हुआ। वर्तमान भौतिक चकाचौंध की तरफ उलझते जगत को वहाँ से हटाकर तत्त्वज्ञान की प्रेरणा देने वालों में कानजी स्वामी का अग्रणी स्थान है।

जहाँ एक ओर “हिन्दु सन्त कबीरदास ने रूढ़ियों की धज्जियाँ उड़ाई थीं, वहीं कानजी स्वामी ने आध्यात्मिक आलोक पर आवृत्त काषायिक परतों का प्रक्षालन किया था। वे जिनपथ के आधुनिक कबीर थे।”¹²

भगवान महावीर के निर्वाणोपरान्त आध्यात्मिक जैन साहित्य गगन लगभग दो हजार वर्षों से अनेक दिगम्बर सन्तों एवं ज्ञानी गृहस्थ विद्वानों द्वारा आलोकित होता रहा है। एक शतक पूर्व लोगों की दृष्टि में आध्यात्मिक जैन ग्रन्थ मात्र दर्शन के विषय थे, तथा साहित्य के मर्म को समझ पाना

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 53

2. कुन्दकुन्द के प्रचार-प्रसार में कानजी स्वामी का योगदान, पृ. 131

सामान्यजन के परे था ऐसे समय में कानजी स्वामी ने ऐसे आध्यात्मिक ग्रन्थों को अनेकों बार पढ़ा और उनका विवेचन भी किया। और तो और उनके मत-परिवर्तन में निमित्त बनने वाले समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ पर 19 बार सभा में प्रवचन करके जैन सिद्धान्तों के गूढ़ रहस्य को राष्ट्रभाषा हिन्दी में उजागर किया। कानजी स्वामी का युग **अध्यात्म का स्वर्ण युग**¹ कहा जाता है। उनके समय में पात्र जीवों ने सम्यग्दर्शन प्रगट कर अपना जीवन सफल बनाया है। कानजी स्वामी भारत के अद्वितीय आध्यात्मिक प्रवक्ता रहे हैं, जिन्होंने प्रवचनों के माध्यम से आत्मशान्ति का मार्ग बताया है। उन्होंने धर्मक्षेत्र में अपने अद्वितीय योगदान के द्वारा आत्मा के स्वरूप को विकसित करते हुए, मानवमात्र के प्रति कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होंने लोकहित की भावना से हिन्दी जैन प्रवचन साहित्य को जो योगदान दिया है, उसमें उनकी अद्वितीय प्रतिभा की सुस्पष्ट झलक मिलती है।

कानजी स्वामी धार्मिक, परोपकारी, समाज-सुधारक, मृदुभाषी एवं सदाचारी थे। यही कारण है कि उन्होंने धर्मप्राण जीवनयापन करने का उपदेश दिया। वे अध्यात्म की पावन सरिता की शुभ्रधारा बहाने वाले, दिगम्बर जैनधर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करने वाले, आत्मा की महिमा, रुचि, दृष्टि करने की प्रेरणा देने वाले, निज ध्रुव शुद्ध चिदानन्द आत्मा का प्रत्यक्ष प्रमाण सहित अपनी वर्तमान ज्ञान पर्याय में स्व-संवेदन करने की तीव्र चेतना जगाने वाले युगपुरुष के रूप में विख्यात महामनीषी महात्मा के रूप में विख्यात हुए।

अभी तक कानजी स्वामी के प्रवचन सम्बन्धी जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं वे उनके वचनों का अंशमात्र ही है। समग्र जैन साहित्य का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि वे बहुमुखी प्रतिभा, प्रकाण्ड पाण्डित्य और

1. सम्यग्दर्शन भाग-1, पृ. 2

विलक्षण बुद्धि वैभव के धनी थे। वे केवल एक विषय के ही अधिकारी नहीं अपितु प्रत्येक विषय में निष्णात थे। विषय का अधिकार पूर्वक व्याख्यान करने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। अतः उनके विषय में यह कहना सम्भव नहीं था कि वे किस विषय के अधिकार सम्पन्न विद्वान हैं अथवा उनका अधिकृत विषय कौन-सा है?

उन्होंने जिस किसी भी विषय पर प्रवचन किए, उसी में उन्होंने अपने वैदुष्य की गहरी छाप छोड़ी। दीर्घकालीन अध्ययन, मनन और चिन्तन के परिणाम स्वरूप व्याख्यान निबन्धन के रूप में जो नवनीत उनकी वाणी से समुद्भूत हुआ वह स्वार्थ प्रेरित या स्वार्थ साधन हेतु नहीं, अपितु लोक कल्याण की भावना ही उसमें निहित थी। परमार्थ उनके चिन्तन का केन्द्रबिन्दु था और वे उसी भावना से प्रेरित थे। इसका एक कारण यह भी था कि वे सांसारिक आसक्ति से सर्वथा शून्य थे। आत्म-कल्याण का हेतुभूत परमार्थ साधन ही उनके प्रवचन-सृजन का मूल उद्देश्य था। अपने ज्ञान और अनुभव से निःसृत विचार कर्णों को ग्रथित कर उन्होंने समग्र मानव समाज, देश और संस्कृति का जो उपकार किया है, वह अकथनीय है।

कानजी स्वामी को मूलतः अध्यात्म विद्या अभीष्ट रही है, तथापि धर्म, दर्शन, न्याय आदि विषय भी उनकी ज्ञान परिधि में व्याप्त रहे हैं। यही कारण है कि उन्होंने उक्त सभी विषयों पर आधारित उत्कृष्टतम ग्रन्थों पर साधिकार व्याख्यानों का प्रणयन कर अपने विशद ज्ञान और अद्भुत बुद्धि कौशल्य का परिचय दिया है।

उपलब्ध अनेक प्रमाणों से यह स्पष्ट हो चुका है कि कानजी स्वामी ने प्रचुर मात्रा में स्वतन्त्ररूप से जैनधर्म का प्रचार-प्रसार कर न केवल जैन साहित्य की वृद्धि में अपना योगदान दिया है अपितु जैन वाङ्मय को भी एक लौकिक विषय के रूप में साहित्यिक विद्या से अलंकृत किया है। अतः यह कहना न्याय संगत है कि जैन-साहित्य के प्रति कानजी स्वामी द्वारा की गई सेवा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी अन्य साहित्य के

प्रति। उनके द्वारा जैनदर्शन सम्बन्धी कतिपय ऐसे तथ्यों को उद्धाटित किया गया है, जो अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में नहीं मिलते हैं।

अतः जैनदर्शन साहित्य के स्पष्ट ज्ञान हेतु कानजी स्वामी द्वारा किए गये व्याख्यानों का अध्ययन और ज्ञान अपेक्षित है। उनका ज्ञान रवि प्रखर रश्मियों से सम्पूर्ण साहित्य जगत को आलोकित कर रहा है। उनके द्वारा जिन रहस्यों को उद्धाटित किया गया है वह आज भी मानव समाज के लिये उपकार स्वरूप है। उन्होंने जिन रहस्यों को बताया है उनमें पूर्णतः जैन सिद्धान्तों का अनुकरण तथा धार्मिक नियमों का परिपालन किया गया है। यही उनकी मौलिक विशेषता है।

भाषा की दृष्टि से भी कानजी स्वामी का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन भाषा को ध्यान में रखकर ही उन्होंने ग्रन्थों में छुपे रहस्यों को उद्धाटित किया है। भाषा की दृष्टि से उन्हें हिन्दी, गुजराती, संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का ज्ञान था। जिससे वे जैनदर्शन के तत्त्वों को विशेष रूप से स्पष्ट कर सके।

एक प्रश्न हमारे मन में काफी समय से बना हुआ है कि हिन्दी जगत में सूर, तुलसी, मीरा आदि प्राचीन और वर्तमान के अनेक कवि और लेखक हुए हैं, और हैं; जिन्होंने किसी न किसी रूप में धर्म या सम्प्रदाय सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं – उनका अध्ययन सार्वभौमिक रूप से सभी करते हैं परन्तु हिन्दी के विकास में कानजी स्वामी के योगदान का अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है – ऐसा क्यों ?

भाषा का विकास उसके लिखित एवं मौखिक पक्षों से होता है। लिखित पक्ष जहाँ भाषा की साहित्यिकता को विकसित करता है वहीं मौखिक पक्ष भाषा की जनसामान्यता को विकसित करता है। लिखित पक्ष से भाषा की सुरक्षा तथा संरक्षण तो हो सकता है परन्तु प्रचार-प्रसार का श्रेय भाषा के मौखिक पक्ष को ही जाता है। मौखिक पक्ष में नियमों

की प्रतिबद्धता का अभाव होने से या स्वतन्त्रता होने से उसका विकास अधिक होता है।

मौखिक पक्ष में व्याख्यान अर्थात् प्रवचनकला एक सशक्त माध्यम है; क्योंकि इसमें विस्तार की प्रवृत्ति होने से भाषा का लघु अंश दीर्घत्व को प्राप्त होता है। जिससे भाषा का विकास होता है। कानजी स्वामी भी प्रवचनकला में पारंगत थे। उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में इस कला को अपनी दैनिक चर्चा के रूप में प्रयोग किया है। उनका प्रवचन साहित्य अगाध है जो विविध भाषाओं में व्याख्यायित है।

हिन्दी भाषा में भी उनका प्रवचन साहित्य पर्याप्त है। जो मूल हिन्दी अथवा अनुवादित हिन्दी प्रवचन के रूप में उपलब्ध है। उनका यह प्रवचन साहित्य हिन्दी के विकास एवं संरक्षण में महत्त्वपूर्ण है। कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का हिन्दी साहित्य के निम्न क्षेत्रों में योगदान रहा है -

1. गद्य साहित्य के विकास में
2. भावपक्ष को विस्तारित करने में
3. विवेचन शैली के व्यवस्थित प्रयोग में
4. प्रश्नोत्तर शैली में
5. भाषा के प्रचार-प्रसार में

1. गद्य साहित्य के विकास में

हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में कानजी स्वामी का योगदान सर्वाधिक मान्य है। पं. सदासुखदास, पं. टोडरमल, पं. बनारसीदास आदि गद्यकार जैन परम्परा में हुए हैं; जिन्होंने लोक कल्याणकारी साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय जीवन मूल्यों की रक्षा कर इनकी अभिवृद्धि एवं इनके प्रचार-प्रसार में महनीय योगदान देकर अपने बृहद् प्रवचन साहित्य से भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि की है। इतना सब

कुछ होने के बाद भी इन महान साहित्यकारों के साहित्यिक योगदान का मूल्यांकन हिन्दी साहित्य के इतिहास में नहीं के बराबर है। इनके अवदान का मूल्यांकन तथा नामोल्लेख आजतक राष्ट्रीय स्तर पर सार्वजनिक नहीं हुआ है।

इन साहित्यकारों के प्रकाशित साहित्य का अध्ययन करने से पता लगता है कि इनके योगदान का जितना भी मूल्यांकन किया जाये उतना कम होगा। इनके साहित्य को ही साम्प्रदायिक दृष्टि से क्यों देखा जाता रहा है? इन सब प्रश्नों के सन्दर्भ में एक प्रधान कारण तो हिन्दी के कुछ विद्वानों की इस ओर अनेक दृष्टियों से उपेक्षा तो रही ही है। साथ ही इन्हें अपना मानने वाले जैन विद्वानों ने भी इन्हें सीमित दायरे से बाहर निकालकर राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लाकर सार्वजनीन अध्ययन और उपयोग का विषय बनाने हेतु प्रयत्न नहीं किया है। मेरे मन की इसी टीस ने मुझे कानजी स्वामी जैसे बहुमुखी व्यक्तित्व और कृतित्व के धनी विद्वान् के अवदान को राष्ट्रभाषा हिन्दी और उनकी सम्पूर्ण गद्यविद्या के विकास के सन्दर्भ में अध्ययन करने हेतु प्रेरित किया है। उनके द्वारा किये गये प्रवचनों, तत्त्वचर्चाओं और गोष्ठियों सम्बन्धी संपादित एवं हिन्दी भाषा में अनुवादित साहित्य ने हिन्दी गद्य साहित्य को विकसित किया है।

2. भावपक्ष को विस्तारित करने में

साहित्य सृजन का सम्पूर्ण श्रेय भावपक्ष को जाता है। कानजी स्वामी भावपक्ष के धनी थे क्योंकि उन्होंने श्लोक या गाथा का भाव अनेकों पृष्ठों में विस्तारित किया है। इनका बल भावपक्ष पर न होता तो शायद आज इनके साहित्य का इतना विस्तृत स्वरूप नहीं दिखाई देता और रसिक लोग उसके मर्म को समझने में अनभिज्ञ रहते।

उनके प्रवचनों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उनमें विषय प्रतिपादन के साथ-साथ अध्यात्म-रस से उत्पन्न आह्लाद एवं अज्ञान से दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा का झरना भी झरता था। उक्त

दोनों परस्पर भावों की अभिव्यक्ति वे प्रायः “अहा..हा.....!” शब्द द्वारा किया करते थे। जिसे उनके स्वरों के उतार-चढ़ाव के द्वारा श्रोताजन सरलता से समझ लेते थे। भावपक्ष को विस्तारित करने का यही प्रयत्न आज न केवल जैनजगत के लिये अपितु हिन्दी गद्य साहित्य के लिये भी वरदान स्वरूप प्रतीत हुआ है। विकास का एक नियम होता है कि वह क्रमिक होता है उसी अनुरूप हिन्दी गद्य के विकास में यह प्रवचन साहित्य भी मील का पत्थर प्रतीत होता है।

कानजी स्वामी ने आध्यात्मिक ग्रन्थों की भाँति ही ‘भक्तामर’ एवं ‘विषापहार’ जैसे भक्तिपरक स्तोत्रों पर भी उत्साहपूर्वक सरस प्रवचन किये, जो उनकी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति भावना को प्रगट करते हैं।

‘भक्तामर स्तोत्र’ में प्रत्येक काव्य बसन्ततिलका छन्द में है और उन चार पंक्तियों के छन्द का भावपक्ष को खोलने के लिये कई पृष्ठों के प्रवचनों के माध्यम से उस काव्य के भाव को स्पष्ट किया गया है। इसतरह हिन्दी गद्य साहित्य की एक अलग ही विधा दृष्टिगोचर होती है अतः हिन्दी साहित्य जगत ऐसे महामानव का ऋणी है।

यद्यपि वे प्रवचनों में जिनेन्द्र भगवान के गुणगान करते-करते भक्ति-भावना से अभिभूत होकर गद्गद् हो जाते थे, तथापि वचनाभिव्यक्ति में भक्त-हृदय भावुक कवियों की भाँति अतिशयोक्ति नहीं करते थे बल्कि भक्ति प्रधान कथनों में आये हुए कर्तृत्वादि के आरोपित कथनों का यथास्थान उचित स्पष्टीकरण करने में सदा सावधान रहते थे। स्वामी समन्तभद्र आचार्य की भाँति कानजी स्वामी के बुद्धि पक्ष पर उनका हृदयपक्ष हावी नहीं हो सका था। उनकी प्रस्तुत सम्पूर्ण प्रवचन-शृंखला में इस बात के दर्शन होते हैं।

उदाहरणार्थ “आपके भक्तों को अग्नि-भय नहीं होता - इसके स्पष्टीकरण में गुरुदेवश्री का निम्न कथन दृष्टव्य है¹ - ‘प्रलयकाल के

तूफान सदृश वायुवेग से प्रकुपित प्रचण्ड अग्नि को पुण्योदय से धर्मात्मा को स्पर्श करती ही नहीं है, किन्तु जो धर्मात्मा ज्ञानानन्द में मग्न हैं, उन्हें कषायाग्नि भी स्पर्श नहीं करती।''

पुनश्च ''कदाचित् धर्मी जीवों को भी असाता के उदय से बाह्य में ऐसा वातावरण (संयोग) बन भी जावे, तथापि अन्तर में अकषाय स्वभावी आत्मा की शरण लेकर वे निर्भय रहते हैं।''

3. विवेचन शैली के व्यवस्थित प्रयोग में

कानजी स्वामी बड़े दूरदर्शी विद्वान थे। उनकी शैली मुख्यतः विवेचनात्मक थी। कानजी स्वामी ने प्राकृत, संस्कृत आदि मूल भाषाओं में निबद्ध ग्रन्थों का विवेचन कर हिन्दी गद्य साहित्य के मान को बढ़ाया है। कानजी स्वामी विषय के विशेष विवेचन से नहीं चूके हैं। पारिभाषिक शब्दों को सरल और स्पष्ट रूप में समझाकर आगे बढ़ना कानजी स्वामी की प्रमुख विशेषता थी। इसीलिये उनके प्रवचन प्रामाणिक, सरल और सहज बुद्धिगम्य होने के कारण बहुत ही लोकप्रिय हुए।

उनकी यह विशेषता रही है कि विवेचन प्रामाणिक हो। विवेचन करते समय यदि ऐसी ही बात किसी अन्य आचार्य ने अन्य ग्रन्थ में की है अथवा उन्हीं आचार्य की अन्य किसी कृति में ऐसा वर्णन आया है तो उसे सप्रमाण प्रस्तुत किया है। प्रवचन लेखनकर्ता ने इस बात को फुटनोट में स्पष्ट कर दिया है, जिससे विवेचन शैली का एक व्यवस्थित रूप देखने में आता है।

4. प्रश्नोत्तर शैली के संवर्धन में

कानजी स्वामी अपनी सीमा और अपने श्रोताओं की बौद्धिक-क्षमता और विषय की निःसीमता से परिचित थे इसलिये उन्होंने ऐसी शैली को चुना जो एकदम शास्त्रीय न हो, वह ऐसी शैली हो जिसमें एक सामान्यजन दूसरे सामान्यजन से बात करता है, उसी आत्मीय शैली को उन्होंने स्वीकार किया।

कानजी स्वामी की प्रतिपादन शैली दृष्टान्तमयी प्रश्नोत्तर शैली है। परम्परागत विषय होते हुए भी उन्होंने अपनी शैली का स्वयं निर्माण किया है और अपने अनुभवपूर्ण चिन्तन को ऐसी शैली में रखने का संकल्प किया है जो सरल, दृष्टान्तमयी और लोकसुगम हो।

हिन्दी गद्य साहित्य की परम्परा के विकास में कानजी स्वामी का साहित्य उत्कृष्ट स्मारक के उदाहरणों के रूप में जगत के सामने आया है। कानजी स्वामी के प्रवचन के समय यदि कोई शंका या प्रश्न करता था तो तुरन्त उसका यथायोग्य समाधान होता था। इसतरह प्रश्नोत्तरों के माध्यम से विषय का विशद स्पष्टीकरण होता था। साहित्य-जगत में प्रश्नोत्तर शैली उत्कृष्ट मानी जाती है। प्रश्नोत्तर के माध्यम से विषय के स्पष्टीकरण के साथ-साथ श्रोता एवं वक्ता दोनों ही जागरूक होते हैं। उसीप्रकार लेखन में भी प्रश्नोत्तर शैली में लेखक एवं वाचक सजग रहते हैं। वाचक जब पढ़ता है तो प्रश्नवाचक चिह्न (?) अलग से गद्यांश प्रारम्भ होने से गहराई से और गहनता से उसका अध्ययन करता है।

उदाहरणार्थ - भक्तामर स्तोत्र¹ के 17वें काव्य के विवेचन में प्रश्नोत्तर शैली की झलक इसप्रकार है -

प्रश्न - वीतरागता की भक्ति करने का अधिकारी कौन है ?

उत्तर - श्री मानतुंगाचार्य ने भक्तामर स्त्रोत में आदिनाथ भगवान की स्तुति की है, जो इस भरतक्षेत्र में वर्तमान युग में हुए चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर थे। जिनका ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय से परिपूर्ण स्वभाव प्रगट हो चुका था। जिनकी दृष्टि एवं स्थिरता से रागरहित दशा प्रगट हुई उस वीतराग भगवान का भक्त कौन हो सकता है ? वास्तव में जो आत्मस्वभाव का भक्त है वही ऐसे भगवान का सच्चा भक्त हो सकता है।

1. भक्तामर प्रवचन, पृ. 17

प्रश्न - आत्मा में केवलज्ञान की शक्ति मान लेने पर भी हमारी पर्याय में से अज्ञान दूर क्यों नहीं होता ?

उत्तर - प्रकाश होने पर भी अन्धकार रहे ऐसा कभी नहीं होता । त्रैकालिक सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा के सन्मुख होकर 'जिस समय जो होता है, वह होगा' इसका निर्णय जिसने नहीं किया उसमें केवलज्ञान की अश्रद्धारूप अज्ञानदशा कारण है। इस जगत में केवलज्ञान है इसका निर्णय जिसे करना हो उसे उनके स्वरूप का निश्चय होना चाहिये।

'परमार्थ वचनिका प्रवचन' में भी इसी प्रश्नोत्तर-शैली का पुट मिलता है -

“प्रश्न - प्रथम पर्याय कौन-सी और अन्तिम कौन-सी ? क्या यह भगवान भी नहीं जानते ?

उत्तर - वस्तु जैसी है, वैसी भगवान जानते हैं या उससे विपरीत ? जो अनादि है उसकी तो आदि है ही नहीं, तो फिर भगवान उसकी आदि कैसे जानेंगे ? यदि भगवान उसके आदि-अन्त को जान लें तो अनादि - अनन्तपना ही कहाँ रहा ? भाई ! यह स्वभाव का अचिन्त्य विषय है। अहो ! अनन्तता जिस ज्ञान में समा गई, उस ज्ञान की दिव्य अनन्तता लक्ष में ज्ञान स्थिर हो जाता है, निर्विकल्प हो जाता है।

प्रश्न - यदि अनन्त का अन्त भगवान भी नहीं जानते, तब तो उनका ज्ञान-सामर्थ्य मर्यादित हो गया ? केवलज्ञान में अपरिमित सामर्थ्य सिद्ध नहीं हुई ?

उत्तर - नहीं, भगवान यदि अनन्त को अनन्त रूप से न जानते हों तो उनका ज्ञान-सामर्थ्य मर्यादित कहा जाय, परन्तु भगवान तो केवल-ज्ञान की असीम सामर्थ्य से अनन्त को अनन्तरूप से प्रत्यक्ष जानते हैं। भगवान उसका अन्त नहीं जान सके, इसलिये उसे अनन्त कह दिया

— ऐसा नहीं है। भगवान ने अनन्त को अनन्तरूप से जाना है, इसलिये उसे अनन्त कहा है। अनन्त को भी सर्वज्ञ जानते हैं, यदि न जानें तो सर्वज्ञ कैसे कहें?’

इसप्रकार प्रश्नोत्तर शैली के संवर्धन में कानजी स्वामी का हिन्दी साहित्य को अपूर्व योगदान प्राप्त हुआ है। कभी-कभी उन्होंने स्वयं शंका उपस्थित की है और उसका समाधान किया है। इस प्रकार प्रश्नोत्तर के माध्यम से उसका समाधान किया है। प्रश्नोत्तर के माध्यम से विषय का स्पष्टीकरण तो हुआ ही साथ ही हिन्दी गद्य साहित्य का विकास भी हुआ है।

5. भाषा के प्रचार-प्रसार में

शास्त्रों के तलस्पर्शी ज्ञान और जैन संस्कृति के प्रति विशेष अभिरुचि ने कानजी स्वामी की कीर्ति को चारों ओर फैला दिया। स्थानीय एवं बाहर के लोग आपसे पढ़ने, तत्त्वचर्चा सम्बन्धी शंका का समाधान करने आते रहते थे। पत्राचार के द्वारा भी दूर-दूर तक के श्रावकों, श्रीमन्तों के प्रश्नों का उचित समाधान करते थे। सदा प्रवचन अध्ययन, मनन, चिन्तन में लीन रहकर सीधी-साधी सरल भाषा और भावों में अपने श्रोताओं को तीर्थंकरों की अमृतमयी वाणी को प्रवचन के माध्यम से सुनाते तो श्रद्धालु श्रोता झूम उठते थे और कठिन विषयों को भी साधारण श्रोता भी सरलता से हृदयंगम कर लेते थे। उनके प्रवचन इतने प्रभावक होते थे कि सुनने के लिये दूर-दूर से श्रोता आते थे। कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का भाषा के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

कानजी स्वामी के मूल प्रवचन तो हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अधिकांशतः गुजराती भाषा में हैं इसलिये गुजराती भाषा के प्रवचनों का अनुवाद हिन्दी भाषा में हुआ और कालान्तर में उन्हीं प्रवचनों को कन्नड़, तमिल, मराठी आदि भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया तथा अंग्रेजी भाषा में भी इनके प्रवचनों का अनुवाद हुआ। कानजी स्वामी के प्रवचन

साहित्य से न केवल हिन्दी भाषा का बल्कि अनेक भाषाओं का प्रचार हुआ।

कानजी स्वामी ने भाषा के प्रचार-प्रसार में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने का निश्चय करते हुए कहा था कि -“निःस्वार्थ भाव से साहित्य सेवा के माध्यम से जिनवाणी की सेवा तथा समताभाव पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए आत्म-कल्याण द्वारा अपना मानव जीवनसफल बनाऊँ।” कानजी स्वामी का जीवनसरल सादगी युक्त था। वे सदा स्वाध्यायशील एवं मनन चिन्तन में संलग्न रहते थे। जैनदर्शन के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में अनवरत संलग्न रहते थे। कानजी स्वामी मानव मात्र के लिये प्रेरणास्वरूप है। हिन्दी जैन प्रवचन साहित्य को कानजी स्वामी द्वारा अद्भुत योगदान प्राप्त हुआ है।

लम्बे समय के निरन्तर अध्ययन अनुसन्धान के बाद मैंने अनुभव किया है कि इस क्षेत्र में प्रत्येक साहित्यकार के व्यक्तित्व और कृतित्व पर स्वतन्त्र अध्ययन बहुत आवश्यक है ताकि उनके विभिन्न पहलुओं का समग्रता से गहन अध्ययन किया जा सके। यद्यपि इस दिशा में पं. टोडरमल, पं. बनारसीदास आदि प्रमुख लेखकों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर स्वतन्त्र शोधप्रबन्ध लिखे गये हैं किन्तु कानजी स्वामी जैसे महामनीषी का व्यक्तित्व और कृतित्व समग्र अध्ययन की दृष्टि से अब तक अछूता रहा है। उनका साहित्य प्रकाशित एवं अप्रकाशित दोनों रूप में सामने होने पर भी हिन्दी जगत उनसे अपरिचित है। उनके साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उनका साहित्य मौलिकता के अधिक नजदीक है।

8.2. निष्कर्ष

कानजी स्वामी ने तात्त्विक और आध्यात्मिक ग्रन्थों की अपनी सरलता गद्य में भाषा के माध्यम से अपनी बौद्धिक एवं रचनात्मक क्षमता का पूरा सदुपयोग तो किया ही है साथ ही उन्होंने साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं

धार्मिक आदि कार्यों में अपने बुद्धिकौशलपूर्ण तर्क शैली द्वारा किये गये स्पष्टीकरण से मानव हृदय में होने वाले भौतिक और आध्यात्मिक द्वन्द्व के मध्य आत्मिक वृत्तियों को सामने लाने का श्रमसाध्य कार्य भी किया है। कानजी स्वामी ने सिद्धान्तों एवं जीवन व्यवहार से जुड़े हर पहलु को रोचक गद्य शैली में समझाते हुए अध्यात्म और व्यवहार का समन्वय कर उसे एक सन्तुलित बिन्दु पर रखने का अद्भुत कौशल कर दिखाया है। उनकी विद्वत्ता के कारण पूरे देश में उनका व्यापक सम्पर्क भी था। यह बात उनके आत्मियों द्वारा भेजे गये शताधिक पत्रों से ज्ञात होती है।

कानजी स्वामी ने अध्यात्म और भक्ति-भाव को अच्छे तरीके से लोगों के लिये परोसा है। वे जहाँ अध्यात्म-अमृत में आकण्ठ निमग्न थे, वहीं उनका हृदय भक्ति-रस से भी लबालब (भरचक) भरा हुआ था। उन्होंने आध्यात्मिक ग्रन्थों के माध्यम से जिसतरह जैनतत्त्वमीमांसा एवं सिद्धान्तों से जगज्जनों को परिचित कराया, उसी तरह देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्तिभावना को प्रगट करने की प्रेरणा भी दी। उनके व्याख्यानों में जिनेन्द्र भगवान की भक्ति का रस दृष्टव्य है परन्तु विशेष यह है कि उनकी अभिव्यक्ति में अतिशयोक्ति नहीं है।

अध्यात्म का जटिल से जटिल विषय लोगों को कैसे समझाया जा सकता है - इस कला को वे अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने सारगर्भित श्लोकों को विवेचन शैली के माध्यम से लोगों को हृदयंगम कराया है। प्रश्नोत्तर शैली के माध्यम से विषय सम्बन्धी सम्पूर्ण शंकाओं का समाधान उनके प्रवचनों में प्राप्त होता है। लोगों को लोगों की भाषा में समझाने का उनका प्रयास भाषा के प्रचार-प्रसार का कारण बना। उनके वचन आज हिन्दी, तमिल, कन्नड़, गुजराती, अंग्रेजी आदि विविध भाषा-साहित्य के रूप में निबद्ध है। इसप्रकार कानजी स्वामी का हिन्दी जैन प्रवचन साहित्य में अविस्मरणीय योगदान रहा है।



अभिमत

♦ आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी जिन-अध्यात्म के प्रभावी प्रवक्ता और आत्मानुभवी युगपुरुष थे। अपने हाथों से एक पृष्ठ न लिखकर भी जिन्होंने लगभग हजारों पृष्ठों का सत्साहित्य अध्यात्म-प्रेमी समाज को उपलब्ध कराया - यह उनकी अपने आप में एक अभूतपूर्व उपलब्धि है। स्वामीजी के अतिरिक्त ऐसा कौन सत्पुरुष है कि जिसके अभी आठ हजार घंटों के कैसेट व सी.डी. उपलब्ध हों।

मैं स्वयं उन भाग्यशालियों में हूँ कि जिसने लगभग 25 वर्ष तक उनका सत्समागम और मंगल आशीर्वाद प्राप्त किया है, उनके साहित्य के दस हजार पृष्ठों का सम्पादन किया है और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने के महान कार्य में अपना जीवन समर्पित कर दिया है।

श्रीमती ममता जैन ने उनके प्रवचन साहित्य का अनुशीलन कर स्वयं को गौरवान्वित तो किया ही है, उनके साथ स्वयं को भी अमर कर लिया है। मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि उनका यह शोध-प्रबन्ध प्रकाशित होने जा रहा है। मैं उनके इस सत्प्रयास की सराहना करता हूँ और उन्हें मंगल आशीर्वाद देता हूँ कि वे स्वामीजी के साहित्य का अध्ययन आत्महित की दृष्टि से गहराई से कर देह छूटने से पहले देह से भिन्न भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित कर लें, आत्मानुभव कर लें।

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

निदेशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

♦ श्रीमती डॉ. ममता जैन के शोध-सारांश का आद्योपान्त अवलोकन किया। पढ़कर हृदय गदगद हो गया। शोध-प्रबंध अत्यन्त उपयोगी और सार्थक बन पड़ा है, इसमें जो श्रम शोधकर्त्री ने किया, उसमें उसकी मौलिक चिन्तन और श्रम की झलक स्पष्टगोचर होती है। शोध की सम्पूर्ण विषयवस्तु के विस्तृत अध्ययन के बिना यह सब अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं थी।

गुरुदेवश्री का अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व शोध-सारांश में साकार हो गया है। गुरुदेवश्री के प्रवचन साहित्य का मूल्यांकन अत्यन्त सरल भाषा, सुबोध शैली, पूर्ण व्यवस्थित एवं सूत्ररूप में सबकुछ अभिव्यक्ति की क्षमता आयुष्मति ममता में अद्भुत है।

लगता नहीं था कि सीधी-सादी, सरल स्वभावी, हंसमुख, गृहकार्य में संलग्न रहकर पारिवारिक उत्तरदायित्व का कुशलता से निर्वाह करती हुई यह लड़की इतना प्रभावी मौलिक चिन्तनपरक, शोध-सारांश भी लिख लेगी। वह भी बहुत सीमित समग्र में।

निःसंदेह यह सब ममता की समता, श्रमशीलता और विशिष्ट प्रतिभा का ही सुपरिणाम है।

प्रवचन साहित्य की प्राचीनता की जो आगमसम्मत एवं युक्तिसंगत सिद्धि की है, वह भी अद्भुत है, अन्यथा गुरुदेव में ऐसा क्या था जिस पर शोधकार्य सम्भव था; क्योंकि लिखित साहित्य तो कुछ भी नहीं है, एक ऊँ के अतिरिक्त उन्होंने एक वाक्य भी तो नहीं लिखा, फिर भी उनके प्रवचन इतने मार्मिक सटीक और व्यवस्थित होते थे, जो बाद में शास्त्र बन गये। जिसतरह तीर्थंकर की दिव्यध्वनि भी तो मौखिक ही होती है, लिखितरूप में तो वह जिनवाणी बाद में ही हुई न ! उसीतरह गुरुदेव ने तो मौखिक प्रवचन ही दिए, बाद में वह श्रोताओं द्वारा शास्त्ररूप में लिखी गई है।

प्रवचनों के मूल आधार-ग्रन्थों का संक्षिप्त-परिचय, उनके प्रवचन साहित्य का अध्यात्म चरित्र, भक्ति, वैराग्य आदि के रूप में वर्गीकरण, दार्शनिक रूप में जैनदर्शन की दृष्टि से तत्त्व-मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा, कर्म आदि की सटीक मीमांसा तथा सभी प्रवचनों में आत्मा ही सदैव सर्वोपरि रहा करता था।

इसप्रकार सभी दृष्टियों से शोध-सारांश सर्वांगीण है।

मेरी शोधकर्त्री के प्रति शुभकामना और मंगल आशीर्वाद है, वह दिन-दूनी, रात-चौगुनी उन्नति करते हुए आत्म-साधना में अग्रसर हो।

- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर

प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय

♦ श्रीमती डॉ. ममता जैन द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ 'कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन' का समग्ररूप से अवलोकन किया। शोध-प्रबंध एक ओर जहाँ शोध-प्रक्रिया व प्रविधि के अनुसार श्रेष्ठ है, वहीं विषय-वस्तु एवं प्रस्तुतीकरण के दृष्टिकोण से भी अति-उत्तम है। हिन्दी प्रवचन साहित्य में कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का महत्त्वपूर्ण योगदान है, परन्तु विश्वविद्यालयीन स्तर पर उनके प्रवचन साहित्य पर शोधात्मक कार्य नहीं किया गया था, जिसकी पूर्ति डॉ. ममता जैन ने कठोर परिश्रम, गहन अध्ययन, सन्तुलित चिन्तन एवं सरल-सरस शैली में शोध-प्रबंध प्रस्तुत करके की है।

यह ग्रन्थ भविष्य में कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य पर शोध कार्य करने वालों को मार्गदर्शक होगा एवं स्वाध्यायी जीवों को उनके प्रवचन साहित्य का गहन स्वाध्याय करने की प्रेरणा मिलेगी।

डॉ. ममता जैन अपने कार्य के प्रति लगनशील, परिश्रमी, नाम के अनुरूप ममत्व वितरित करनेवाली लेखिका है। इसके व्यवहार में शालीनता, जीवन में सदाचार एवं श्रद्धा में कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं।

मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ तथा यह निरन्तर साहित्य साधना में संलग्न रहकर आत्मसाधना कर सकें - ऐसी भावना है।

- डॉ. पृथ्वीराज मालीवाल

भू.पू. हिन्दी विभागाध्यक्ष, मो.सु.वि.वि., उदयपुर

♦ कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन कर शोध-प्रबंध आदरणीया ममताजी जैन द्वारा किया गया सार्थक प्रयास है। अनादि अज्ञान अन्धकार को ध्वस्त करने में पूज्य गुरुदेवश्री ने जिनराज तुल्य कार्य किया है। जीव का वैभव दिखाकर मोक्षमार्ग खोल दिया है।

उनके प्रवचन साहित्य के मोती चुन-चुन कर श्रीमती ममताजी ने सुन्दरतमहार तैयार कर दिया है। जो भी अध्ययन करेगा उसका निश्चित ही कल्याण होगा।

- पं. विमलचन्द्र झांझरी, उज्जैन

निदेशक, कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान

♦ डॉ. श्रीमती ममता जैन ने कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन विषय पर शोध-प्रबंध के लिखने के लिए विशेष कष्ट उठाये हैं, अतः वे विद्वत्-वर्ग से धन्यवाद के पात्र हैं। मात्र उपाधि के लिए लिखा हुआ यह प्रबंध नहीं है। इसमें शोधकर्त्री श्रीमती ममताजी ने अनेक नये-नये प्रमेय प्रबुद्ध समाज के सामने प्रस्तुत किए हैं।

श्री कानजी स्वामी मेरे श्रद्धेय हैं, इसलिए प्रबंध अच्छा है, ऐसा नहीं है। इसमें विषय विवेचन अत्यावश्यक सब आया है, अतः मुझे प्रिय लगा है। प्रबंध पढ़ना चालू करते ही मेरे मन में सहजभाव से विचार आया कि यह प्रबंध समाज के कर-कमलों में प्रकाशित होकर पुस्तकरूप में आना अत्यावश्यक है। मैं पं. श्री राजकुमारजी शास्त्री (डॉ. ममताजी के पति) से प्रबंध के संबंध में संतोष व्यक्त कर रहा था, इतने में शास्त्रीजी ने कहा - 'अल्पावधि में प्रबन्ध प्रकाशित होगा।'

मेरी जानकारी के अनुसार श्री कानजी स्वामी को विषय बनाकर प्रकाशित होने वाला यह प्रथम प्रबंध है। प्रबंध बहुभाग पढ़ने के बाद मैं यह लिख रहा हूँ। प्रबन्ध में आठ अध्यायों में प्रथम ही श्री कानजी स्वामी का परिचय दिया है, यह बहुत अच्छा काम किया है।

प्रवचन साहित्य में कुछ भी विषय (प्रकाशित प्रवचन साहित्य) नहीं छूटा है, यह भी बड़ी विशेषता समझना चाहिए।

प्रबन्धरूप से लिखा हुआ साहित्य जन-सामान्य को उतना प्रिय नहीं होता, यह सामान्य कथन है, तथापि यह प्रबन्ध इसके लिए अपवाद सिद्ध होगा, ऐसा मेरा अनुमान है, क्योंकि प्रबंध का विषयभूत व्यक्ति श्री कानजी स्वामी तत्त्वपिपासु जन-सामान्य में अत्यन्त लोकप्रिय है।

आपके पूर्वोपार्जित पुण्योदय से एवं वर्तमानकालीन पुण्यमय परिणामों से आपको 'ध्रुवधाम' पत्रिका एवं अपने उद्देश्य में सफल होने वाले आचार्य अकलंकदेव जैन न्याय महाविद्यालय का सान्निध्य मिला है। इन दोनों कारणों से भी आप तत्त्वप्रचार का असाधारण कार्य कर पाओगे, ऐसा भवितव्य मुझे सहजरूप से स्पष्ट भासित हो रहा है। अस्तु, भविष्यकाल स्वयमेव भवितव्य को स्पष्ट करेगा ही।

मेरी व्यक्तिगत भावना है कि इस प्रबंध के संस्करण अनेक बार छपते रहें और पाठक तत्त्वज्ञान का लाभ उठाकर अपने जीवन को सफल बनायें। डॉ. ममताजी द्वारा भविष्य में सत्साहित्य का कार्य जरूर होवे व होगा, इस भावना के साथ विराम लेता हूँ।

- **ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.**

प्रकाशनमंत्री, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

♦ पूज्य गुरुदेवश्री के ऊपर यह शोधकार्य अत्यन्त प्रशंसनीय एवं सराहनीय है। ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो रहा है, इसके लिए इस ग्रन्थ का एवं लेखिका डॉ. ममता जैन का हार्दिक अभिनन्दन एवं बहुत-बहुत बधाई तथा आत्मीयार्जन इस ग्रन्थ को पढ़कर गुरुदेवश्री एवं स्वयं अपने प्रति बहुमान ला सकेंगे।

- **ब्र. हेमन्तभाई गांधी, सोनगढ़**

♦ शोधप्रबन्ध को आद्यन्त अवलोकन किया, काफी अच्छा लगा। सर्वप्रथम तो उक्त महत्त्वपूर्ण कार्य की सफलता के लिए आप प्रशंसा एवं बधाई की पात्र हैं। समग्रकृत श्रमसाध्य एवं व्यवस्थित आठ अध्यायों में अनेक विशेषताओं से मण्डित है। यथा -

1. विषय प्रस्तुतीकरण क्रमबद्ध, सहज, सरल एवं प्रांजल साहित्यिक भाषा में है।

2. विभिन्न अध्यायों तथा प्रकरणों के लेखन तथा विश्लेषण में भाषा प्रवाह अखण्डित रहा है।

3. विषयवस्तु निरूपण की दृष्टि से रुचिकर एवं आकर्षक है। साथ ही पूज्य गुरुदेव 'कानजी स्वामी के व्यक्तित्व एवं अवदान' को सिद्ध करने में सक्षम तथा सफल है।

- **डॉ. उत्तमचंद जैन**

सेवानिवृत्त प्राचार्य, नेहरूवार्ड, सिवनी (म.प्र.)

♦ लेखिका डॉ. ममता जैन द्वारा लिखित ग्रन्थ 'श्री कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन' ग्रन्थ मैंने आद्योपान्त पढ़ा, इसमें पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति अपार-अपार बहुमान एवं पूर्ण समर्पणता ही देखने को मिली। मुझे गुरुदेवश्री के नजदीक रहने का साक्षात् अवसर मिला है, इसमें जो भी जानकारी गुरुदेवश्री के संबंध में दी गई है, वह पूर्णतः प्रामाणिक है। - **पं. गोविन्दराम जैन, सोनगढ़**

♦ आध्यात्मिक पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी आध्यात्मिक जैनजगत के दैदीप्यमान नक्षत्र बनकर उदित हुए। उनके गहन चिन्तवन और देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा मेघगर्जना जैसी वज्रवाणी हंसमुख एवं गम्भीर मुखमुद्रा एवं सरल हृदय आदि अनेक विशेषताओं ने उनके आकर्षक व्यक्तित्व का निर्माण किया।

दिगम्बर जैन समाज में सुसंप्रदायः स्वाध्याय परम्परा को पुनर्जीवित करने तथा जिनागम के गुप्त रहस्यों को खोलकर उन्होंने लाखों आत्मार्थीजनों पर अदभुत उपकार किया है। उनकी वाणी का अनुशीलन तो 'जिन खोजा तिन पाईया...' की उक्ति को साकार करता है। उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान पर जितना लिखा जाये या कहा जाये उतना कम ही है।

सौ.कां. डॉ. ममता जैन ने पूज्य गुरुदेवश्री के साहित्य का सर्वतोन्मुखी अनुशीलन करके नई पीढ़ी को गुरुदेवश्री का परिचय कराने में विशेष योगदान दिया है - एतदर्थ साधुवाद की पात्र हैं। आशा है नई पीढ़ी इस कृति का भरपूर लाभ उठायेगी।

- पं. अभयकुमार जैन, देवलाली
एम.कॉम. जैनदर्शनाचार्य

♦ मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि डॉ. ममता जैन द्वारा लिखित ग्रन्थ 'कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन' शीघ्र प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में जितना भी कहो, उतना ही कम है। अधिक क्या कहें...ग्रन्थ प्रकाशन हेतु ममता जैन को बहुत-बहुत बधाई।

- डॉ. वासन्तीबेन शाह, मुम्बई

♦ कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन इस विषय को शोध प्रबंध के लिए चयन करना कितना कठिन एवं श्रमसाध्य कार्य है, इसका अनुभव शोध-प्रबंध पढ़ने के उपरान्त हुआ। चूंकि कानजी स्वामी के प्रवचनों की विषय-वस्तु तो वस्तुस्वातंत्र्य, वस्तुस्वभाव, आत्मधर्म, जैनधर्म है। धर्म तो कहते ही उसे हैं, जो प्राणियों की संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख को प्राप्त करावे।

कानजी स्वामी के प्रवचनों की मीमांसा करना अर्थात् सुखी होने के सम्पूर्ण भाग (मोक्षमार्ग) की मीमांसा करना है। कानजी स्वामी ने अपने जीवनकाल के 45 वर्षों तक सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा बताये गये सुखी होने के यथार्थ मार्ग को तर्क से, युक्ति से, अनुभव से प्रमाण कर प्रतिपादित किया है। इसलिए उनके प्रवचन साहित्य के अनुशीलन हेतु जैन आगम एवं अध्यात्म का विशद ज्ञान एवं अध्ययन होना परम आवश्यक है।

लेखिका श्रीमती ममता जैन ने श्री कानजी स्वामी के जीवन परिचय से प्रारम्भ कर क्रमशः श्रमण संघ परम्परा और कानजी स्वामी - जैनाचार्यों द्वारा रचित मूल ग्रन्थ और उन ग्रन्थों की विषय-वस्तु अध्यात्म, चारित्र, भक्ति, वैराग्य आदि की

प्रधानता पर कानजी स्वामी के प्रवचन, जैनधर्म के मूल दार्शनिक, सिद्धान्त अर्थात् सात तत्त्व, छह द्रव्य, आत्मा-परमात्मा, प्रमाण, नय, अनेकान्त, स्याद्वाद, कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया, अहिंसा, वस्तु-स्वातंत्र्य, निमित्त-उपादान, क्रमबद्धपर्याय आदि पर कानजी स्वामी द्वारा उनके प्रवचनों में विस्तार से कथन किये गये हैं। इन प्रवचनों को समझकर किस प्रकार आत्मिक सुख प्राप्त किया जा सकता है इसकी मीमांसा, इसका अनुशीलन श्रीमती ममता जैन ने अपने शोध प्रबंध में गहराई से सावधानीपूर्वक किया है। इस ग्रन्थ को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि लेखिका की जैनधर्म की विषय-वस्तु पर कितनी गहरी और सूक्ष्म पकड़ है। श्रीमती ममता जैन सुशिक्षित, व्यवहारकुशल, अत्यन्त सरल, आदर्श एवं सहृदय गृहिणी हैं, उनकी सहृदयता का परिचय ध्रुवधाम में पढ़ने वाले छोटे-छोटे छात्रों (12 वर्ष से 18 वर्ष आयु वर्ग) जो कि भविष्य में जैनधर्म के प्रखर वक्ता एवं विद्वान बनने वाले हैं, उनको जो वात्सल्य एवं माँ की ममता देती है - वह उनसे मिलती है। हमारा सौभाग्य है कि ऐसी विदुषी महिला का सान्निध्य ध्रुवधाम परिवार को सहज ही प्राप्त है।

इस शोध-प्रबंध ग्रन्थ का अधिक से अधिक अध्ययन और प्रचार-प्रसार हो और सभी इसके अध्ययन से निराकुल सुख के मार्ग में प्रवृत्त हों - ऐसी हमारी मंगल भावना है।

- महीपाल डी. ज्ञायक, बांसवाड़ा

अध्यक्ष श्री ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बांसवाड़ा

♦ पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी, वर्तमान शताब्दी के सर्वाधिक चर्चित व्यक्तित्व हैं, उन्होंने जिनशासन के रहस्यों का उद्घाटन करते हुए, हमें मुक्तिपथ पर चलने की पावन प्रेरणा दी है। पूज्य गुरुदेवश्री के मंगल-प्रवचन आज हमारे सर्वस्व हैं, जिनका अनुशीलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

आपने पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन विषय पर शोधकार्य करके निश्चित ही प्रशंसनीय कार्य किया है, उनके इस कार्य से सुविज्ञ पाठक, पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य को पढ़ने में रुचिबन्त होंगे - ऐसी आशा है।

- पवन जैन, मंगलायतन

तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़

♦ आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी 20वीं सदी के जैन जगत के ऐसे जाज्वल्यमान प्रकाशपुंज थे, जिनकी आभा से अनादिपोषित भ्रान्तियों व मान्यताओं को समूल नष्ट करने के लिए सम्यग्ज्ञान ज्योति प्राप्त हुई तथा रागात्मक ज्वाला से तत्त्वजगत के प्राणियों को भी कानजी स्वामी की अनुभूतिपरक मंगलवाणी के माध्यम से चिरशान्तिप्रदायक धर्माभूत प्राप्त हुआ।

सुपुत्री डॉ. ममता जैन द्वारा ऐसे परमोपकारी व महामना के 'हिन्दी प्रवचन

साहित्य' पर अनुसंधानात्मक शोध-प्रबंध लिखकर स्तुतनीय कार्य किया गया है, जो जन-सामान्य के लिए हितकर व स्वाधीनता प्राप्ति में मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

- मा. चन्द्रभान जैन, घुवारा

अध्यक्ष, सिद्धायतन ट्रस्ट, द्रोणगिरि

♦ पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य के संबंध में श्रीमती ममता जैन द्वारा लिखित यह अनुशीलनात्मक शोधकार्य अवश्य ही प्रशंसनीय है, लेखक ने अध्यात्म जैसे अमूर्त विषय को अपने शोधकार्य का न केवल आधार बनाया, बल्कि उसे पूर्ण भी किया है।

आश्चर्य की बात है कि लौकिक शिक्षा के क्षेत्र में पूज्य गुरुदेव ने मात्र पाँचवीं कक्षा पास की, परन्तु पारलौकिकी अध्यात्मविद्या का प्रभाव उन पर इतना गहन था कि उन पर अनेक विश्वविद्यालयों के माध्यम से शोधकार्य सम्पन्न हो चुके हैं, हो रहे हैं और भविष्य में होते रहेंगे। यद्यपि उन्होंने अपने हाथ से अध्यात्म जैसे विषय पर कुछ लेखन कार्य नहीं किया, तथापि उनके प्रवचनों की लगभग 10000 घंटों की, लाखों की संख्या में ऑडियो/वीडी कैसेट्स आदि उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं, उनके प्रवचनों के सैंकड़ों पुस्तकाकार प्रकाशन, हिन्दी-गुजराती-मराठी-कन्नड़-तमिलन आदि भाषाओं में उपलब्ध हैं।

इसके प्रकाशन से अवश्य ही समाज में नव-चेतना जागृत होगी, आत्मा-परमात्मा, निश्चय-व्यवहारनय, निमित्त-उपादान, क्रमबद्धपर्याय, वस्तु-स्वातन्त्र्य, अनेकान्त-स्याद्वाद, हिंसा-अहिंसा की सूक्ष्मता आदि विषयों की महत्ता जनसामान्य में स्थापित होगी - इसके प्रकाशन के अवसर पर शत-शत साधुवाद।

- डॉ. राकेश जैन, नागपुर

- ♦ अपने उर में आग लगाकर, मैंने दीपक राग सुनाया,
किन्तु किसी की हृदय कभी, मेरी पीड़ा पहिचान न पाया।
जग ने हँसते प्रभात को देखा, रोती रात न देखी,
इन व्याकुल नैनों के पीछे छिपी बरसात न देखी।।

आज सारा जगत जहाँ लौकिक विषयों में प्रवीणता हासिल करने की होड़ में है, वहीं प्रसिद्धि की चाह न रखकर, स्व-पर कल्याणार्थ हेतु विदुषी श्रीमती ममता जैन ने जैनधर्म के साहित्य की तह तक जाकर 'गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित साहित्य' पर शोधकार्य किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान में अपूर्व रुचि रखने वाली विदुषी ममताजी अथक परिश्रम, दृढ़-संकल्प एवं असाधारण क्षमता के साथ अपना धार्मिक जीवन व्यतीत कर रही हैं।

आप स्वयं एक मूर्धन्य विद्वान श्री राजकुमारजी शास्त्री की धर्मपत्नी हैं तथा

आपकी प्रतिभा, कौशल, धर्मरुचि का प्रभाव आपके दोनों बच्चों पर स्पष्ट झलकता है। आप कर्मठ, उत्साही महिला हैं तथा पारिवारिक व सामाजिक दायित्वों को सहर्षता से निभा रही हैं। आपने सदैव दो पंक्तियों को आधार मानते हुए कार्य किया है -

‘हर उम्मीद में एक सहारा होता है,
क्योंकि हर मौज में एक किनारा होता है।’

पूर्ण सामर्थ्य से जिनधर्म प्रभावना में सदैव तत्पर रहने एवं अनुपम कृति के लिए मैं ममताजी को साधुवाद देता हूँ और अन्त में -

‘इस पथ का उद्देश्य नहीं, है श्रान्त भवन में टिक रहना।

किन्तु पहुँचना उस मंजिल तक, जिसके आगे राह नहीं।।’

- पं. अशोक लुहाड़िया

निदेशक, तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़

♦ आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का अभ्युदय जैनदर्शन के इतिहास में 20वीं सदी की क्रान्तिकारी घटना है; संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण भी। दि. जैनधर्म के विकास में गुरुदेवश्री का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

दीदी ममता जैन ने इस व्यक्तित्व को अपने शोध का विषय बनाकर स्वामीजी को दस्तावेजी रूप दिया है, अतः वे धन्यवाद की पात्र हैं।

यह शोध-प्रबंध उनकी स्वयं की जिज्ञासा का परिणाम है, इससे यह अत्यन्त रोचक बन पड़ा है। यद्यपि इनका विषय प्रवचन साहित्य का अनुशीलन है, तथापि इस महामना के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर प्रकाश डाला जाता तो सोने पे सुहागा होता।

प्रस्तुत ग्रन्थ अन्वेषकों, सुधी पाठकों में अवश्य ही उपयोगी सिद्ध होगा और अनेक अध्येताओं को श्रम करने के लिए मील का पत्थर होगा।

- पं. पीयूष शास्त्री, जयपुर

प्रबन्धक, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

♦ ममता जैन को बहुत-बहुत हार्दिक बधाई। आपने तो गुरुदेव के व्यक्तित्व एवं अवदान उसमें 8 खण्ड के विभिन्न विषयों पर पीएच.डी. करके शासन का महान कार्य किया है।

- ब्र. मैना बेन, सोनगढ़

♦ सौ. ममता जैन ने पूज्य गुरुदेवश्री पर पीएच.डी. प्राप्त करके महामंगलमय कार्य किया है। उनके इस पवित्र कार्य के लिए जितना आभार माना जाये उतना ही कम है। मेरे हृदय में उस पवित्र प्रतिभा के प्रति जितना भाव है, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। सौ. ममता जैन ने पूज्य गुरुदेवश्री के जीवन-वृत्त को पढ़कर

भावभासनरूप समता को बहाया है तथा बैरी मोह के उदय को सुखाने का कार्य किया है, इस विभूति का तो सार्वजनिक सम्मान होना चाहिए। धन्य है उनका जीवन, उनके मंगलमयी उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

- पं. गुलाबचन्द जैन, बीना

♦ “कानजी स्वामी प्रवचन साहित्य अनुशीलन” जीवन का मोक्षमार्ग प्रकाशक है। जहाँ अनन्तबार मुनिव्रत धारण के बाद भी लक्ष्य प्राप्त नहीं होता है, वहाँ भेदविज्ञान की कला सम्यग्दर्शन की प्रदाता है। गूढ़ व महत्त्वपूर्ण विषयों पर शोधकार्य कितना कठिन है, यह अनुभवी के समझगम्य है।

- डॉ. मानवती जैन, रायपुर

♦ एक नारी के शिक्षित होने पर एक परिवार शिक्षित होता है, एक परिवार के शिक्षित होने पर समाज, राज्य, देश एवं राष्ट्र शिक्षित होता है, क्योंकि आज देश के सर्वोच्च पदों को नारी ही सुशोभित कर रही है। प्राचीनकाल में चेलना, सीता, अंजना, चन्दनबाला जैसी नारियों ने धर्म की आन, बान और शान को बढ़ाया है... और आज भौतिक युग की चकाचौंध में भी शिक्षा के क्षेत्र में बहिन ममताजी ने आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य पर अपनी लेखनी को धन्य किया है, गुरु का सच्चा शिष्य वही है, जो गुरु के बताये मार्ग पर स्वयं चले एवं अन्य को भी मार्ग प्रशस्त करे।

पूज्य गुरुदेवश्री के जीवन में निश्चय और व्यवहार का अनूठा संगम था, उनकी वाणी में अनेकान्त-स्याद्वाद, अध्यात्म और जीवन में उत्कृष्ट सदाचाररूप व्यवहार का सुमेल था।

ऐसे वस्तुतत्त्व का उद्घोष करने वाले सत्पुरुष के प्रवचन साहित्य का प्रकाशन निश्चित ही जन-जन के कल्याण में निमित्त बने - एतदर्थ लेखिका को कोटिशः धन्यवाद।

- श्रीमती स्वर्णलता जैन, नागपुर

♦ प्रस्तुत शोध-प्रबंध का अध्ययन पूर्ण मनोयोग से किया। शोधछात्रा श्रीमती ममता जैन ने काफी परिश्रम, लगन एवं निष्ठा से श्रमसाध्य कार्य को पूरा किया है। शोध प्रक्रिया का पालन करते हुए विषय से सम्बद्ध आधारभूत सामग्री का प्रकाशन सावधानी पूर्वक किया है। जैन साहित्य में प्रवचन विषयक सामग्री का विशेष महत्त्व है। शोध छात्रा ने अपनी शोधपरक दृष्टि से श्री कानजी स्वामी के उपयोग प्रवचन साहित्य का अनुशीलन एवं मूल्यांकन किया है। शोध-प्रबंध के अध्ययन से प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने अपने प्रवचनों के माध्यम से आध्यात्मिक क्रांति का सूत्रपात किया है। प्रत्येक सिद्धान्त का प्रकाशन उदाहरण सहित किया है। जैनदर्शन से सम्बद्ध हिन्दी के प्रवचन साहित्य पर शोध कार्य पूर्णतया मौलिक एवं अपने आप में नया है।

- प्रो. रामकुमार गरवा, जयपुर